.नुवाद ❀

वेदानुवचन

लेखक

बाबा नगीनासिंह आत्मदर्शी

प्रकाशक.

श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

लखनऊ.

१९२५.

मूल्य—विशेष संस्करण सजिल्द २)

साधारण संस्करण बिना जिल्द १॥)

निवेदन।

ईश्वर का धन्यवाद है कि राम प्यारों को अब हिन्दी भाषा में इस अमूल्य रत्न 'वेदानुवचन' के देखने और पढ़ने का अवसर मिला। इस पुस्तक से जो आनन्द परम हंस रामतीर्थ जी ने उठाया था और जैसा उत्तम व उपयोगी आप इस ग्रन्थ को समझते थे, वह सब भूमिका में स्पष्ट किया गया है। पर इस की भाषा उर्दू, और वह भी कठिन उर्दू, होने से यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हो सका, इस लिये बहुत कालसे सैकड़ों प्रार्थनाएँ राम प्यारों व धर्मज्ञों से इस प्रकार की आती थीं कि इस ग्रन्थ को अधिक सरल भाषा में और विशेषतः हिंदी भाषा में किया जाय जिस से सब प्रान्तों के हिन्दु लोग इस के अध्ययन से लाभ उठा सकें। आज यह लिखते समय चित्त प्रसन्न व प्रफुल्लित हो रहा है कि लीग भगवत्-कृपा से उक्त प्रार्थनाओं के पूरा करने में समर्थवान् हुई और आज अभी आधे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पाठकों की भेंट कर सकी।

लीग की सूचनानुसार यह अनुवाद (अर्थात् ग्रन्थावली का २६ वां और ३० वां भाग) गत दीपमाला तक स्थायी ग्राहकों की भेंट हो जाना चाहिये था, पर इस वार अनुवादक महाशय की सुस्ती, लापरवाही और टाल मटोल ने ही यह सब विलम्ब किया। अनुवादक महोदय श्रीयुत् चन्द्रिका प्रसाद गुप्त थे, जो गत चार वर्ष से लीग की उर्दू पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करा करते थे, और जो मधुर तथा सरल भाषा लिखने में प्रसिद्ध भी थे, जिस से इन्हीं के सुपुर्द इस वेदानुवचन का भी अनुवाद किया गया था, और इन्हों ने अनुवाद-कार्य हाथ में लेते समय प्रतिज्ञा भी की थी कि

समग्र ग्रन्थ का अनुवाद वह दिसम्बर मास त‹
देंगे, पर समग्र अनुवाद का देना तो दूर रहा, अ।
का अनुवाद भी यह प्यारे दिसम्बर मास के अन्त तक न॰
दे सके।

इस अनुवाद-कार्य में यद्यपि अनुवादक महोदय ने विलम्ब तो ज़रूर किया, जिस का प्रभाव भी लीग के कार्य कर्त्ताओं के हृदय पर बहुत बुरा पड़ा, तथापि अनुवाद को मूल के साथ तद्रूप बनाने में अपनी ओर से उस प्यारे ने कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। जहां तक उस से हो सका अनुवाद शब्दशः किया, और भाषा भी पुस्तक के समान कठिन नहीं रक्खी। इस अनुवाद के संशोधक परम हंस स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के पट्ट शिष्य श्रीमान् नारायण स्वामी जी थे, जिन के हाथ की लिखी भूमिका इस ग्रन्थ के आरम्भ में दर्ज है, और जिन्हों ने स्थान २ पर अनुवाद का संशोधन करके इसे उत्तम और सराहनीय बना दिया है। आशा है कि यह हिन्दी अनुवाद पाठकों को बहुत लाभ देगा। और पाठक लोग इस के अध्ययन के बाद जो २ कठिनाइयां इस पुस्तक के समझने में बतायेंगे, वह दूसरी आवृत्ति में यथा शक्ति दूर कर दी जावेंगी। लीग के पास बाबा नगीना सिंह कृत उर्दू भाषा की पुस्तकें इस प्रकार की और भी हैं। यदि पाठक लोगों ने इस पुस्तक को हाथों हाथ शीघ्र बिकाने में लीग की सहायता की, तो पूर्ण आशा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पश्चात् ही दूसरे ग्रन्थ को लीग शीघ्र हाथ में ले लेगी।

मंत्री

श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ।

दूसरे संस्करण की भूमिका।

[ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य श्रीमन्नारायण स्वामी जी की लेखनी से]

लग भग दस वर्ष का समय हुआ कि जब स्वामी राम तीर्थजी महाराज को, जो उन दिनों गृहस्थ-आश्रम में श्रीमान् गोस्वामी तीर्थ राम एम्० ए० के नाम से प्रसिद्ध थे, इस ग्रंथ की प्रशंसा सुनने का अवसर हुआ। उन्होंने पुस्तक की प्रशंसा चूंकि अपने एक शुद्धचित्त तथा सच्चे मित्र और भारत धर्म महामंडल के सुप्रसिद्ध महोपदेशक (पं० दीनदयाल जी) के मुख से सुनी थी, इसलिये इस ग्रंथ के देखने की स्वामीजी महाराज को और भी अधिक जिज्ञासा हुई। जब इस तरह जिज्ञासाग्नि की ज्वाला प्रदीप्त हुई और स्वामीजी उस पुस्तक के ढूंढने और पढ़ने के लिये तत्पर हुए, तो फिर पंडितजी ने ही, कि जिन्होंने इस ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति को अपने पास दो तालों में सुरक्षित कर रक्खा था, बड़ी कठिनता से, अति अल्प समय के लिये अध्ययनार्थ उसे दे दिया।

अभी यह पुस्तक आधी भी समाप्त न होने पाई थी कि उसके अध्ययन से स्वामीजी के अंतःकरण में सच्चे आनंद का समुद्र उमँड़ने लगा, और मन में विश्व-प्रेम उमंगें मारने लगा। उनसे न रहा गया कि वह अकेले ही इस अमूल्य रत्न से आनंदित हों और दूसरों को इससे वंचित रक्खें, बरन् मारे आनंद के उनका आनंदित चित्त बड़े वेग से यों लहराने लगा कि इस अमूल्य ग्रंथ को शीघ्र मुद्रित कराकर सत्य के जिज्ञासुओं की भेंट किया जाय।

निजानन्द में निमग्न चित्त यों तरंगें उठा ही रहा था कि

झट खबर आई कि यह हस्त-लिखित प्रति फगवाड़ा में मिल सकती है। स्वामी जी केवल इस हस्त-लिखित प्रति के लिये फगवाड़ा नगर गए और वेदांत के सच्चे भक्त तथा कृपालु मित्र दीवान हरीचंद साहब बहादुर, भूत पूर्व कलेक्टर और वर्तमान मेम्बर कौंसिल रियासत कपूर्थला, से इसे प्रकाशित करने के लिये अपने साथ ले आए। उन्हीं दिनों स्वामी जी के कर कमलों से उर्दू भाषा में वेदान्त विषय पर एक मासिक पत्र 'अलिफ़' नाम का निकलता था, और उस पत्र के प्रबंध आदि की सेवा लेखक (भूत पूर्व नारायणदास वर्तमान नारायण स्वामी) के सुपर्द थी। उस बीच इस हस्त-लिपि के भी पढ़ने का अवसर मिल गया।

अभी इस आनन्द पूर्ण मासिक पत्र के दो अंक भी छपने न पाए थे कि ज्ञान की लाली राम के अंतःकरण के भीतर समा न सकी, बरन् फूट फूट कर बाहर लौ देने लगी, अर्थात् महाराज राम अब लिखने पढ़ने के बंधन से मुक्त हो गए और केवल दस गज धरती पर जम कर बैठना उनके लिये दुष्कर हो गया। इसलिये रँगे हुए चित्त से विवश हुए राम जंगलों को पधारे और नारायण को भी (मासिक पत्र) अलिफ़ का झंडा साथ लिए उनके सहगामी रहने की आज्ञा प्रदान हुई। अतः यह हस्त लिखित प्रति नारायण या राम महाराज की उपस्थिति में न छप सकी, बल्कि बाबू हरलाल साहब कायस्थ लाहौर को प्रकाशनार्थ दी गई, जिन्होंने प्रसन्नता पूर्वक इस कठिन काम को अपने ज़िम्मे ले लिया।

परन्तु दुर्भाग्य से यह पुस्तक ऐसी संकीर्ण-हृदयता और असावधानी से छापी गई कि सहस्रों अशुद्धियों के अतिरिक्त आठ से अधिक पृष्ठों का मैटर छपने से रह गया।

और कातिब तथा प्रूफ़रीडर की असावधानी से कई वाक्य के वाक्य कहीं-कहीं आधे, कहीं उलट-पलट और कहीं बिलकुल अशुद्ध छप गये, और पुस्तक का काग़ज़ और लिखाई छपाई भी ऐसी भद्दी कि किसी का मन भी उसके पढ़ने की ओर आकर्षित न हो। जब यह पुस्तक ऐसी दुर्दशा से छपी हुई स्वामी राम के पास भेंट के स्वरूप में पहुंची, तो पुस्तक खोलते ही स्वामीजी के हृदय के तल तक आघात पहुंचा।

दिल ही तो है न संग व ख़िश्त, दर्द से भर न आए क्यों ?

जब व्यास-आश्रम (बद्रीनारायण के मार्ग) में स्वामी जी को इसके दुबारा देखने और पढ़ने का संयोग हुआ, तो नारायण उस समय सेवा में उपस्थित था। लंबी आह (श्वास) भर कर स्वामी जी फ़रमाने लगे कि: "हाय! इस अमूल्य रत्न का कैसा बुरा हाल और मुँह काला कर दिया गया है।" अर्थात् इतनी उत्तम पुस्तक और ऐसी अशुद्ध और भ्रष्ट छपाई से प्रकाशित हुई है कि प्रत्येक इसके अध्ययन से घृणा करने लग जाय और इससे कुछ लाभ उठाने के स्थान पर पाठक उलटा तंग आकर इसे वेस्ट पपर बास्केट (रद्दी की टोकरी) में फेंक दे। ज्यों ज्यों स्वामी जी इस छपी प्रति को पढ़ते गए, त्यों त्यों (अशुद्ध) पृष्ठ और वाक्यों पर काली लकीरें मारते गए, और पृष्ठ के पृष्ठ बिलकुल अशुद्ध देख कर फाड़ते गए। अंततः जब अशुद्धियों पर लेखनी फेरते-फेरते थक गए या तंग आ गए, तब नारायण से यों सम्मुखीन हुए कि "देखो, इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ का गला घोंटा गया है, और प्रमाद और असावधानी से मरणोन्मुख वा मरण प्राय कर दी गई है। क्या तुम या कोई या नारायण स्वयं इस बेचारी की फ़रियाद ने सुनेगा ?" राम की यह आज्ञा सुनते ही करबद्ध प्रार्थना की गई कि अवकाश

पाकर नारायण इन सब शिकायतों को यथाशक्ति दूर कर देगा।

किंतु इस आज्ञा के पाने के पश्चात् लेखक श्रीस्वामी महाराज की सेवा के लिये उन के साथ पहाड़ों में रहा, और फिर स्वामी जी के अपने सच्चे धाम में प्रस्थान करने के भी बाद बहुत कालतक जंगलों में एकांत-सेवन करता रहा। इस लिये पुनः संस्करण की शीघ्र चेष्टा न हो सकी। और इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ का मुद्रण-अधिकार बाबू हरलाल ने अपने नाम पर रजिस्टर्ड करा रक्खा था, और बिना उन की आज्ञा के इसका छपाना अनुचित और नियम-विरुद्ध था, अतएव अनुमति के लिये पत्र-व्यवहार में भी कुछ समय लग गया। सौभाग्य से बाबू साहब ने बड़ी उदारता पूर्वक इसके पुनर्मुद्रण की आज्ञा दे दी, और यहाँ तक उत्साह बढ़ाया कि इस ग्रंथ की हस्त-लिखित प्रति को जो स्वामी जी ने मुद्रणार्थ उनको दे रक्खी थी, प्रसन्नता से पुस्तक का मिलान करने के लिये अपने पत्र के साथ भेज दिया, और भविष्य के लिये पुनर्प्रकाशन के सर्व मुद्रणाधिकार से लेखबद्ध रूप से विरत हो गए।

जो हस्त-लिखित प्रति बा० हरलाल साहब से प्राप्त हुई, वह पानी से भीग जाने के कारण खराब और स्थान-स्थान पर चिपकी हुई और फटी हुई थी, जिससे स्पष्ट पढ़ी नहीं जाती थी। अतः दीवान हरीचंद्र साहब, जिनको बाबा नगीनासिंह साहब की लगभग सब रचनाएँ स्वयं रचयिता महोदय से पढ़ने और सुनने का और उनकी जी भर कर संगत करने का गौरव प्राप्त था और जिन से स्वामी जी महराज को यह हस्त-लिखित प्रति प्रकाशनार्थ पहले मिली थी, उनसे एक नई साफ़ लिखी हुई कापी के लिये

प्रार्थना की गई, जो तत्काल बड़े तपाक से स्वीकृत हुई, और दीवान साहब ने बड़े शौक से अपने निज के अध्ययन की प्रति प्रदान की, बरन् यहाँ तक सहायता की कि पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् संशोधन करना स्वीकार किया, ताकि यदि कोई अशुद्धि संयोग से रह जाय, तो अलग शुद्धाऽशुद्ध पत्र बनाकर उस में लगा दिया जाय। इस के अतिरिक्त उक्त दीवान साहब ने संकेत किया कि बाबा नगीनासिंह साहिब के अत्यंत सुयोग्य, वेदांत के पारदर्शी शिष्य, राय हरनरायण साहब, भूत पूर्व ऐकस्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब और वर्तमान होममिनिस्टर रियासत कश्मीर, जो बाबा साहब की नियमानुसार संत्संग और शिक्षा से गौरवान्वित और सुशोभित थे, और इस ग्रंथ के तत्व से भली भाँति अवगत थे, उन से इस ग्रंथ की भूमिका लिखवाई जाय। अतएव उन की सेवा में प्रार्थना की गई, और राय साहब ने सर-आंखों से भूमिका लिखने का वादा कर लिया। परंतु राय साहब अपनी नौकरी के भारी काममें कुछ ऐसे व्यतिव्यस्त (प्रवृत्त) रहे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर भी साल-भर तक आप भूमिका न लिख सके, और १९१० ई० के आरंभ में आप से भूमिका और प्रस्तावना दोनों परिपूर्ण प्राप्त हुए।

इस ग्रंथ के संबंध में नारायण केवल इतनी प्रार्थना कर देना चाहता है कि अभी तक सारे जीवन में नारायण ने उर्दू-भाषा में वेदांत की पुस्तक इससे बढ़कर या इसके समान नहीं देखी, और न किसी उर्दू पुस्तक में उपनिषदों के तात्पर्य और अर्थ की व्याख्या ऐसी युक्ति पूर्ण, स्पष्ट और सुगम पाई, बरन् अपने निजी अनुभव से यह कहने को भी प्रस्तुत है कि जिस स्पष्टता के साथ ग्रंथ कर्ता ने

उपनिषदों के कतिपय अध्यायों के अनुवाद की व्याख्या की है, ऐसी स्पष्ट और प्रस्फुटित व्याख्या कुछ स्थानों पर तो श्रीस्वामी शंकराचार्य के भाष्य में भी नहीं पाई गई। इस ग्रंथ की भाषा यद्यपि पुरानी है और आज कल की प्रचलित देहलवी और लखनवी भाषा के तद्वत (समान) नहीं, तो भी अपने ढंग की निराली है। और पंजाबी ढंग के उर्दू में अति उत्तम है।

ग्रंथकर्ता की अपनी भाषा और वर्णन-शैली को सुरक्षित रखना उसकी असली यादगार और भाषा के इतिहास को स्थिर करना है, इसलिये इस ग्रंथ की भाषा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, वरन् उस की हस्तलिखित प्रति से, जो दीवान हरीचंद से प्राप्त हुई थी, एक एक शब्द सावधानी के साथ मिलान करके और दोबार तीनबार दृष्टिपात और शोधन के पश्चात् यह प्रति प्रकाशित की गई है। अलबत्ता जहाँ संस्कृत के शब्दों को केवल उर्दू में लिखे जाने से संदिग्ध और अशुद्ध पढ़ जाने की आशंका समझी गई, वहाँ उन को स्पष्ट करने के लिये उनके आगे संस्कृत अक्षरों में भी उन्हें अंकित कर दिया गया है, जिससे पढ़नेवालों के उद्देश्य की पूर्ति हो। यदि जनता ने इस अति उपयोगी रचना के तिबारा प्रकाशन का अवसर दिया और सम्मति दी, तो आगामी संस्करण में जहाँ कहीं उर्दू अल्पबोध्य या दुरूह (वा अस्पष्ट) है, वहाँ स्पष्ट रीति से प्रस्फुटित और पल्लवित कर दी जायगी और भाषा में उचित परिवर्तन करने से किताब की शोभा को द्विगुणित किया जायगा। संप्रति पाठकों की सुविधा के लिये इस ग्रंथ की शब्दार्थ-सूची लगा दी गई है, और जो संस्कृत के उपनिषदों में यथेष्ट गति रखते हैं, उनके लिये

जिस-जिस उपनिषद् का और उसके जिस-जिस अध्यापक का ग्रंथ-कर्ता ने इस ग्रंथ में अनुवाद किया है, पाठ-टिप्पणी में उसका पता (ठिकाना) भी दे दिया है, जिससे पाठकों को किसी प्रकार कठिनता प्रतीत न हो।

फलतः ग्रंथ यथाशक्ति उत्तम तैयार हुआ है, और ग्रंथ के विषय-प्रबंध अत्यंत ही मनोरंजक और देखने-योग्य हैं। विशेषतः द्वितीय कांड अर्थात् ज्ञानकांड तो मानो मोतियों की एक लड़ी है, और यह बहुमूल्य मोती ग्रंथकर्त्ता ने अपने विचारों की तार में सिलसिलेवार ऐसे पिरोए हुए हैं कि एक से एक बढ़कर अपना रंग दिखाते और मन को प्रकाशित करते हुए पाठकों के अंतः करण के तल तक अपना आतंक जमाते हैं, और जिज्ञासु को पूर्ण ज्ञानी और ज्ञानी को अपने निजानंद में निमग्न और लीन कर देते हैं। संक्षेप से ऐसे कि यह ग्रंथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन के लिये यथेष्ट सहायक और साधन (द्वार) है। जो इसे ध्यान देकर पढ़ेगा, अपने अनुभव से आप ही साक्ष्य देगा।

अंत में नारायण उन उपर्युक्त महानुभावों का कि जिन्होंने इस लाभ दायक ग्रंथ के प्रकाशन में तन मन से सहायता की है, अंतः करण से धन्यवाद अर्पण करता है, और आशीर्वाद देता है कि ऐसी उत्तम और लाभदायक पुस्तक फले-फूले अर्थात् दिन दुगनी और रात चौगुनी उन्नति पावे। और इस के पढ़ने वालों के हृदय हरे भरे हों, और इस के अध्ययन की सहायता से पढ़ने वालों के हृदयकमल खिलें, और उनके व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव की प्रभावशालिनी गंध से दूसरे लाभान्वित हों। तथास्तु

दिसंबर, १९०६] आर० एस० नारायण स्वामी

तीसरे संस्करण की भूमिका

[ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के पट्टशिष्य
श्रीमन्नारायण स्वामी की लेखनी से]

यह देख कर बड़ा हर्ष हुआ कि इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण की प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गईं, अर्थात् पूर्व संस्करण की जितनी प्रतियाँ छपी थीं, सब की सब साल-भर के भीतर ही भीतर खत्म हो गईं, और जिस किसी को भी इस अनमोल ग्रंथ के पढ़ने का संयोग प्राप्त हुआ, उस की लेखनी और जिह्वा इस की प्रशंसा में सराबोर (तर बतर) रहीं। कई महानुभावों से तो इस की प्रशंसा में अनेक पत्र भी प्राप्त हुए। कुछों के हृदय पर इस ग्रंथ के अध्ययन ने ऐसा बिजली का सा प्रभाव डाला कि हमारे पास उस की स्तुति और गुण-गान में कई पत्र भेजने के अतिरिक्त जिस किसी से उस की भेंट हुई, झट उसी के आगे उन्हों ने इस की प्रशंसा के गीत गाने आरंभ कर दिये, जिस से उन मिलने वालों के हृदय में उन्हों ने अपने निजी अनुभव और साक्ष्य से इस के अध्ययन की लालसा की अग्नि इस वेग से प्रज्वलित कर दी कि अब माँगने से भी यह ग्रंथ बड़ी कठिनता से कहीं से मिलता है। बहुत से परमार्थ के जिज्ञासुओं और लेखकों ने इस ग्रंथ से गद्गद होकर जहाँ इसकी प्रशंसा और प्रोत्साह में पत्र लिख भेजे, वहाँ साथ ही यह भी सम्मति-सूचना प्रदान की कि इस ग्रंथ की भाषा को सरल और विचार को तनिक अधिक

स्फुट वा स्पष्ट किया जाय जिस से यह ग्रंथ सत्य के जिज्ञासुओं को अधिक उपयोगी हो सके।

पूर्व संस्करण केवल चंदों से प्रकाशित हुआ था अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के विशेष धन से छपने नहीं पाया था, इस लिये केवल लागत-मूल्य पर वितरण किया गया था। न किसी प्रकार की आर्थिक आय के विचार पर दृष्टि थी और न किसी चंदा-दाता ने, सिवाय मास्टर अमीरचंद के, उसको बेचा था, बरन् जितनी-जितनी प्रतियाँ उनके चंदे की रकम (संख्या) के अनुसार चंदा दाताओं के भाग में आईं, इन सबने, बेचने के स्थान पर, उन्हें अधिकारी महानुभावों में वितरण कर दिया था। केवल मास्टर अमीरचंद के भाग में जितनी प्रतियाँ आई थीं, उन्हों ने उन महानुभावों के लिये बेचने को रख छोड़ी थीं कि जो मूल्य व्यय करके और किसी से मुफ्त लेकर नहीं किताब पढ़ना चाहते हैं। तो भी उन्होंने केवल लागत मूल्यपर ही कापियाँ बेची थीं, और आधी के लगभग कापियाँ भेंट के रूप में अधिकारी जिज्ञासुओं में भी बितरण की थीं। इस लिये अगले संस्करण के लिये इस ग्रंथ का कोई फंड नियत होने न पाया। जब पूर्व संस्करण की सब प्रतियाँ समाप्त हो गईं, सत्य के जिज्ञासुओं के भीतर इस की चाह की आग भड़क उठी, और प्रार्थनाओं पर प्रार्थनाएँ आनी आरंभ होगईं। (बरन् कुछ महीनों के भीतर-भीतर जब लग भग तीन सौ नई प्रार्थनाएँ प्राप्त हुईं और ग्रंथाभिलाषियों की निरंतर प्रेरणाओं और पत्रों ने नाक में दम कर दिया), तो लेखक को और सब कामों से विरत होना पड़ा और अपने सम्माननीय गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी राम की उर्दू कुल्लयात के भारी काम को बीच में छोड़ कर पहले इधर

लगना पड़ा, जिस से व्याकुल हृदय इस अनुपम ग्रंथ की प्रतीक्षा में अधिक तड़पने न पाएँ। इस तरह उर्दू कुल्लयाते-राम की प्रथम जिल्द प्रकाशित करने के पश्चात् दूसरी जिल्द आरंभ करने के स्थान पर इस ग्रंथ के संशोधनादि का काम हाथ में ले लिया गया।

इस परिशोधन के भारी काम में पहली सब से बड़ी सहायता स्वर्गीय बाबा साहब के सुप्रसिद्ध और सुयोग्य शिष्य राय हरनारायण साहिब भूत पूर्व होममिनिस्टिर रियासत कशमीर से मिली, कि जिन्होंने नारायण के साथ इस ग्रंथ को ध्यान-पूर्वक पढ़ने के अतिरिक्त स्वयं एकांत में भी इसको बहुत मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया और जहाँ कहीं विचार-धारा और वर्णन-शैली को विच्छिन्न और विशृंखलित पाया, वहाँ अत्यंत सावधानी और परिश्रम के साथ परिवर्तन किया। इस परिवर्तन अर्थात् विचारों की सजावट (शैली) और वर्णन के सौंदर्य में एक-दो स्थान पर उन्हें वाक्य के वाक्य बदलने पड़े। जैसे द्वितीय कांड के तीसरे अध्याय के पैरेग्राफ़ १६ से २१ तक और २३ से २५ तक के पूर्व स्वरूप में बिलकुल अंतर आगया, जिसके उत्तर दाता उपर्युक्त राय साहब हैं। निस्संदेह इन (वाक्यों) की पहले की भाषा से कुछ और अर्थ निकलते हैं, और वर्तमान भाषा से कुछ और। किंतु ग्रंथकर्ता के अंतिम तात्पर्य और उद्देश्य का यदि आरंभ से अंत तक सिंहावलोकन किया जाय, तो वर्तमान संशोधन बिलकुल ठीक और उपर्युक्त प्रतीत होता है, और उपनिषदों की शिक्षा के अनुकूल उतरता है। तो भी इस संशोधन के उत्तरदाता राय साहब स्वयं अपने आप को ठहराते हैं। और इस उत्तरदातृत्व का उनको अधिकार भी प्राप्त है, क्योंकि उनके अपने लिखने के अनुसार ग्रन्थकर्त्ता

ने इस ग्रन्थके भाषा-विन्यास आदि का काम (अपने जीवन ही में) उनको ही सौंपा था, जो दुर्भाग्य से उस समय न हो सका था, और आज ठीक २२ वर्ष के बाद उनकी ही लेखनी से हो गया। इस बड़े परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सब परिवर्तन और परिवर्द्धन का उत्तरदाता लेखक स्वयं है। जहाँ तक हो सका है, केवल शब्दों और भाषा के क्रम को ठीक किया गया है जिससे तात्पर्य और विचार साफ स्पष्ट हो जाय, और कहीं भी विचार-शृंखला या तात्पर्य बिगड़ने न पाए; परन्तु अपनी ओर से ग्रंथलेखक के विचार या तात्पर्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, और न भाषा के शब्द ही बहुत घटाए-बढ़ाए गए हैं, अर्थात् केवल मोटी दुरुस्ती हुई है, महीन नहीं। हाँ, यदि सत्य के जिज्ञासुओं ने इस मोटे सुधार और भाषा-विन्यास को पसंद किया और हार्दिक सहानुभूति की, तो आशा है कि भविष्य संस्करण में और भी अधिक साफ़ और सरल भाषा की जायगी जिससे पढ़ने वाले को ग्रंथ के समझने में अधिक सुविधा मिल सके।

ग्रंथ के संशोधन का भारी काम समाप्त होने के पश्चात् इसके छपवाने का विचार सर पर सवार हुआ। पहली बार तो यह बिलकुल अप्रसिद्ध बरन् अज्ञात और हस्त-लिखित प्रति होने के कारण कोई अकेला प्यारा इसके छप-वाने के व्यय का सारा भार अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं होता था। इसलिये कुछ परिचित प्यारों के चंदे की सहायता से इसे प्रकाशित किया गया था। मगर अब तो यह हस्त-लिखित प्रति लोगों के हाथोंमें पहुंच चुकी थी, और सत्य के जिज्ञासुओं को इसकी उपयोगिता ज्ञात हो चुकी थी, और सैकड़ों महाशयों की प्रार्थनाओं के उत्तर में यह स्पष्ट लिखा भी गया था कि ग्रंथ का संशोधन हो रहा है। इसके

पूर्ण होने पर और किसी एक से इसके छपवाने का खर्च प्राप्त होने पर इसको फौरन् प्रकाशित कर दिया जायगा। इसलिये ख़याल था कि कोई सच्चा प्रेमी और धनाढ्य प्यारा इस ग्रंथ के फंड की अविद्यमानता सुनकर अपनी उदारता से इसके समस्त व्यय को उठाने के लिये स्वयं तैयार हो जायगा, और अपने उत्तम उदाहरण से लेखक को प्रोत्साहित करेगा। परन्तु अब संशोधन समाप्त होने तक किसी प्यारे से इस प्रकार का पत्र प्राप्त न हुआ और न कहीं से इस काम के लिये स्वयं कोई तैयार होता सुनाई दिया, तो विवश होकर लेखक को फिर फंड के लिये आवाज़ उठाने की सूझी। मगर दिल एक ग्रन्थ के लिये बार-बार फंड की अपील या चंदा करने को तैयार नहीं होता था; इसलिये कुछ समय तक फंड के लिये मन में खूब खींच तान होती रही। नारायण की इस मानसिक खींच तान को स्वर्गीय अमीरचंद ने भाँप कर स्वयं प्रार्थना की कि यदि फ़ंड की कमी के कारण इस अनमोल ग्रंथ का प्रकाशन रुका हुआ है, तो आप तत्काल छपवाना आरंभ कर दीजिए, मैं समस्त व्यय का ज़िम्मेदार हो जाऊँगा। स्वर्गीय मास्टर साहब की उदारता और प्रोत्साहन से यह ग्रंथ तत्काल प्रेस में दिया गया, परंतु यह अभी छपना आरंभ भी न हुआ था कि दुर्भाग्य से मास्टर साहब एक आकस्मिक विपत्ति में फँस गए जिससे ग्रंथ का प्रकाशन चिर काल तक रुका रहा। किंतु जब उनसे पूर्ण रूप सहायता की आशा जाती रही और किसी दूसरी जगह से भी तत्काल सहायता प्राप्त न हुई, तो विवश होकर स्वामी रामतीर्थ के उर्दू पब्लिकेशन फ़ंड से धन निकाल कर इस संस्करण को पूर्ण कर दिया गया, ताकि इस ग्रंथ के लिये सत्य के जिज्ञासुओं का मन

अधिक व्याकुल और प्रतीक्षा में लगा रहने न पाए। इस प्रकार यह ग्रंथ प्रेस में आने के पश्चात् भी पूरे दो वर्ष तक पूर्ण प्रकाशित न हो सका। अस्तु, संतोष का स्थान है कि इस संस्करण को पूर्ण करके लोगों के हाथों में पहुँचाने का अवसर तो प्राप्त हुआ।

इस प्रकरण में इतनी देरी का कारण जहाँ एक ओर धन की कमी हुई, वहाँ दूसरी ओर प्रेसमैनों का प्रेस में घड़ी घड़ी बदलना और लेखक का भी दूर पहाड़ों में गंगोत्री यात्रा को चले जाना तथा तिब्बत प्रदेश में मानसरोवर की यात्रा करना हुआ। इस यात्रा के कारण भी पूरे एक वर्ष तक प्रकाशन बंद पड़ा रहा। अस्तु, इन समस्त कठिनाइयों के अतिरिक्त भी जितने परिश्रम, सच्ची हृदयता, सद्भाव और सहानुभूति से इस किताब के कातिब मियाँ सय्युद्दीन साहब और मैनेजर "मतबा आफ़ताब तिजारत दिल्ली" ने इस ग्रंथ के पूर्ण करने में परिश्रम किया है, उसका धन्यवाद लेखक की लेखनी नहीं दे सकती, मन ही अनुभव कर रहा है और जान सकता है। यदि यह सुहृदय महाशय हमारे इस काम में सहायक न होते, तो इस संस्करण का प्रकाशन पूर्णरूप से होना कठिन ही नहीं बरन् असंभव सा हो जाता। इस लिये जितना ही इनको धन्यबाद दिया जाय, उतना ही थोड़ा है। ईश्वर इन को ऐसा ही सुचित्त और सज्जन बनाए रक्खे। इतनी ही नारायण की इन के लिये प्रार्थना वा आशीर्वाद है।

अंत में नारायण उन महाशयों को धन्यबाद देता है कि जिन्हों ने चाहे पत्र द्वारा और चाहे शब्दों द्वारा इस संस्करण के प्रकाशन में सहानुभूति प्रकट करके प्रोत्साहित किया है, और स्वर्गीय बाबा साहब के सुयोग्य

शिष्य राय हरनारायण साहब, कि जिनके विशेष अनुकंपा से यह ग्रंथ पहले से कहीं उत्तम और अत्यंत शुद्ध और स्पष्ट हो गया है, और जिनकी सहायता के बिना कदाचित् ऐसा उत्तम संशोधन न होता, उनको विशेष रूप से हृदयतल से धन्यवाद अर्पण करके इस भूमिका को नारायण समाप्त करता है और आशीर्वाद देता है कि यह संस्करण पहले से भी अधिक फले फूले, और सत्य के जिज्ञासुओं को दिन दूनी रात चौगुनी निजानंद की प्राप्ति में सहायक हो।

जून, १९१९] आर० एस० नारायण स्वामी

दूसरे संस्करण की भूमिका

[राय हरनारायण साहब होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और सुप्रसिद्ध शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब की लेखनी से ता० २९ दिसंबर १९०९ ई०]

मुझ को इस बात का अभिमान प्राप्त है कि मैंने इस ग्रंथ के लेखक बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी के चरणों में बैठकर उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा साहब रियासत कपूर्थला के फगवाड़ा ग्राम में बेदी खत्रियों के वंश में, सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक जी की तेरहवीं पीढ़ी में सं० १८९१ विक्रमी में उत्पन्न हुए और आश्विन सं० १९५८ विक्रमी तदनुसार अक्तूबर १९०२ ई० में पंचभौतिक शरीर को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुए। आरंभिक आयु में उनके पूज्य पिताजी ने उनको फ़ारसी और अरबी-विद्या की शिक्षा के वास्ते उन्हें एक मौलवी साहब के सुपुर्द किया। तीव्र बुद्धि के कारण छोटी आयु में ही कुरान मजीद और उस की तफ़सीर (भाष्य) को भली भाँति अध्ययन किया। मौलवी साहब ने इसलाम-धर्म के सिद्धांतों को बाबा साहिब के दिल में पूरी तरह से जमा दिया और मूर्ति पूजा की ओर उन के हृदय में घृणा उत्पन्न करा दी थी। बाबाजी का पूर्ण निश्चय होगया कि हिंदू-धर्म ईश्वरप्राप्ति कराने में असंपूर्ण (दोष युक्त) है, और बिना मोहम्मद साहब की सफारश (अनुग्रह) के मुक्ति का मिलना असंभव है। इस लिये वह शिक्षा काल में ही मौलवी साहब के वश में आगए, और इसलाम-

धर्म के अनुयायी होकर मौलवी साहब के साथ अपने घर से निकल गए। मौलवी साहब ने कुछ दिनों तक इन्हें एक दूसरे नगर में छिपा कर रक्खा। बाबा साहब के पूज्य पिता ने उन के खो जाने की सूचना पाकर उनकी खोज कराई और फिर उनको पाकर घर में लौटा लाए। उन्हों ने यह भी प्रयत्न किया कि बाबा साहब से प्रायश्चित्त कराकर उन्हें फिर अपने वंश में मिला लें, परंतु बाबा साहब ने हिंदू-धर्म को दुबारा ग्रहण करना स्वीकार न किया, और इस बात पर आग्रह किया कि हिंदू-धर्म झूठा है और इसलाम-धर्म का अनुमोदन किया। उन्हों ने यह भी कहा कि "जब तक तर्क करके सिद्ध न करा दिया जाय कि हिन्दू-धर्म मुक्ति-पथ दर्शक है, मैं कदापि हिंदू-धर्म में लौटकर आना नहीं चाहता"। और यह भी कहा कि "यदि मुझको बल-पूर्वक मिलाया जायगा, तो मैं फिर इसलाम-धर्म को ग्रहण कर लूँगा।" उन दिनों फगवाड़ा में एक महात्मा संन्यासी साधु विद्यमान थे, जिन के पास बाबा साहब के पूज्य पिता आया-जाया करते थे। वह बाबा साहब को लेकर स्वामी जी के चरण कमलों में उपस्थित हुए, और उनकी सेवा में समस्त वृत्तांत निवेदन कर दिया। स्वामी जी ने अत्यंत स्नेह और प्रेम के साथ बाबा साहब को वेदांत-दर्शन के सिद्धांत सुनाए। परंतु वेदांत दर्शन की अनभिज्ञता के कारण स्वामी जी के उपदेश का बाबाजी पर कुछ प्रभाव न हुआ और उन्हों ने अपने हठ को न छोड़ा, अंत में बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् स्वामी जी के साथ बाबा जी ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि वह उनको हिंदू-धर्म की सत्यता के संबंध में पूर्ण विश्वास करा दें, तो वे अपना आग्रह त्याग कर फिर अपने धर्म को स्वीकार कर लेंगे।

स्वामी जी ने बाबा साहब के पिता जी से कहा कि यदि वह बाबा जी को उन के पास कुछ काल के लिए छोड़ दें, तो आशा है कि यह बाबा साहब को नियमानुसार शास्त्रीय शिक्षा देकर धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार वेदों को सिखला-देंगे। स्वामी जी ने यह भी कहा कि यदि इस के बाद भी बाबा साहब अपना हठ (आग्रह) न छोड़ेंगे, तो उस दशा में उनको तंग करना उचित न होगा, वरन् उनको महम्मदीय धर्म ग्रहण करने की आज्ञा देनी उचित होगी। बाबा साहब के पूज्य पिता जी ने इस बात को स्वीकार करके उनको स्वामी जी के सुपुर्द कर दिया, और स्वामी जी ने वात्सल्य-भाव से बाबाजी को अपने पास रख कर पहले संस्कृत के अक्षर सिखलाए, फिर थोड़ा-सा व्याकरण पढ़ाकर उपनिषदों का अभ्यास कराना आरंभ किया। बाबा साहब की तीव्र बुद्धि की प्रशंसा पहले ही की जा चुकी है कि वह बड़े सूक्ष्म दर्शी, बोधिसत्व और प्रत्युत्पन्नमति थे। पूर्वजन्म के संस्कार उनके बलवान् थे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में केवल क्षणिक आवरण शेष था जो थोड़े ही काल में दूर होगया। उनमें विवेक की शक्ति बढ़ गई, और स्वामी जी की कृपा से वह तत्ववेत्ता हो गए। अब जो विचार वैदिक धर्म के विरुद्ध उनको घेरे हुए थे, वे उपनिषदों के वेदांत-दर्शन की आंधी के आगे धुएँ के बादलों की तरह उड़ गए, और बाबा साहब ने उन विरोधी विचारों का खंडन स्वयं करना आरंभ कर दिया। इस के बाद स्वामी जी ने बाबा साहब को उन के पूज्य पिता जी के पास भेज दिया जिन्हों ने शास्त्रीय पद्धति के अनुसार बाबा साहब का प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया। दीवान रामजस साहब सी० एस० आई० रियासत कपूर्थला के महामंत्री ने

उनको अपनी अधीनता में नौकर रक्खा, और इस नौकरी के अवसर में बाबा साहब को वेदांत-शिक्षा में विशेष प्रोत्साहित किया। कुछ दिनों में बाबा साहब की योग्यता और उनके धार्मिक परिज्ञान की प्रसिद्धि लोगों में भली भांति फैल गई। जब महाराजा रणधीर सिंह साहब (वर्तमान महाराजा जगजीतसिंह साहबजी सी० आई० ई० और के० सी० एस० आई० कपूर्थला नरेश के प्रपितामह) की चित्त-वृत्ति का झुकाव, कुछ ईसाई मिशनरियों के सत्संग के कारण, ईसाई धर्म की ओर हुआ, तो दीवान रामजस साहब ने बाबा साहब को इंजील पढ़ने के लिये आज्ञा दी। बाबा साहब ने समस्त इंजील और अन्य ईसाई ग्रंथों का भलीभाँति अध्ययन करके उस में पर्याप्त अभ्यास प्राप्त कर लिया, और महाराजा रणधीर सिंह जी के सामने पादड़ियों के साथ बहस करके महाराजा साहब को पूर्ण निश्चय करा दिया कि ईसाई धर्म की अपेक्षा हिंदू-धर्म और सिक्ख धर्म को बाबा नानक साहब की वाणी के अनुसार जैसा कि ग्रंथ साहब में लिखा है, श्रेष्ठत्व प्राप्त है। अतएव महाराजा साहब ईसाई धर्म का ख्याल त्याग कर पूर्ववत् हिंदू और सिक्ख धर्म के अनुयायी रहे। बहुत समय तक बाबा साहब रियासत कपूर्थला कमिश्नरी जालंधर के वकालत पद पर काम करते रहे और उसी पद पर पेंशन प्राप्त होने तक काम करते रहे। इस पद पर भिन्न २ धर्मों के ग्रन्थ और वेदांत-दर्शन के अध्ययन करने के लिये उन को यथेष्ठ अवकाश मिलता था, इस लिये उन्हों ने किसी और पद पर जाने की कभी इच्छा प्रकट नहीं की। सारे पंजाब और हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में उन की विद्या की पूर्णता की प्रसिद्धि हो गई, और दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्मा और मौलवी

उनके पास वहस के लिये और उनकी बोध-पूर्ण वक्तृता सुनने के लिये आया करते थे। यदि उनके समस्त भाषणों को एकत्रित किया जाय, तो कई जिल्दों में भी उन का लेखनी-बद्ध होना कठिन प्रतीत होता है। बाबा साहब के रचित कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिन से उन की योग्यता और वर्णन-शक्ति का परिचय मिल सकता है। बाबा साहब वेदांत-शास्त्र के पूर्ण आचार्य थे, और उपनिषदों के रहस्य से पूर्ण अभिज्ञ थे। और वेदांत-शास्त्र को पढ़ाने की उन में विशेष योग्यता थी। जिस समय वह अपने शिष्यों को उपनिषदों की शिक्षा देते थे, उस समय उन के हृदयोद्वेग और विचारागमन (ख्याल के बहाव) की एक विचित्र दशा होती थी। कठिन से कठिन रहस्य को भी वह अत्यन्त सरल शैली से या कथा-कहानी के रूप में वर्णन करके शिष्यों के हृदय में पूर्ण-रूप से उस का चित्र अंकित कर देते थे। बाबा साहब ने सन् १८६१ ई० में मुझको इस "वेदानुवचन" के पढ़ने के लिये आज्ञा दी थी, और इच्छा प्रकट की थी कि इस की भाषा को छपने से पूर्व देख लिया जाय। परन्तु शोक कि उस समय सरकारी नौकरी के कामों की अधिकता के कारण मैं उन की आज्ञा का पालन न कर सका। पहली बार इस ग्रंथ का प्रकाशन बाबू हरलाल साहब ने लाहौर में करने का इरादा किया, और लाला हरीचन्द साहब रियासत कपूर्थला के दीवान ने जो कि बाबा साहब के अनुयायी थे, मुझको इस की प्रस्तावना लिखने को कहा था; किंतु बिना प्रस्तावना की प्रतीक्षा किये बाबू हरलाल ने इस अनमोल ग्रन्थ को संस्कृत भाषा के शब्दों की शुद्धि के बिना ही, (जो कि उर्दू में लिखे होने से ठीक पढ़े नहीं जाते थे) छपवा दिया। अब श्री नारायण स्वामी जी साहब ने इस को दुबारा

शुद्ध करके प्रकाशन करना अपने ज़िम्मे लिया है, और स्वामी साहब ने दीवान हरीचन्द की फ़र्मायश के अनुसार मुझको इस वेदानुवचन की प्रस्तावना लिखने के लिये विवश किया है। मैं स्वामी जी साहब का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन की प्रेरणाओं के कारण मैं अपने गुरूजी महाराज बाबा नगीना सिंह साहब की सेवा कर सकूंगा और प्रयत्न करूंगा कि इस प्रस्तवना में बाबा साहिब की शिक्षा का संक्षेप वर्णन करूं, जिस से आत्म-तत्त्व के जिज्ञासुओं को इस वेदानुवचन के समझने में सुगमता प्राप्त हो।

तीसरे संस्करण की भूमिका।

[राय हरनारायण साहब भूतपूर्व होम मिनिस्टर रियासत कशमीर और वर्तमान इक्सटरा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब, तथा स्वर्गीय सुयोग्य शिष्य आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब, की लेखनी से]

अत्यन्त हर्ष का स्थान है कि "वेदानुवचन" का दूसरा संस्करण हाथों हाथ बिक गया और तीसरे संस्करण की बड़ी आवश्यकता भान (महसूस) हो रही है। यद्यपि दूसरे संस्करण में श्री स्वामी नारायण जी ने ग्रंथ की अशुद्धियों ही के सुधार करने का बड़ा प्रयत्न और परिश्रम किया, तो भी अशुद्धियां कुछ रह गईं, और कुछ वाक्य निरर्थक तथा अस्पष्ट प्रतीत होते थे, क्योंकि कुछ शब्द या तो लिखने में रह गए थे या प्राप्त हस्त-लिखित प्रति में अशुद्ध नक़ल किए हुए थे। स्वामी नारायण जी ने इस ग्रंथ के संशोधन का भार मुझे दिया और उनकी आज्ञा के अनुसार स्वर्गीय बाबा साहब के पुत्र बाबा देवराज जी से प्रार्थना की गई कि वह बाबा साहब के करकमलों से लिखे हुए काग़ज़ों की खोज करें जिससे वेदानुवचन की मौलिक-प्रति, जो बाबा साहब के कर कमलों से लिखी गई हो, प्राप्त होजाय। पाठकों को यह ज्ञात करके आनंद होगा कि इस प्रयत्न में कुछ सफलता हुई। बाबा देवराज और उनकी माताजी को धन्यवाद अर्पण किया जाता है कि उन्हों ने असल लेख मेरे सुपुर्द कर दिए और उनमें एक भाग वेदानुवचन का भी बाबा साहब की लेखनी का मिल गया। इस हस्तलिखित कापी की सहायता से बहुत-सी अशुद्धियाँ ठीक की गईं,

और स्वर्गीय बाबा साहब की आज्ञानुसार, जो उन्होंने अपने जीवन में इस ग्रंथ के संशोधन करने के लिये मुझको दे रक्खी थी, कुछ स्थलों पर कुछ शब्द, जो पुराने महाविरे के अनुसार लिखे गए थे, उन्हें प्रचलित महाविरे के अनुसार कर दिया गया। और एक दो स्थान पर अस्पष्ट भाषा को स्पष्ट कर दिया गया है। आशा है कि अब पढ़ने वालों को समझने में बहुत सुबिधा होगी और कोई कठिनता सामने न आयगी।

मैं स्वामी नारायण जी का अन्तः हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उनकी बदौलत मैं उस सेवा को, जो बाबा साहब ने अपने जीवन में मेरे ज़िम्मे लगाई थी, पूर्ण करके गुरु-ऋण से मुक्त हुआ हूँ। और जो दोष पुस्तक को लिखने में अशुद्धियों के कारण प्रतीत होते थे, दूर हो गए। अब जब अवसर मिलेगा, मैं बाबा साहब की शेष रचनाओं को जो अब तक अमुद्रित हैं और मेरे पास अस्तव्यस्त दशा में पहुँची हैं, शृंखलित करके प्रकाशन के लिये स्वामी नारायण के पास भेज दूँगा।

बाबा साहब की पहली प्रकाशित रचनाओं का, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी भिन्न-भिन्न पुस्तकों में दिया है, निम्न-लिखित है-(१) जगत्-जीतप्रज्ञा, (२) मैयार-उल-मकाशफ़ा, (३) मजमुआ-ए-ब्रह्मविद्या अथवा मरातुल मारफ़त, (४) रिसाला अजायबुल इल्म। और लग भग प्रत्येक रचना को उन्होंने आशीर्वाद से समाप्त किया है। विशेषतः रिसाला अजायबुल इल्म को वह यों समाप्त करते हैं कि "अब मैं रिसाला अजायबुल इल्म को समाप्त करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि श्री ज्ञानेश्वता आप लोगों को अपने स्वरूप और प्रकाश में निमग्न कर दे और

मुक्ति प्रदान कर। मुझको भी आशीर्वाद पूर्वक स्मरण किया करना। शुभमस्तु। ॐ सच्चिदानंद परमात्मने नमः।"

आशा है कि बाबा साहब की रचनाएँ और आशीर्वाद अपना लाभदायक प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रहेंगी। ॐ शम्

जालंधर
२३ अप्रैल १९१३ } हरनारायण,

प्रस्तावना

संस्कृत-भाषा में "वेद" शब्द के अर्थ हैं "वह जिससे जाना जाय" अर्थात् वह विद्या जिससे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो। परमात्मा का ज्ञान और साथ ही ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया ऐसी बातें हैं कि जिनको मनुष्य अपनी बुद्धि से नहीं जान सकता। क्योंकि आत्मा कोई ऐसी वस्तु नहीं जो ज्ञानेंद्रिय या मन, बुद्धि का विषय होकर ख़याल में आ सके। आत्म-ज्ञान के प्राप्त करने में तीन प्रतिबंधक हैं— (१) पाप जिसको संस्कृत में 'मल' कहा करते हैं, (२) चित्त की चंचलता अर्थात् स्थिर होकर न रहना जिसको संस्कृत में 'विक्षेप' कहते हैं, और (३) अज्ञान का परदा जो आत्म-दर्शन अर्थात् ज्ञान में रुकावट करता है, इसको संस्कृत में 'आवरण' कहते हैं। साधक को पहले मल का दूर करना आवश्यक है और उसके दूर करने का द्वार कर्मकांड अर्थात् शुभ कर्म हैं। इस हेतु कि मल तमोगुण का परिणाम है, अतः इसका दूर करना सतोगुण से ही हो सकता है। आत्म-दर्शन और ज्ञान का दूसरा प्रतिबंधक चित्त की चंचलता है। उसका उपाय यह है कि चित्त अर्थात् मन को रोककर एक ख्याल पर लगाया जाय और क्रमशः ख्याल (वृत्ति) को बिलकुल रोका जाय जिसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस उपाय को संस्कृत में उपासना भी कहते हैं। जब किसी व्यक्ति के पाप अर्थात् उसके मन की मलिनता दूर हो जाय और उसका चित्त चंचल न हो, वरन् एकाग्र हो, अथवा बिना किसी विचार के स्थिर रह सके, तो उस दशा में

जो आत्मा से भिन्न अर्थात् अज्ञान का अनादि परदा पड़ा हुआ है, गुरु के वाक्य से दूर हो जाता है और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है। उसका उदाहरण बुद्धिमान् लोग इस प्रकार देते हैं कि जैसे एक कलईदार मैला शीशा आपके सम्मुख पड़ा है, परन्तु मलिन होने के कारण आप उसमें अपना मुख नहीं देख सकते, किंतु यदि किसी प्रकार से उस मैल को उतार दिया जाय, तो फिर स्वच्छ दर्पण चेहरे का प्रतिबिंब दिखलाने के योग्य हो जाता है, किंतु साथ ही इसके यदि इस स्वच्छ दर्पण को निरन्तर हिलाया वा चेष्टावान् किया जाय और मुख के आगे ठहरने न दिया जाय, तो उसमें स्पष्ट प्रतिबिंब नहीं पड़ता और मनुष्य अपने मुखचिह्न को स्पष्ट नहीं देख सकता। किंतु जब स्वच्छ दर्पण को चेहरे के सामने बिना हिलाये डुलाये के रख दिया जाय, तो उसमें चेहरा साफ़ दिखाई देता है। तो भी अज्ञान के कारण इस बात का विश्वास नहीं होता कि जो प्रतिबिंब शीशे में दिखाई दे रहा है, वह देखनेवाले का ही ठीक स्वरूप है। ऐसे अवसर पर बुद्धिमान् पुरुष उस नासमझ को, जो अपना ही प्रतिबिंब देखकर आश्चर्यवान् हो रहा है और उसको अन्य समझता है, इस प्रकार प्रबुद्ध करता है कि जो दर्पण में तू देख रहा है, वह तेरा ही स्वरूप है, तुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं; और उसके एक-एक मुख-चिह्नों और गतियों को उस प्रतिबिंब में दिखाकर यह निश्चय करा देता है कि उस प्रतिबिंब और तेरे स्वरूप में कोई अंतर नहीं, बरन् वे दोनों एक ही हैं। तब ना समझी का परदा दूर हो जाता है और वह व्यक्ति कहने लगता है कि "हाँ मैं अब समझ गया कि जो प्रतिबिंब मुझको दर्पण में दिखाई देता है, वह स्वयं मेरा ही स्वरूप है, मुझ से भिन्न नहीं।

और फिर बच्चे की तरह प्रतिबिंबित रूप को अन्य समझ कर न तो प्रेम प्रकट करता है, और न उसको मारने दौड़ता है। इसी को संस्कृत में आत्मा का ज्ञान बोलते हैं। वेद भगवान् में इन उपायों वा प्रक्रियायों के वर्णन करने के लिये तीन विभिन्न भाग हैं। प्रथम भाग का नाम कर्मकांड है, दूसरे का नाम उपासना कांड है, तीसरे का नाम ज्ञान कांड है। कर्मकांड की शिक्षा पर चलने से पाप दूर हो जाते हैं, और उपासना करने से अंतः करण का विक्षेप अर्थात् मन की चंचलता दूर हो जाती है, और आचार्य के श्रीमुख से महावाक्य को सुनने से मनुष्य ज्ञानवान् होकर "अहं ब्रह्मास्मि" का दावा करता है, और कहता कि "ब्रह्म अर्थात् आत्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं, मुझ में और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं।" वेद-भगवान् चूँकि इस बात की शिक्षा, जो कि मानवी बुद्धि के अनुमान से बाहर है, देता है, इसलिये वेद के वाक्य को मानवी रचना नहीं कहा जाता, वरन् ईश्वरीय वाणी के नाम से प्रसिद्ध किया जाता है। आज तक किसी ने इस बात का दावा नहीं किया कि वह वेद के किसी मंत्र का रचयिता है। प्रजापति जिसने संसार के आदि में पूर्ण ज्ञान द्वारा वेदों का प्रकाश किया, वह स्वयं कहते थे कि हमने इस वेद को ज्यों का त्यों (हू बहू) इसी तरह से उन ज्ञानवान् पुरुषों से सुना था जिन्हों ने उनको पूर्व जन्म में इसकी शिक्षा दी थी। इससे सिद्ध होता है कि वेद को सदैव सुनते चले आए हैं, और कभी किसी ने इस के आविष्कर्ता होने का दावा नहीं किया। यही कारण है कि वेद के वाक्य को श्रुति अर्थात् सुनागया वाक्य कहते हैं और अन्य विद्वानों की रचनाओं को स्मृति कहते हैं, क्योंकि वे स्मरण शक्ति से लिखी गई हैं। मोटे तौर पर

वेद के दो भाग गिने जाते हैं, एक कर्म-कांड, दूसरा ज्ञानकांड, क्योंकि उपासना-कांड ज्ञानकांड के भीतर ही समझा जाता है। वेद और उपनिषदों में प्रथम कर्मकांड का वर्णन किया गया है, और अंतिम भाग में ज्ञान का। ज्ञान का उपदेश प्रायः वेदों के अंतिम भाग में होने के कारण ज्ञान-कांड को वेदांत अर्थात् वेद का अंतिम भाग भी कहा जाता है।

वेदों की शिक्षा के अनुसार बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी ने अपनी इस पुस्तक "वेदानुवचन" में पहले कर्मकांड की शिक्षा दी है और बाद में ज्ञान का उपदेश दिया है। कर्मकांड में दिखलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, और किन शुभकर्मों के करने से देवता बन जाता है, और किन कुकर्मों के कारण नरक में जाता करता है। उपनिषदों में, जिनका अनुवाद बाबा साहब ने वेदानुवचन में किया है, इस प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार कर्मों को करता है, मृत्यु के समय जीव आत्मा मानवी शरीर को, जो उसका निवास-स्थान था, त्याग देता है। किंतु यह त्यागपूर्ण त्याग नहीं होता। जीवन में जीव-आत्मा अपने आपको शरीर से पृथक नहीं समझता और शरीर के भीतर अपना विशेष संबंध मस्तिष्क से रखता है। मस्तिष्क इसका सिंहासन है जहाँ यह विराजमान होकर सब प्रकार का प्रबंध करता है। जिस समय मनुष्य के प्राणों का वियोग होता है और प्राणों का गमनागमन बंद हो जाता है, उस समय संसार के लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया, किंतु जीव-आत्मा उस देह से जिसको जीवन में न केवल अपना निवास-स्थान वरन् अपना

आप समझता था, बिलकुल संबंध नहीं त्यागता, और उदानवायु पर सवार हुआ उसके चारों ओर विद्यमान रहता है। वेद के जानने वाले ब्राह्मण इस जीव आत्मा का देह से संबंध त्याग कराने की इच्छा से इस देह को अग्नि में जला देते हैं। उस समय इस देह के तीन भाग हो जाते हैं। प्रथम धुवाँ, दूसरा जलती हुई अग्नि अर्थात् ज्वाला, तीसरा भस्म। पहले तो जीवआत्मा अपना संबंध सारी देह से रखता था, परंतु अब इस देह के तीन भाग हो गए और वह बिलकुल पृथक-पृथक। इस लिये जिस भाग के साथ उसकी विशेष अभिरुचि या अभिलाषा होती है, उसके साथ संबंध उत्पन्न कर लेता है, और शेष दो भागों से विच्छेद करता है। यदि जीव-आत्मा कर्मकांडी रहा है, और सतोगुण का अंश उसमें अधिक है, तो वह अपना संबंध ज्वाला अर्थात् प्रज्वलित अग्नि से कर लेता है; यदि उसके कर्म जीवन काल में उत्तम नहीं थे और वह पितृ आदि कर्म करता रहा था, तो धुएं के साथ संबंध उत्पन्न कर लेता है; किंतु यदि उसके कर्म स्थूल तमोगुण वाले थे, तो वह अपना संबंध भस्म से उत्पन्न करता है। देहके जलाते समय भिन्न-भिन्न जीवात्मा का मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाता है और इस स्थान से जीवात्मा की गति आरंभ होती है। यदि जीव-आत्मा ऊर्ध्व गमन करता है, तो उसको ऊर्ध्व-गति कहते हैं; यदि यह नीचे गिरता है, तो उसको अधोगति कहते हैं। धुएँ से संबंध उत्पन्न करने से उसकी गति धुएँ के साथ होती है। धुआँ पानी अर्थात् तरी वा रस से उत्पन्न होता है, और रसों का देवता चंद्रमा है। तो जीव आत्मा धुएँ से बादल और बादल से चंद्रलोक को पहुँच कर भोगों को भोगता है। किंतु यदि इसी तरह से

जब जीव-आत्मा अपना संबंध ज्वाला के साथ उत्पन्न करता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से सूर्य लोक में प्राप्त होता है, और सूर्य लोक में देवता बनकर अपरिमित काल तक देवलोक के सुख भोगता है। किंतु जब तमोगुण के कारण जीवात्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर सकता है, तो अपना संबंध भस्म या धूलि से उत्पन्न करता है। धूलि धरती पर वायु के द्वारा फैल कर नाना प्रकार की बनस्पति की वृद्धि का कारण होती है। इनको कच्ची या पक्की दशा में सृष्टि के नाना जीव-जंतु खाते हैं, और जीवात्मा उनसे संबंध पा जाता है। मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति इत्यादि को उपनिषदों में पंचाग्नि विद्या के नाम से भी प्रकट किया गया है। और वह इस प्रकार वर्णन करते हैं कि पहले मनुष्य अन्न को खाता है, उससे वीर्य उत्पन्न होता है, और उस रेतस (वीर्य) को मनुष्य स्त्री के गर्भाशय में आहुति के समान डालता है, जिससे बच्चा उत्पन्न होता है। जब यह मनुष्य मर जाता है, तो उसे अग्नि में जलाया जाता है, जो कि अग्नि में दूसरी आहुति है। फिर जीव आत्मा चन्द्रलोक में आहुति होकर चन्द्रबदन हो जाता है, और इसी तरह सूर्यलोक में आहुति होकर सूर्यवंश हो जाता है। और इन दोनों लोकों में अपने कर्मों का फल भोगकर बादलों में लौटकर धरती में वर्षा के द्वारा आहुति किया जाता है। इसका नाम पंचाग्नि-विद्या है। अर्थात् पहले वर्षा के द्वारा पृथ्वी-रूप अग्नि में आहुति, दूसरे वीर्य बनकर माता-रूपी अग्नि में आहुति होता है, तीसरे सामान्य अग्नि में देह की आहुति होती है, चौथे चन्द्रलोक में और पाँचवें सूर्यलोक रूपी अग्नि में आहुति किया जाता है, और आवागवन का यह क्रम सदैव से जारी है और संसार के अस्तित्व का

कारण हो रहा है। कर्मकांड की शिक्षा से मनुष्य चन्द्रलोक और सूर्यलोक के सुखों की प्राप्ति कर सकते हैं, और सूर्यलोक से प्रजापति तक पहुँच सकते हैं। वहाँ प्रजापति के ज्ञानोपदेश करने से जन्म-मरण का बंधन कट कर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरा लाभ कर्मकांड से यह मिलता है कि मनुष्यों के मन अर्थात् अंतःकरण का मल दूर हो कर अंतःकरण शुद्ध (स्वच्छ) हो जाता है, और उपासना के द्वारा मन की स्थिरता लाभ करके ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो जाता है। इस लिये प्रथम भाग में वेद-शास्त्र की आज्ञा-अनुसार शुभ कर्म करने की शिक्षा दी गई है। और यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विद्या बहुत भारी है, और इस की प्राप्ति से अपरिमित काल के लिये सुख और भोग मिलते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति को इस विद्या के प्राप्त करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि भोग और मुक्ति दोनों का यही एक द्वार है।

दूसरा भाग ज्ञानकांड

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या को विविध भाँतियों से वर्णन किया गया है। उनमें कुछ एक विधियाँ बाबा नगीनासिंह साहब ने वेदानुवचन में बड़ी स्पष्टता के साथ वर्णन की हैं। परन्तु प्रत्येक उपनिषद् में एक विशेष बात पर दृष्टि पात की गई है कि ज्ञान का उपदेश अधिकारी व्यक्ति को किया गया है। जिस-जिस योग्यता के शिष्य ब्रह्मविद्या के सीखने के लिये आचार्य के सम्मुख आए, उनको उनकी धारणा और समझ के अनुसार आचार्य ने उपदेश किया। कठोपनिषद् में नचिकेता और यम का आख्यान वर्णन किया गया है, जहाँ यमराज उपदेश करनेवाले थे और नचिकेता

एक छोटा लड़का, सरल स्वभाव, श्रद्धा से भरा हुआ और मुक्ति का इच्छुक था। केनोपनिषद् में देवताओं को उमा रूपी आचार्य ने यक्ष के उदाहरण से उपदेश किया। मुंडकोपनिषद् में आचार्य प्रजापति की ओर से उपदेश किया गया। और छांदोग्य तथा वृहदारण्यकोपनिषद में त्रिविध अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। 'नारद' ने जो विद्वान् होते हुए भी सनकादिक ऋषियों से उपदेश चाहा, तो उन्होंने नारद से पूछा कि तुमने पहले कौन-कौन विद्या सीखी है। और इस बात से परिचित होकर कि नारद क्या २ शिक्षा पा चुका था और अब क्या आवश्यकता शेष थी, उसको उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के उपाख्यान में दिखलाया गया है कि राजा जनक को अपनी विद्या का अभिमान था, और याज्ञवल्क्य ने उसको उपदेश किया। राजा इंद्र और विरोचन की कहानी में दिखलाया है कि प्रजापति ने विरोचन को उसकी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश करना व्यर्थ समझा, और इंद्र को चार बार करके १०१ वर्ष में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। कहीं पर दिखलाया गया है कि आकाशवाणी से ज्ञान का उपदेश हो गया, या अग्नि शब्द से या बैल की आवाज़से अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मविद्या प्राप्त होगई। एक स्थान पर घमण्डी और अहंकारी पुत्र को पिता ने उपदेश किया, और एक अवसर पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश किया है। कहीं पर सीखने वाले की योग्यता पर, बिना इस ख्याल के कि वह किस जाति का है, उपदेश किया गया है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्रह्मवादी परस्पर बैठ कर तर्क-वितर्क करने लगे, और बहस करते-करते अभीष्ट परिणाम पर पहुँच गए। दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि ब्रह्मवादी

ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास ब्रह्म को सीखने के लिये गए और उनके उपदेश से ब्रह्मवेत्ता होगए। तात्पर्य यह कि ब्रह्मविद्या के अधिकारी प्रत्येक आयु के व्यक्ति, बिना स्त्रिलिङ्ग व पुलिङ्ग के विवेक के और बिना इस बात के विचार के कि वे मनुष्य थे या देवता, ऋषि मुनि थे या गृहस्थी, या संन्यासी, सब बिना वर्णाश्रम के विचार के समझे गए हैं। और अधिकारी के सिवा किसी और को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना बिलकुल वर्जित किया गया है। और कहीं-कहीं पर यह कहा गया है कि सिवाय पुत्र के या किसी ऐसे शिष्य के कि जो गुरु को पिता के तुल्य समझता हो, इस विद्या को प्रकट न करना चाहिए। और इस विद्या को प्रायः गुप्त रहस्य कहा गया है। और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, इस विद्या के उपदेश के लिये आचार्य लोग विविध शैलियां ग्रहण करते रहे हैं।

इसके प्रथम कि ब्रह्मज्ञान के विषय में सविस्तर कुछ लिखा जाय, कुछ बातें संसार और मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेद शास्त्रों के अनुसार वर्णन करना आवश्यक है, जिनको विस्तार-सहित बाबा साहब ने उपनिषदों के लेखानुसार वेदानुवचन में अंकित किया है।

संसार और मनुष्य की उत्पत्ति

संसार की सृष्टि को यदि ध्यान से देखा जाय, तो विदित होगा कि प्रत्येक वस्तु जड़ या चेतन (अर्थात् वनस्पति-वर्ग, धातुवर्ग, व प्राणिवर्ग) सब मिश्र अर्थात् विविध तत्वों से बनी हुई है। इन तत्वों को यदि सूक्ष्म दृष्टि से छाँटा जाय, तो केवल पाँच तत्त्व ही रह जाते हैं—(१) पृथ्वी अर्थात् स्थूल या जड़ तत्त्व, (२) जल अर्थात् बहने

वाला द्रवतत्त्व, (३) अग्नि अर्थात् ऊष्णता, (४) वायु अर्थात् बहनेवाला तत्त्व, (५) आकाश अर्थात् पोलापन जिसमें समस्त वस्तुओं को स्थान या निवास मिलता है। मिश्र होनाही इस बात का प्रमाण है कि किसी समय इस के परमाणु अमिश्र अवस्था में थे। उस अवस्था का नाम विविध रूप से वर्णन किया गया है। वेदों में इसके संबंध में कथा है कि ईश्वर पहले एकमेवाद्वितीयम, क्यों कब से रहित अवस्था में, सारे संसार के तत्त्व को अपने में लय किए हुए, जैसा कि मनुष्य सुषुप्ति की दशा में होता है, स्थित थे। उस अवस्था से उठने के साथ ही इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊं।" यहाँ इच्छा शब्द का अर्थ (तात्पर्य) स्वाभाविक प्रवृत्ति है, न कि ऐसी इच्छाएं जो आवश्यकता के कारण मनुष्य के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं।

जैसे जलाना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है, इसी तरह मोती का चमकना, तारों का दमकना और सूर्य का प्रकाशित होना स्वाभाविक है। तो भी कहा जाता है कि सूर्य प्रकाश दे रहा है, अग्नि जला रही है, मोती चमक रहा है। जो गुण स्वाभाविक होता है, वह अपने स्पष्ट होने में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता; परंतु गुण की स्थिरता गुणी में होने के कारण गुण चाहे गुणी का तद्रूप ही हो, तो भी गुणी को बात चीत में उस गुण का स्वामी या कर्त्ता कहा जाता है। इस लिये यद्यपि ईश्वर के स्वरूप में यह गुण स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान है कि जिसमें एक समय संसार लय होकर रहे और दूसरे समय प्रकट हो जाय—जैसे कि एक समय मकड़ी अपने भीतर से जाले को निकालती है और दूसरे समय उस जाले को

निगल कर अपने में लय कर लेती है—तो भी उस ईश्वर को जिसका यह स्वाभाविक गुण है, उत्पत्तिकर्त्ता और प्रलय-कर्त्ता के नाम से उपमा दी जाती वा वर्णन किया जाता है। इसी तरह सांसारिक प्रकृति (तत्त्व) के विकाश को उत्पत्ति और इसके लय को प्रलय कहते हैं। अतः जब उत्पत्ति का समय आया, तो अहंकार उत्पन्न हुआ। इस अहंकार ने सामूहिक रूप से सांसारिक प्रकृति के अस्तित्व को स्थिर कर दिखाया। अब इच्छा यह थी कि "एक से अनेक हो जाऊँ," तो इस सामूहिक तत्त्व वा समष्टि प्रकृति में जिसमें नाना भेदों की कोई पहचान न थी, भेद पड़ गया, अर्थात् विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई। इसने सामूहिक वा समष्टि अवस्था को भंग कर दिया और परिणाम यह हुआ कि इसमें से आकाश प्रकट हुआ। आकाश में वायु गति रूप होकर चलने लगा, चलने की गति से ऊष्णता उत्पन्न हुई, और ऊष्णता के विद्यमान होने से जो वायु में तरावट या नमी का तत्त्व था, पानी होकर बह गया। और पानी जब ठहर गया, तो इसमें से पृथ्वी तत्त्व अर्थात् जड़ पदार्थ की उत्पत्ति हुई। अब भी हम देखते हैं कि जड पदार्थ, जैसे वृक्ष या अन्य वनस्पतियां जिनसे अन्न उत्पन्न होता है, वर्षा और जल से उत्पन्न होते हैं, और जल के बिना स्थिर नहीं रह सकते, और जल के नष्ट होने पर वस्तुएँ शुष्क होकर वियुक्त और विकीर्ण होकर विलुप्त हो जाती हैं। जल की स्थिरता ऊष्णता पर अवलंबित है। जब ऊष्णता पूर्णानुमान पर होती है, तो आकाश से विविध रूप में वर्षा होती है। अग्नि की उत्पत्ति और स्थिति वायु से है, क्योंकि वायु के बिना अग्नि नहीं जलती और यदि वायु को अग्नि से पृथक् किया जाय, तो अग्नि तत्काल बुझ जाती है। अतः सिद्ध हुआ

कि वायु से अग्नि की उत्पत्ति है। हवा की स्थिति आकाश में है, क्योंकि यदि आकाश विद्यमान न हो, तो वायु गति नहीं कर सकती। जब ये पाँच तत्व पृथक् हुए, तो उनकी पारस्परिक रचना वा उत्पत्ति आरंभ हुई, जिसको संस्कृत में पंचीकरण कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी-तत्त्व का और आधा शेष चारों तत्त्वों का है; इसी तरह से जल में आधा भाग जल-तत्त्व का और शेष आधा चारों तत्त्वों का है; इसी तरह अन्य तत्त्वों की दशा है। इस रचना वा प्रक्रिया से ये पँच सूक्ष्म तत्त्व स्थूल हो गए, और उनका रूप प्रकट हो गया, अन्यथा वे सूक्ष्म अवस्था में देखने में नहीं आ सकते थे। पृथ्वी-तत्त्व से सूँघने का कारण (साधन) अर्थात् नासिका उत्पन्न हुई; जल से रस अर्थात् स्वाद; अग्नि से रूप; वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द उत्पन्न हुआ। शब्द से कान, स्पर्श से त्वचा, रूप से चक्षु, रस से जिह्वा और गंध से नाक बने। इनको पँच ज्ञानेंद्रिय कहते हैं। फिर इनसे पंच स्थूल इंद्रियाँ अर्थात् कर्मेंद्रियाँ उत्पन्न हुईं, अर्थात् पाँव चलने के लिये, गुदा मल-त्याग के लिये, जननेंद्रिय मूत्र और वीर्य गिराने के लिये, हाथ काम-धंधा करने के लिये और मुँह खाने के लिये बने ये कर्मेंद्रिय कहलाते हैं। इन ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों की स्थापना के लिये देवताओं की आवश्यकता हुई, जिनके बिना ये अपने काम को नहीं कर सकतीं। तत्त्वों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं जिनको सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण कहा जाता है। सतोगुण का स्वभाव प्रकाशमय और हलकापन है रजोगुण का स्वभाव चञ्चलता होता है, और तमोगुण का स्वभाव अंधकार वा आवरण रूप और भारीपन है। इन पाँचों तत्त्वों के

सतोगुण अंश से अंतःकरण की उत्पत्ति वर्णन की जाती है, और तमोगुण अंश से स्थूल देह की। रजोगुण अंश दोनों गुणों को गतिशील करने वाला है। वायु जिसके अर्थ चलना है, वह प्राण-रूप होकर पंच प्रकारों में विभक्त हुआ है। अन् शब्द का अर्थ संस्कृत में चलना है और प्राण शब्द का अर्थ भली भाँति चलना। जो नाक और मुँह में चलता है, उसको प्राण कहते हैं; जो भोजन को नीचे पक्काशय में ले जाकर मल बाहर गिराता है, उसको अपान कहते हैं; और जो भोजन को पचाकर देह का अंश बनाता है, उसको समान कहते हैं; जिसकी विद्यमानता से विविध अंग गतिशील होते हैं, उसको व्यान, और मरने पर जीव आत्मा जिसके साथ उड़ता है उसको उदान कहते हैं। अंतःकरण चार भागों में विभक्त हुआ है, अर्थात् उसके चार रूप दिखाई देते हैं। एक मन जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा अनुभव की गई वस्तुओं का खयाल करता है; दूसरा बुद्धि, जो उन वस्तुओं और पूर्व ख्यालों वा संकल्पों में भले-बुरे का विवेक करता है; तीसरा चित्त जो बाह्य कारणों की अनुपस्थिति में पहली देखी सुनी वस्तुओं को स्मरण करता है; चौथे अहंकार, जिसकी विद्यमानता में अंतःकरण वास्तव में पंच तत्वों का एक दिव्य वा प्रकाशमय पुतला है। जिसमें आत्मा का प्रकाश देदीप्यमान होता है। उसको संस्कृत में प्रतिबिंब बोलते हैं, और इसी को जीवात्मा कहते हैं। बिंब (अर्थात् प्रतिबिंब का स्वामी) आत्मा है। वेद में आख्यान है कि आरंभ में प्रजापति इस प्रकार प्रकट हुआ जैसे चने का दाना होता है, अर्थात् दो फाँकें जुड़ी हुई। उसने अपने आप को देखा और कहा कि "मैं हूँ", इसलिये उसका नाम "अहं" अर्थात् "मैं" होगया। अब भी जब कोई मनुष्य दूसरे को पुकारता है और पूछता है

कि तू कौन है, तो वह उत्तर देता है कि "मैं हूँ"। फिर प्रजापति को अकेला होने के कारण भय उत्पन्न हुआ, अब भी जब मनुष्य अकेला होता है, तो भयभीत हो जाता है। फिर प्रजापति ने विचार किया कि सिवाय मेरे दूसरा कोई नहीं और भय सदैव दूसरे से होता है, अतः भय दूर हो गया। अब भी जब भय होने पर मनुष्य ख़याल करता है कि दूसरा कोई नहीं, तो भय दूर हो जाता है। फिर प्रजापति ने कहा कि मुझ अकेले को कोई धंधा नहीं, दूसरे के विना कोई धंधा या प्रमोद का कारण नहीं। अब भी मनुष्य का स्वभाव है कि जब अकेला होता है, तो उदास होता है। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ प्रजापति के दो भाग होगए। एक भाग पुरुष जिसको मनु कहते हैं, और दूसरा स्त्री जिसको शतरूपा कहते हैं, ये दोनों प्रकट हुए। इस पुरुष ने स्त्री के साथ भोग किया जिससे मानवी संतति उत्पन्न हुई। ये पुरुष और स्त्री (अर्थात् मनु और शतरूपा) प्रजापति से प्रकट होने के कारण और गत जन्मों के पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फलों से सम्पन्न होकर पूर्ण समर्थवान् थे, इसलिये शतरूपा ने भोग के इस निरंतर कर्म से खिन्न होकर चाहा कि किसी प्रकार मनु उसका पीछा छोड़ दे। तब उसने अपने स्वरूप को बदल कर गाय, घोड़े आदि विविध शरीरों को धारण किया। परंतु मनु जो विषय-कामना से विवश हुआ था, उसने उसका पीछा न छोड़ा, और जिस-जिस पशु-पक्षी की आकृति शतरूपा धारण करती गई, मनु उसके नर-रूप को धारण करता गया और इस प्रकार नाना जीवों की उत्पत्ति होती गई। अंततः शतरूपा ने स्त्रीके रूप को ग्रहण किया और मनु ने पुरुष के रूप को। उस समय थक कर मनु के मन में सोच-विचार उत्पन्न हुआ कि वह क्या था और उसने

क्या करें कि , और किस लिये उसका जन्म हुआ था। तब उसने यज्ञ रचा और विधि-पूर्वक अर्थात् नियमानुसार विवाह करके संतान उत्पन्न की। उपनिषदों और पुराणों में संसार, मनुष्य तथा पशुओं की उत्पत्ति विविध भाँति से वर्णन की गई है, किंतु परिणाम सब का एक ही है, कि एक समय ऐसा था कि जब दुनिया वर्तमान रूप में न थी, पश्चात् क्रमशः उत्पत्ति मिश्रित रूप की हुई, और वृद्धि पुष्टि होती गयी। और वृद्धि वा अभ्युदय होजाने के पश्चात् फिर पतन होकर एक दिन आएगा कि फिर समस्त मिश्र तत्व वियुक्त होकर पृथक् पृथक् हो जायँगे, और वर्तमान रूप नष्ट हो जायगा, जिसको प्रलय कहते हैं, और इसी ढंग से वह सिलसिला चलता रहेगा। मानो यह ईश्वर का स्वाभाविक गुण है, जैसा कि तारों की डगमगाहट होती है, अर्थात् एक बार फैलना, दूसरी बार सुकड़ना। या जैसे सूर्य का उदय और अस्त, या मनुष्य का सोना और जागना। इसी प्रकार ईश्वर में एक बार जगत् का प्रादुर्भाव और दूसरी बार उसका लोप होना सदैव होता रहता है और होता रहेगा।

ब्रह्मज्ञान

जैसे पहले वर्णन हो चुका है, उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का उपदेश विविध अधिकारियों को विविध रीतियों से किया गया है। इस उपदेश का तात्पर्य आत्मा की पहचान है। आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है और शेष समस्त वस्तुएँ, जो आत्मा से अन्य (विलक्षण) हैं, जड़ या अनात्मा कहलाती हैं। जो व्यक्ति आत्मा और है अनात्मा के भेद को जानता, उसी को आत्मज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। जो सर्वव्यापक हो और वस्तु का तत्व (असली स्वरूप) हो, उसको आत्मा कहते

हैं। वह चूँकि सर्व व्यापक है, इसलिये वह सर्वत्र विद्यमान है, अतः खोजने से वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक अवसर पर मिल सकता है। इसलिये उसकी खोज की सर्वश्रेष्ठ विधि अपने तन में ही हो सकती है। मानवी शरीर में जो भाग स्थूल, ठोस और जड़ दिखाई देता है, उसको अन्नमय कोश कहते हैं। यह मानवी शरीर में पहला आवरण आत्मा पर है, और आत्मा इस अन्नमय कोष में व्यापक है, और इस कोष की स्थिति का कारण है। इस अन्नमय कोश के भीतर हम देखते हैं कि प्राणों का गमनागमन है। यह प्राण सारे अन्नमय कोष के भीतर फैले हुए हैं। देह के जिस भाग में प्राण की गति नहीं रहती, वह भाग जड़ या मृतक हो जाता है। जिस परिमाण में गति होती है उस सबका कारण प्राणमय कोष है। इसी की बदौलत खून चलता है और देह में गति होती है। यह दूसरा आवरण प्राणमय कोश के नाम से प्रसिद्ध है, और आत्मा में व्यापक है, और यह (प्राणमयकोष) स्वयं अन्नमयकोष में व्यापक है। इन कोषों के भीतर एक और आवरण देह में विद्यमान है जो इन से बढ़कर है और जिसको मनोमय कोष कहते हैं। क्योंकि मनके अधीन ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय काम करते हैं। पूर्व कोषों के अनुसार इस में भी आत्मा व्यापक है और यह तीसरा आवरण आत्मा को ढाँपे हुए इस तन में विद्यमान है। और स्वयं पहले दो कोषों अर्थात् अन्नमय-कोष और प्राणमयकोष में व्यापक है। इसके भीतर एक चौथा आवरण विद्यमान है जो इससे उत्तमतर है और जिसको विज्ञानमयकोष कहते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति में विज्ञान बलवान् है, वह मन और प्राणों की गति को रोक सकता है। आत्मा इस में व्यापक है और आत्मा की

विद्यमानता से इसकी स्थिति है। और यह स्वयं पहले तीन कोशों में व्यापक है। इस के भीतर एक पाँचवा आवरण है जिसको आनंदमय कोष कहते हैं। जिस समय स्वप्नहीन नींद में मनुष्य होता है, तो जागकर वर्णन करता है कि मैं बड़े आनंद में था। उस दशा में जबकि समस्त गति और गति को वश में (अधीन) करनेवाले कोष निवृत्त थे, तो इस आनंदमय कोश के आश्रय से इस शरीर की स्थिति थी। आत्मा इस कोश में व्यापक है, और उसकी बदौलत इस कोष की स्थिति है। और यह कोश शेष चारकोशों में व्यापक और उनकी स्थिति का हेतु है। इन कोषों में व्यापक होता हुआ भी आत्मा इन कोशों से असंग और निःसंबंध है। इसका व्यक्तिगत उदाहरण यह हो सकता है कि किसी बहुमूल्य वस्तु के ऊपर पांच गिलाफ (आवरण) चढ़े हुए हों, तो यद्यपि ये आवरण अपनी विद्यमानता और स्थिति में उस वस्तु विशेष के आश्रयी भूत होते हैं, किंतु उस वस्तु को अपने अस्तित्व के लिये आवरणों की आश्यता नहीं होती और न आवरणों के कारण वह वस्तु उनके साथ कोई ऐसा संबंध उत्पन्न करती है कि उनकी पृथकता से उस में कोई दोष उत्पन्न हो जाय।

इसी प्रकार आत्मा को मांडूक्योपनिषद् में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं से असंग अर्थात् निः संबन्ध बड़ी स्पष्टता से दिखलाया है। देखो, जब मनुष्य जागता है, जीवात्मा जाग्रत् का द्रष्टा होता है, जब जाग्रत् की जगह स्वप्न की अवस्था होती है, तो उस दशा में स्वप्न की दशा का साक्षी होता है, और जब गहरी अर्थात् स्वप्नहीन निद्रा की दशा होती है, तो आनंद और बेखबरी

का साक्षी होता है, अर्थात् जाग्रत् की दशा में जीव-आत्मा स्वप्नवाली और स्वप्न-हीन निद्रा की अवस्थाओं के आश्रय (अधीन) नहीं होता। और अब सोया हुआ स्वप्न देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न रहित निद्रा की दशाओं के अधीन नहीं होता। और जब स्वप्न रहित निद्रा की दशा को देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न की दशाओं के अधीन नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि यह आत्मा प्रत्यक अवस्था में प्रत्येक तीनों दशाओं से पृथक् और निः सम्बन्ध और (निराश्रय) है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अपनी स्थिति और अपने विद्यमानता के लिये जीवात्मा के अधीन वा आश्रयीभूत हैं, किंतु जीव-आत्मा अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये किसी अवस्था के अधीन (आश्रित) नहीं। यह सत्य है कि जीवात्मा को इन अवस्थाओं से पृथक हमने कभी नहीं देखा, जब देखा, तो किसी अवस्था में विद्यमान देखा। तो भी यह भली भाँति सिद्ध है कि जीवात्मा जो एक समय केवल अपनी एक अवस्था में विद्यमान होता है, उस अन्य दो अवस्थाओं से बिलकुल असंग होता है, इसी तरह जब दूसरी अवस्था में विद्यमान होता है, उस समय पहली और तीसरी अवस्था से असंग होता है; और जब तीसरी अवस्था में विद्यमान होता है, तो पहली और दूसरी अवस्था से असंग होता है। अतः प्रत्येक अवस्था में वह असंग और स्वतःस्थित रहता है। इस जीवात्मा में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं होता, अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। जैसे एक प्रोफ़ेसर एक कमरे में बैठ कर शिक्षा देता है, और चार विभिन्न श्रेणियाँ विभिन्न समयों पर उससे शिक्षा पाती हैं, एक समय पहली श्रेणी उससे शिक्षा प्राप्त करती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी

श्रेणी उस कमरे में प्रोफ़ेसर के सम्मुख आ उपस्थित होती है, और कहा जाता है कि प्रोफ़ेसर शिक्षा दे रहा है, इसी तरह से तीसरी और चौथी श्रेणी एक के बाद दूसरी (आती और शिक्षा पाती है)। चारों श्रेणियों के परिवर्तन-काल में प्रोफेसर ज्यों का त्यों अपने कमरे में स्थिर बैठता है, परन्तु विभिन्न श्रेणियाँ उसके सम्मुख आती हैं और उनमें से किसी न किसी श्रेणी के साथ उसका सम्बन्ध वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार से जीवआत्मा सदैव असंग विद्यमान रहता है, और उसके सम्मुख जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक अवस्था के साथ उसका क्षणिक सम्बन्ध वर्णन किया जाता है, यद्यपि वास्तव में आत्मा असंग और निस्सम्बन्ध होता है। आत्मा की यह खोज मानवी देह में की गई है, और आत्मा को देह से पृथक् करके दिखलाया है। इसी ढंग पर यदि शेष वस्तुओं की खोज (जाँच पड़ताल) करें, तो परिणाम ऐसा ही हाथ लगेगा। दृष्टान्त रूप से जैसे हम एक लाठी या एक पत्थर के टुकड़े की परीक्षा करें, तो ज्ञात होगा कि लाठी का जो रूप आँख के द्वारा दिखाई देता है, वह लाठी के ऐसे गुण हैं जो नेत्र के ज्ञान में आ सकते हैं। इसी तरह जो गुण शब्द इत्यादि कानों से सुने जाते हैं, वह कान के ज्ञान में आने वाले हैं; जो स्वाद से सम्बन्ध रखते हैं, वह जिह्वा से जाने जा सकते हैं; वैसे ही जो नाक से जाने जा सकते हैं और जो त्वच् से ज्ञात हो सकते हैं, वह सब लाठी के गुण हैं, (पर वे) लाठी नहीं हैं। क्योंकि जो कुछ हमने आँखों से देखा, वह रंग और रूप था; जो कानों से सुना वह उसका शब्द था; जो जिह्वा से अनुभव किया, वह उसका स्वाद था; जो त्वक् से ज्ञात किया, वह उसकी कोमलता और कठोरता

इत्यादि गुण थे। जो नाक से सूँघा गया, वह उसकी गंध थी। अतः जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ, वह सब लाठी के गुण थे, लाठी नहीं थी। इसी तरह जो लाठी के गुण मन के द्वारा ज्ञात हुए, वह भी सब लाठी के गुण हैं, लाठी नहीं हैं, इसी तरह जो गुण अब तक प्रकट नहीं हो चुके हैं और अप्रकट हैं, वह भी गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। अतएव जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ है या मन के द्वारा जाना गया, या जो अब तक अप्रकट है, वह सब गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। असल लाठी अर्थात् आत्मा तो मन और वाणी से परे है, इसलिये जाना नहीं जा सकता। जो कुछ जाना गया वह केवल गुण हैं, पराधीन वा परतंत्र हैं, स्वतः स्थित वा स्वतंत्र नहीं हैं; अथवा वस्तु की लम्बाई चौड़ाई है, वस्तु स्वयं नहीं है; गुण-मात्र हैं, वास्तविक वस्तु नहीं है, और अपनी विद्यमानता में लाठी के अस्तित्व के अधीन है, किंतु लाठी उन गुणों के अधीन वा आश्रय नहीं है, क्योंकि जब वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ था, और केवल बीज ही विद्यमान था, तो जो गुण लाठी के हमने ज्ञानेंद्रिय और मन के द्वारा मालूम किए, वह विद्यमान नहीं थे, और जब बीज से वृक्ष उत्पन्न होकर लाठी के गुण विद्यमान हुए, तो लाठी उन गुणों की, जो बीज की दशा में अप्रकट थे, मोहताज (अधीन वा आश्रित) न रही; और जब फिर लाठी को जला दिया जाय तो दोनों पूर्व के गुण लुप्त हो जाते हैं, तौ भी लाठी का अस्तित्व (अर्थात् स्वरूप) स्थित रहता है, और वह उन गुणों के अधीन (आश्रय) नहीं होता। अतः लाठी का ठीक स्वरूप उसका आत्मा ही है जो अपने अस्तित्व में स्वतः स्थित है, और किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है। परंतु इस लाठी के आश्रय जो गुण हमने परिवर्तन होने

वाले देखे, वह स्वतः स्थित नहीं, बरन् परस्थित और परिवर्तनशील ज्ञात हुए। इसी तरह यदि समस्त सृष्टि की छान बीन की जाय, तो जो कुछ दृश्य में आ रहा है उस सब का तत्व केवल नाम और रूप ही निकलेगा, और जो नाम और रूप का अधिष्ठान आत्मा है, वह मन और वाणी से परे पाया जायगा। इसलिये उसकी चिंता करने का प्रयास निरर्थक है। जो कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह सब नाम और रूप में है, और जो इनसे परे है, उसमें वाणी की गति नहीं। इसलिये क्यों कब (के हेतु) से अतीत और प्रत्येक स्थान और प्रत्येक महल(आधार)में एक ही प्रकार का है, क्योंकि भिन्नता या नानत्व या द्वैत का उल्लेख किस प्रकार हो सकता है। अतः प्रत्येक वस्तु जो नाम रूप रखती है, सब का आत्मा एक ही है, जिसमें किसी प्रकार के अन्तर वा भेद की जगह नहीं। यह आत्मा सब स्थान में होने से सर्वव्यापक है; सब का आश्रय है, इसलिये सब का अधिष्ठान है; समस्त चेष्टाएँ और गतियाँ उस के आश्रय से होती हैं, इस लिये वह कर्त्ता माना गया है; चूँकि नाम-रूप से असंग और निःसम्बन्ध भी है, इस लिये इसी को अकर्त्ता भी बोलते हैं।

पंचकोश और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था की व्याख्या और लाठी के उदाहरण से सिद्ध है कि आत्मा पँचकोशों से ढका हुआ, सब में व्यापक, सब का आधार, और सब से निराला तथा असंग है। मांडूक्योपनिषद् में आत्मा को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी वर्णन किया है जो कि अवस्थाओं के परिवर्तन का द्रष्टा है और उनके परिवर्तनों से स्वयं परिवर्तित नहीं होता, बरन् सदैव एक रस साक्षीरूप से अपने स्वरूप में स्थित रहता है। लाठी के

उदाहरण से दिखलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु जो नाम-रूप रखती है, उसमें जो कुछ ज्ञानेंद्रिय के द्वारा ज्ञात होता है या जो कुछ मन के द्वारा जाना जाता है, या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और भविष्य में जाना जा सकता है, वह सब गुण हैं, परिवर्तन होने वाले हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं हैं। जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वह मन और ज्ञानेंद्रियों से परे है। और ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं का आधार आत्मा है, जो इसी कारण से कि मन और ज्ञान इंद्रियों की उस तक पहुँच नहीं क्यों कब के हेतु से अतीत, और अनुपम कहा जाता है। अतः जब यह आत्मा सर्वतो-भावेन नाम-रूप से अलग और उनका अधीन नहीं, तो किसी प्रकार भी यह कर्त्ता नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा क्योंकर कर्त्ता होकर दिखलाई देता है और मनुष्य-शरीर में कौन कर्त्ता है? हम पहले मनुष्य-शरीर की जाँच (विवेक) कर चुके हैं और हमने देखा है कि बाह्य स्थूल आवरण अन्नमयकोश रूपवाला है जो तीन रूप वाले तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि से बना हुआ है; दूसरा आवरण प्राणमयकोश है जिसमें वायु की प्रधानता है; तीसरा मनोमयकोश है जिसको अंतःकरण भी कहते हैं, और अंतःकरण तत्त्वों के सतोगुण अंश अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्व से बना हुआ है। इस अंतःकरण के सूक्ष्म अंश का नाम विज्ञानमय कोश है। और इस शरीर में यही विज्ञानमय कोश कर्त्ता, जाननेवाला, निर्णय करने वाला माना गया है। अंतः करण पंच तत्त्वों का सूक्ष्म अंश है, इसलिये निर्मल है। पत्थर में मनुष्य के रूप का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता, परन्तु दर्पण में जो पत्थर के उत्तम (शुद्ध) अंशों से बनाया जाता है प्रतिबिंब पड़ता है। इसी तरह तत्त्वों की

समष्टि के स्थूल अंश में आत्मा का प्रकाश नहीं होता, परन्तु उसके सूक्ष्म और निर्मल अंश में आत्मा का प्रकाश होता है। इस प्रकाश को आनंदमयकोश या जीवात्मा कहते हैं। जब तक अंतःकरण का अस्तित्व स्थिर रहता है, इस प्रकाश का अस्तित्व आत्मा से भिन्न होकर ज्ञात होता रहता है। हम पहले जतला चुके हैं कि दर्पण में जो रूप दिखाई देता है, वह असली स्वरूपसे जिसका वह प्रतिबिंब है, पृथक् नहीं होता, बरन् वही होता है। और मैं ने अपनी अँगरेज़ी पुस्तक "वैदिक फ़िलासफ़ी" में विस्तार-पूर्वक दिखलाया है कि रूप दर्शाने वाले दर्पण में जो प्रतिबिंब दिखलाई देता है, वह साइंस के नियमों के अनुसार असल ही प्रतिबिम्बित होकर दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि जो सिद्धांत सूर्य या अन्य प्रकाशों की किरणों के प्रतिबिम्बित होने के सम्बन्ध में है, वही सिद्धांत दृष्टि की किरणों के संबंध में है। सूर्य विराट स्वरूप का नेत्र है, उसी तरह मानवी देह में दृष्टि का जो करण (साधन) है, वह नेत्र है। दोनों अर्थात् सूर्य और मनुष्य का नेत्र एक ही तत्त्व के बने हुए हैं, केवल अंतर बड़े और छोटे या स्थूल और सूक्ष्म होने का है। सिद्धांत यह है कि जब किरणें किसी स्वच्छ वस्तु पर पड़ें और उसमें से रुकावट के कारण बचकर आगे न जा सकें (जिस तरह शीशे की पीठपर क़लई चढ़ाने से रुकावट पैदा की जाती है),

अ ह

तो वह लौट आती है। जैसे द —\/— ज। अब किरण
ब

ज-द तल पर पड़कर अ-ब-द कोण बनाती है, मगर अ-ब किरण लौटते समय अ-ब-द कोण का समान-रेखा में काटकर ब-ह की रेखा में लौटती है। और यह जो वस्तुएँ 'ह' स्थान

पर विद्यमान हों, उनको दिखाती है। क्योंकि नियम यह है कि लौटते समय जो किरण के किसी निर्मल तल पर पड़ने से कोण उत्पन्न होता है, प्रतिबिंबित किरण उस कोण को समान काट कर लौटती है, और उस लौटने में जिस जगह पर जाकर रुकती है, उसको दिखाती है। देखी गई वस्तु वास्तव में आँख की उस किरण ने जो आँख से निकल कर गई थी (परन्तु कलई की रुकावट के कारण जो दर्पण के पीछे है, लौट आई है) देखी है, दर्पण में कोई रूप दिखाई नहीं दिया। यदि दर्पण में कोई आकृति उत्पन्न होती, तो बहुत-सी आकृतियों के उत्पन्न होने से दर्पण मैला होजाता या बहुत मनुष्य एक ही दर्पण को सामने रख कर नाना रूपों को न देख सकते, और संभव नहीं था कि एक छोटे-से दर्पण के टुकड़े में मनुष्य समस्त आकाश या बड़े-बड़े पहाड़ों या दृश्यों का परिदर्शन कर सकता। देखने का तत्वज्ञान यह है कि मन दृष्टि-किरणों के द्वारा बाहर निकल कर जिस वस्तु के साथ टकराता है, उसकी आकृति में तदाकार हो जाता है, और इस मन की आकृति से विज्ञान आत्मा परिचित हो जाता है, और ये रूप विज्ञानमय कोश से होकर जब आनंदमय कोश में प्रविष्ट होते हैं, तो वहाँ मन और बुद्धि की गति न होने के कारण एक समष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं। परन्तु मन का किसी वस्तु के साथ टकराना मन को गतिशील (चंचल) और तरंगायित करता है, और इस मौज (तरंग) को वृत्ति कहते हैं। जब वह वृत्ति आनंदमय कोश में चली जाती है, तो उसको संस्कार बोलते हैं। प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार गति जब एक बार उत्पन्न हो जाती है, तो कभी बंद नहीं होती, वरन् निरंतर जारी रहती है। परन्तु जब सम्मुख कोई विरोधी

वस्तु विद्यमान हो, तो टकराती है, और यदि विरोधी वस्तु को वह गतिशील न कर सके, तो प्रत्यावर्तित (वापिस) होती है। यहाँ गति-प्राप्त वस्तु ख्याल या मन की वृत्ति है। वह आनंदमय कोश में गई हुई अविदित-सी हो जाती है, परन्तु नष्ट नहीं हो जाती। क्योंकि हम देखते हैं कि जब मन को ख्याल से रोका जाय और हम समाधि करने के उद्देश्य से अलग एकांत में बैठ जायँ और समस्त ज्ञानेंद्रियों को रोक लें, तो बिना किसी कामना के वरन् रोकने की कामना की विद्यमानता में भी वह वृत्तियाँ मन में आकर विद्यमान होती हैं जो चिर काल से विस्मृत हो चुकी थीं। इनका आगमन उस समय बलात् ज्ञात होता है, इसलिये पाया जाता है कि जो वृत्तियाँ संस्कार-रूप होकर आनंदमय कोश में गई थीं, वह किसी विरोधी वस्तु से टकराकर प्रत्यावर्तित (वापिस) हुई हैं। जो कुछ नेत्रों के द्वारा उत्पन्न वृत्तियों और संस्कारों के प्रत्यावर्तन के विषय में उल्लेख किया गया है, वह अवशिष्ट ज्ञानेंद्रियों से उत्पन्न वृत्तियों और संस्कारों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इस वर्णन से स्पष्ट सिद्ध है कि वास्तव में मालूम करने का करण (साधन) मन है, और वह चक्षु-वृत्ति अर्थात् दृष्टि के द्वारा बाह्य वस्तुओं के रूप को धारण करता है। अतः दर्पण दृष्टि की किरणों को प्रतिबिंबित करने का एक द्वार है और वास्तव में असल वस्तु जिसको आँख अपने आप से नहीं देख सकती, दर्पण के द्वारा देखती है। दर्पण में एक गुण यह भी है कि बड़े को छोटा करके दिखाता है और सीधे को उलटा करके दिखाता है। पानी में हम देखते हैं कि वृक्ष की चोटी नीचे और जड़ का स्थान ऊपर को दिखाई देता है। दर्पण में हमारा मुख दर्पण की ओर होता है, परन्तु

जो प्रतिबिंब दर्पण में है, क्योंकि दृष्टि की किरणें टकरा कर वापिस अपने मुख मंडल पर पड़ती हैं, इसलिये मुख मंडल को उल्टा अर्थात् अपनी ओर को मुख किए हुए दिखलाती हैं। एक और विचित्र बात भी हम दर्पण में देखते हैं कि दर्पण के हिलने से असल वस्तु प्रतिबिम्बित रूप से हिलती हुई दृष्टिगोचर होती है। दर्पण की गति असल वस्तु की गति प्रतीत होती है। इसी तरह हम देखते हैं कि अंतः करण में आत्मा जो सर्व व्यापक है, परिच्छिन्न और छोटा-सा मालूम होता है; जो सर्व शक्तिमान है, वह शक्तिहीन और दुर्बल ज्ञात होता है; जो स्वयं सर्व व्यापक होने के कारण शांत वा स्थिर है, अंतः करण की गति के कारण चञ्चल वा अस्थिर प्रतीत होता है। आत्मा सत्-चित्-आनंद-स्वरूप है। सत् इस लिये कहते हैं कि सदैव विद्यमान रहता है, कभी परिवर्तन या पतन को नहीं पाता; चित् इसलिये कहते हैं कि साक्षी रूप है, और स्वयं किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं पाता; और आनंद इस कारण से है कि स्वप्न-रहित निद्रा (सुषुप्ति) में हमने देखा है कि चञ्चलता वा चेष्टा, परिवर्तन, और कुछ भी भान न होने के कारण मनुष्य आनंद पाता है, और इसी लिये उसको आनंदमय कोश, अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ आनंद की अतिशयता है, कहते हैं। चूँकि यह केवल प्रतिबिंब है, इस लिये इसको पूर्णानंद नहीं कहा गया, और आत्मा जो मूल है, वह शुद्ध और पूर्णानंद है।

ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि अंतःकरण की मिलावट से जो प्रतिबिंब उस में पड़ रहा है, वह हिलता हुआ मालूम होता है, और प्रतिबिम्ब के हिलने से मूल वस्तु (बिम्ब) के हिलने की कल्पना की जाती है। यह केवल अज्ञान और अविद्या के कारण मालूम होता है। अन्यथा यह भली भाँति

ज्ञात हो चुका है कि आत्मा जो सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है। उसमें गति का स्थान नहीं, क्योंकि गति अन्तरिक्ष वा पोलेपन में होती है। जहाँ आत्मा से भिन्न अन्तरिक्ष वा पोलापन हो, वहां आत्मा गति कर सकता है। परंतु जब हम दिखला चुके हैं कि आकाश का भी अधिष्ठान और आश्रय आत्मा ही है, तो फिर आत्मा किस स्थान पर गति करे, और किस जगह को छोड़कर कहाँ दूसरी जगह पर जावे। इस बात का विचार ही असंभव और दुस्तर है। अतः जीवात्मा की जो गतियां दृष्टि में आती है, वह अंतः करण की हैं जिसमें जीव-आत्मा प्रतिबिंब-रूप से विद्यमान है। वास्तविक आत्मा अर्थात् बिंब की नहीं हैं, क्योंकि उसमें गति की सामर्थ्य दुर्लभ है। इस "वेदानुवचन" ग्रंथ में बाबा नगीनासिंह साहब ने दीपक और सूर्य के उदाहरण से दिखलाया है कि साक्षी उन गतियों का जो उसकी विद्यमानता में हों ज़िम्मेदार नहीं होता; और जो कर्म उसकी विद्यमानता में हों, उनसे वह सदैव मुक्त और असंग रहता है। इसी तरह से जान लेना चाहिए कि अंतःकरण की गति से जीव आत्मा और उसका बिंब आत्मा सदैव असंग और स्वतंत्र और अलग रहते हैं, परंतु जिस तरह अनजान लोग आकाश को जिसका कोई रूप नहीं है, नीला या आँधी के कारण गरदीला (मैला) कहते हैं, उसी तरह अज्ञानी लोग अंतः करण की गति को जीवात्मा में स्थापित करके उसको कर्त्ता-भोक्ता, पाप-पुण्य और भले-बुरे से विशिष्ट करते हैं, अर्थात् अंतः करण के गुण जीवात्मा के गुण वर्णन किए जाते हैं। किंतु जब यह अज्ञान दूर हो जाता है, तो फिर स्पष्ट होता है कि जीवात्मा असंग साक्षी रूप है। संभव है

कि अब यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस संसार के उत्पन्न करने का प्रेरक कौन है? और अंतः करण और अन्य वस्तुओं में गति किस प्रकार होती है, और कौन इसका हेतु है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि सांसारिक प्रकृति एक गुणवती प्रकृति है। जिस तरह मनुष्य की परछाईं मनुष्य के साथ रहती है, इसी तरह से यह तत्त्व जिसको माया या अविद्या या प्रकृति बोलते हैं, आत्मा के साथ छाया रूप से स्थित रहता है। जिस तरह से लाठी के गुण लाठी में छाया-रूप से स्थिर रहते हैं, लाठी से अलग नहीं रह सकते, जिस तरह तारों का डगमगाना तारों से भिन्न नहीं है, इसी तरह यह छाया आत्मा से अलग नहीं है। इसका खुलना जगत् की उत्पत्ति है, इसका सकुचना जगत् की प्रलय है। यह छाया आत्मा के एक देश अर्थात् भाग में रहती है, जैसे मनुष्य की छाया मनुष्य में। इस लिये इस छाया में चूँकि यह सर्व-व्यापक नहीं, कल्पित गति का भान होता है। इस प्रकृति अर्थात् छाया के विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि यह तीन गुणों का समूह है, और इन तीन गुणों में रजोगुण शुद्ध गति-रूप है, अतः हिलना इसका स्वाभाविक गुण है, और इसका हिलना आत्मा की एक महिमा है। और हिलने का प्रत्यावर्तन, जो वह भी एक प्रकार की गति है जिसको प्रलय कहते हैं, आत्मा की दूसरी महिमा है। ये दोनों महिमाएं अपने अस्तित्व और विकाश के लिये आत्मा की अपेक्षा रखती हैं, आत्मा इनकी अपेक्षा नहीं रखता। समस्त प्रकृति का एक अंश गति-रूप है, इस लिये प्रत्येक वस्तु में गति का आविर्भाव पाया जाता है, और गति सदैव चेतन से भिन्न पदार्थ में होती है। चेतन साक्षी सदैव एक रस रहता है। अंतः करण जो

सांसारिक प्रकृति का सत्व-अंश है, उसमें बहुत स्पष्ट रूपसे गतिका आविर्भाव प्रतीत होता रहता है। इसमें सिवाय निर्विकल्प समाधि या सुषुप्ति के ऐसा कोई समय नहीं कि जब गति मालूम न हो। अन्य भौतिक वस्तुओं में मलिनता वा तमोगुण के कारण जैसे पत्थर में स्थूल दृष्टि से गतिका दर्शन वा आविर्भाव ज्ञात नहीं होता, परंतु विज्ञान की दृष्टि से सब को मालूम है कि गति प्रत्येक वस्तु में हर समय जारी रहती है। और यही कारण हर वस्तु के पतन और अभ्युदय के होने का है। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष के तत्ववेत्ताओं ने दृष्टि-सृष्टिवाद का वर्णन किया है। वह कहते हैं कि प्रत्येक क्षण में नई सृष्टि उत्पन्न होती है। क्योंकि गति के कारण उसमें प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होता रहता है। इस बात के वर्णन में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि गति भौतिक प्रकृति का स्वाभाविक गुण है, और यह सदैव होती है और होती रहेगी। इस की गति को अनजान लोग चेतन आत्मा और जीव आत्मा की गति वर्णन करते हैं, जो बिलकुल गलत और सिद्धांत के विरुद्ध है। यह दृष्टि उनकी वैसी ही है जैसा कि कोई दर्पण की गति को प्रतिबिंब या बिंब की गति खयाल करे। इसी तरह से कुछ लोग अंतःकरण के धर्मों को जीव आत्मा के धर्म मान लेते हैं। जैसे बालक चन्द्रमा के ऊपर बादलों को चलते हुए देखकर कहते हैं कि चन्द्रमा दौड़ता चला जाता है; या रेलमें बैठे हुए हम स्वयं दौड़े चले जाते इधर-उधर की स्थिर चीज़ों को दौड़ते हुए देखते हैं। इसी तरह असंग और अकर्ता आत्माको अनजान लोग संगी और कर्ता कहते हैं, वास्तवमें गति और माया की क्रिया तथा उसके कार्य ज्ञानेंद्रियों और अंतःकरण आदि के धर्म हैं।

मुक्ति

मुक्ति शब्द का अर्थ है बंधन से स्वतंत्रता प्राप्त करना। अब प्रश्न यह है कि किसको स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, और वह बंध जिस से मुक्ति प्राप्त करनी है किस प्रकार का है? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है और परिपूर्ण है। इस लिये वह किसी प्रकार से भी बंदी नहीं हो सकता। अब रहा जीव-आत्मा। जीवात्मा की खोज हम कर चुके हैं। आत्मा का अंतःकरण में जो भान या आविर्भाव हो रहा है, उस आविर्भाव को जीवात्मा कहते हैं। जब तक अंतःकरण का अस्तित्व स्थिर रहता है, उस में आत्मा के सत् चित आनंद स्वरूप का आविर्भाव बराबर बना रहता है, और अंतःकरण की विद्यमानता के कारण आत्मा से वह पृथक हो कर दिखाई देता है, और प्रत्यक व्यक्ति आत्मासे भिन्न अस्तित्व रखती प्रतीत होती है। इसका उदाहरण ब्रह्मविद्या का रहस्य जानने वाले गुरु अपने विशेष सुयोग्य और प्रियशिष्यों को रहस्य-विद् करने के लिये कह दिया करते हैं कि सूर्य की धूप दिन में एक मकान की दीवार पर पड़ कर उसको प्रकाशित करती है, पर एक कमरे में एक मोमबत्ती चारों दीवारों को प्रकाशित करती है। परन्तु यदि सूर्य या मोमबत्ती के सामने एक स्वच्छ कलईदार दर्पण रख दिया जाय, तो दर्पण के परिमाण के अनुसार एक दूसरा प्रकाशमय टुकड़ा सूर्य या मोमबत्ती के प्रकाश से प्रकाशित दीवार पर प्रकट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि दर्पण को हिलाओ, तो यह प्रकाशित टुकड़ा हिलता दृष्टिगोचर होता है और तोड़ फोड़ डालो तो टूटा फूटा हुआ मालूम होता है। यह प्रकाश दुगना प्रकाश है अर्थात् एक तो प्रकाश दीवार पर पहले हो सूर्य का था, परंतु उस के ऊपर

दूसरा प्रकाश दर्पण के प्रतिबिंब का प्रकट हो कर सूर्य के प्रकाश से पृथक दिखाई देने लगा, और दर्पण की गति से गति शील ज्ञात हुआ। इसको बाबा नगीनासिंह साहब जैसे रहस्यविद् ब्रह्मवेत्ता द्विगुण ब्रह्म बोलते हैं। ब्रह्म तो सर्वत्र विद्यमान है, परंतु जहाँ अंतःकरण का दर्पण विद्यमान हो, वहाँ चैतन्य आत्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) सामान्य चेतन से दुगना और उस से पृथक् दृष्टिगोचर होता है। चेतन आत्मा तो अकर्त्ता, अभोक्ता और असंग है, परंतु यह द्विगुण ब्रह्म जिस को सामान्य भाषा में जीवात्मा कहते हैं. अंतः करण की गति के कारण गतिशील, भोक्ता और संगी प्रतीत होता है। वास्तव में जिस तरह आत्मा जो असल में बिंब है असंग और अकर्त्ता-अभोक्ता है, वैसा ही उसका प्रतिबिंब भी है जो कि आत्मासे भिन्न नहीं। परंतु इसी के साथ २ वह दर्पण की उपाधि के कारण दर्पण के बंध और उस की गति से गति करने वाला और टूटे हुए दर्पण से टूटी हुई आकृति वाला और दर्पण के दूर होने से दूर हो जाने वाला प्रतीत होता है, और जब तक यह दर्पण स्थित रहता है, उस समय तक अज्ञानी को जीवात्मा स्वतः स्थित मालूम देता है, और वह उसी को कर्ता-भोक्ता और ज्ञानी-अज्ञानी, दुखी-सुखी, जन्मता-मरता समझता है। लेकिन ज्ञानवान् दर्पण की विद्यमानता के होते हुए भी जीवात्मा को इस के कारण कि वह स्वयं आत्मा ही है और केवल दर्पण के द्वारा प्रतिबिम्बित हुआ भिन्न होकर दिखाई देता है, ठीक आत्मा ही जानता है, और निश्चय करता है कि आत्मा से जीवात्मा भिन्न नहीं, बरन् वही है। एक सूर्य के सामने यदि दस हज़ार दर्पण या पानी से भरे हुए बर्तन रख दिए जायँ, तो प्रत्येक दर्पण में और प्रत्येक बर्तन में एक-एक सूर्य

दृष्टिगोचर होगा, तो भी सब कोई जानता है कि सूर्य एक है। परन्तु दर्पणों और पानी से भरे हुए वर्तनों की उपाधि के कारण प्रत्येक दर्पण और वर्तन में अलग-अलग सूर्य दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह ज्ञानवान जानता है कि आत्मा एक ही व्यापक है, मगर जुदा-जुदा अन्तःकरणों की उपाधि से अलग-अलग हुआ दृष्टिगोचर होता है जिस तरह यदि दर्पण में लकीर पड़ जाय और दर्पण दो टुकड़े होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, तो प्रतिबिंब में वह दोष विद्यमान हो जाते हैं और दर्पण की लकीर प्रतिबिम्बित वस्तु में लकीर और उलट पलट होती दिखलाती है, यद्यपि प्रतिबिम्बित वस्तु ज्यों की त्यों स्थित होती है। इसी तरह अन्तःकरण की बनावट के दोष या उसका उलटा-पलटापन जीव-आत्मा को विकारी अर्थात् पुण्य या पाप वाला, उत्साह वाला या अनुत्साह वाला होने का भान वा प्रतीत कराता है। आत्मा का इन गुणों या दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं, वह ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में स्थित रहता है। अब हम देखते हैं कि जब तक अन्तःकरण का दर्पण स्थिर रहता है, तब तक जीवात्मा बँधा हुआ और कर्त्ता-भोक्ता के समान मालूम होता है और जन्मता-मरता एक आवागवन-चक्र में भ्रमता मालूम होता है।

आवागवन का कारण कर्मों की गति के संस्कार हैं, जो मरने के समय आनंदमय कोश अर्थात् जीव-आत्मा में बीज के रूप में रहते हैं। जिस तरह बीज को उपजाऊ भूमि में डालने से उसकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह जब ये संस्कार अन्तःकरण में प्रत्यावर्तित वा पुनरावर्तित होते हैं, तो भोग दिलाने योग्य देह को उत्पन्न करके इच्छाओं को पूरा करते हुए और नवीन कर्मों को कराते हुए भविष्य संस्कारों का समुच्चय बढ़ाते हुए संसार में जीवात्मा को भड़काते रहते हैं। जब

परमात्मा की कृपा से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और मैल दूर हो जाता है, और उपासना तथा ध्यान से अन्तःकरण का विक्षेप दूर होकर स्थिर दर्पण की भाँति वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और उस का विज्ञान बलवत्तर हो जाता है, और मन उस के अधीन हो जाता अर्थात् वश में आ जाता है. तब निर्विकल्प समाधि-अवस्था में मन का वेग स्थिर हो जाता है, और जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, जिस तरह स्वप्न रहित नींद अर्थात् सुषुप्ति से जाग्रत् होकर उस अवस्था के आनंद का अनुभव करता हुआ उसकी गवाही (साक्षी वा शहादत) देता है, उसी तरह से अज्ञान रूपी नींद से जागा हुआ और समाधि से उठ कर विज्ञान-आत्मा निर्विकल्प समाधि में स्थित रहने वाले आत्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप से वर्णन करता है। जब विज्ञान आत्मा इस तरह से आत्मद्रष्टा हो जाता है, तो फिर उस को अभिलाषित वा रुचिकर पदार्थों के प्राप्त करने की या अनभिलाषित वा अरुचिकर पदार्थों के दूर करने की इच्छा नहीं रहती। फिर न उस का कोई शत्रु होता है न मित्र। जब कि यह अपने आप को स्वयं सब का आत्मा देखता है, तो फिर किस से प्रेम करे और किस से द्वेष? जब यह अवस्था होती है, तो विविध पदार्थों में इस की लालसा नहीं रहती, इसलिये भविष्य के लिये कोई नए विचार उत्पन्न नहीं करता, और जो कुछ करता है विवश की तरह करता है, चाव से नहीं करता। अतः जो चेष्टाएं इस के कर्म से उत्पन्न होती हैं वह अत्यंत दुर्बल होती हैं, वरन् इस सीमा तक कि ज्ञान-इन्द्रियों की चेष्टाओं से मन भी प्रभावित या गतिशील नहीं होता, और यदि मन में तरंग उत्पन्न भी हो जाय, तो विज्ञान की सुदृढ़ दीवार से टक्कर खाकर

प्रत्यावर्तित होता है, और विज्ञान रूपी शासक ऐसी गतियों को आनंदमय कोषमें जाने की कदापि आज्ञा नहीं देता। जिस प्रकार से प्रकाशित और शक्तिमान हुआ ज्ञानीपुरुष का विज्ञान बाह्य विचारों के भीतर आने को बाधक होता है, उसी तरह उन संस्कारों को जो आनंदमय कोष में अनेक जन्मों से संचित हैं, अंतःकरणमें जो संस्कारों के विकाश पाने की भूमी है, प्रत्यावर्तन के लिये बाधक होता है। क्योंकि अब उसको भविष्य की आवश्यकताओं के सोचने की आवश्यकता नहीं रहती, और नहीं कोई इच्छाओं को पूरा करने का संकल्प ही शेष रहता है। जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए शुभ या अशुभ कर्मों के फल अर्थात् भोग उस को मिलते हैं बिना किसी द्वेष या प्रीति के उनको भोगता है, और सबसे अलग और उदासीन रहता है। अब उसको न कोई दुखका कारण है और न सुख का। न उसको कोई पतन का भय है और न सांसारिक सुखों की प्राप्ति का आनंद। न उसका कोई शत्रु है न मित्र। न उसका कोई संबंधी है न वह किसी का बंधु है। माता और पिता, लाज-शर्म से परे। ऐसा संपन्न (लापरवाह), जिसको कोई ज़रूरत शेष नहीं। ज्येष्ठ से ज्येष्ठ और लघु से लघु, पवित्र से पवित्र और मैले से मैला, ऊँचासे ऊँचा और अधम से अधम, बड़े से बड़ा और छोटेसे छोटा, तात्पर्य यह कि सब कुछ उसको प्राप्त हो जाता है, सब में सब कुछ वह अपने आप को देखता है, आनंदरूप जीवनयापन (व्यतीत) करता है। यह अवस्था ज्ञानवान् के जीवन में होती है, और इस अवस्था की दृष्टि से वह जीवन-मुक्त कहलाता है। मरने पर उसकी कोई गति नहीं होती। उस के प्राण वायु में, उसकी ऊष्णता अग्नि में, पानी पानी में और पृथ्वी पृथ्वी में समा जाते हैं।

अंतःकरण उसका असंभव (बनजर) भूमि की तरह हो जाता है, जिसमें न तो खाद डाली जाती है, न कोई बीज बोया जाता है। और 'विज्ञान' ने जब जीवात्मा को काल्पनिक बंधन से छुटकारा दिलाया, तो स्वयं उसको भी अब कोई काम करना शेष न रहा। जिस प्रकार अग्नि जंगल से उत्पन्न होकर जंगल को जलाकर स्वयं लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार फिटकरी आदि वस्तुएँ मैले पानी में डालने से मैल-सहित नीचे बैठ जाती हैं; उसी तरह माया के सतोगुण अंश से उत्पन्न हुआ ज्ञान भेद-भावना के आवरण को, जो जीवात्मा और परमात्मा का काल्पनिक भेद था, दूर करके स्वयं भी विराट के विज्ञानमय कोश में समा जाता है। इसी तरह अंतःकरण के अन्य अंश विराट के अंतःकरण में समा जाते हैं। अंतःकरण रूपी दर्पण के अंश पृथक-पृथक् होने से दर्पण लुप्त होजाता है। दर्पण के दूर होने से जो बिंब उसमें चेतनाभास रूप होकर दिखलाई देता था स्वयं ही दूर हो जाता है, और कहा जाता है कि जीवात्मा मुक्त होगया, अर्थात् जो त्रिगुण ब्रह्म अंतःकरण के दर्पण के कारण से था, दूर होगया। जैसे दीवार पर जो दर्पण के कारण से दूसरा प्रकाश पड़ता है, दर्पण के दूर करने से दूर हो जाता है। इसी तरह से जीवात्मा जो अपने असल अर्थात् ब्रह्मसे पृथक होकर दिखलाई देता था, अब अंतःकरण के नष्ट होने से दिखलाई नहीं देता। यही मुक्ति है। संस्कृत के तत्ववेत्ताओं का कथन है कि संसार में वस्तु के प्राप्त करने के दो उपाय हैं। प्रथम यह कि यदि किसी के पास कोई वस्तु न होवे और वह उसको मिल जाय, उसको अप्राप्त की प्राप्ति कहते हैं; दूसरे वह कि इष्ट वस्तु पास मौजूद हो, परंतु भूल के कारण स्मरण न रही हो

और जब याद आ जाय तो कहता है कि "जिस वस्तु की मैं खोज में था, वह मुझ को मिलगई", इसको प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं। यही हाल मुक्ति का है। कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं की गई। आत्मा सदैव मुक्त और असंग था और रहेगा। यही दशा उसके प्रतिबिंब की है। जो असल का तद्रूप है। परंतु अज्ञान के कारण अपने आपको पृथक मानकरके सुखी दुखी होता हुआ मालूम होता था, अब अज्ञान दूर हुआ, तो समझता है कि मुक्ति प्राप्त हुई। वास्तव में कोई नई वस्तु नहीं मिली। प्राप्त वस्तु तो पहले ही से मौजूद थी। इस लाभ को प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं।

ज्ञानवान के मरने पर कहा गया है कि उसके देह के तत्त्व विराट के तत्वों में और उसका अंतः करण विराट के अंतःकरणमें समा जाता है। जो आकार वा व्यक्तित्व सूक्ष्म शरीर का था, वह टूट जाता है, और जो अंतः करण की विद्यमानता के कारण जन्म-मरण होता था, वह नहीं होता, किंतु जो संचित कर्म संस्कार रूप से आनंदमय कोश में विद्यमान थे और जिनको विज्ञानमय कोश ने अंतः करण में वापिस लौटने से रोक रक्खा था, इनके विषय में वर्णन नहीं किया गया कि उनकी क्या दशा हुई। ये संस्कार शुभाशुभ कर्मों के फल होते हैं, आनंदमयकोष और अंतः करण जिनके साथ इनका संबन्ध था, इन दोनों के नाश होने पर ये निराश्रय (निराधार) हो जाते हैं। परंतु प्रकृति (nature) के भीतर हम देखते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं और इस विषय को संक्षेप से इस रूप में वर्णन किया गया है कि "कुनद हमजिन्स बा हमजिन्स पर बाज़"=एक समान वृत्ति के सज्जन एकत्र उड़ा करते हैं, अतः जो लोग ज्ञानवान्

व्यक्ति के देह के नाश होने पर उसके बुरे कर्मों का स्मरण करते हैं, तो बुरे संस्कार अपना संबंध ऐसे लोगों के साथ उत्पन्न कर लेते हैं, और जो व्यक्ति उसके शुभ कर्मों का स्मरण करते हैं, शुभकर्मों के संस्कार उनके साथ संबंध पैदा कर लेते हैं। और इस कारण सामान्य लोग जब किसी मृत व्यक्ति को मरघट पर ले जाते हैं, तो कहा करते हैं कि मरे हुए के शुभ कर्मों को स्मरण करना चाहिये उसके अशुभ कर्मों की चर्चा न करनी चाहिए। और सामान्य रीतिसे सब कोई उपदेश करते हैं कि मृत व्यक्ति के बुरे कर्मों को मत स्मरण करो। वास्तव में उसका कारण यही है कि सब लोग नहीं जान सकते कि जो व्यक्ति मरता है, वह ज्ञानवान् था या अज्ञानी। अतः वह डरते हैं कि यदि वह व्यक्ति जो मर गया है ज्ञानवान था, तो उसके संचित कर्मों के संस्कार निराधार हुए। याद करने वाले व्यक्ति के साथ संबंध उत्पन्न न कर लेवें, और मृत के पापों का फल उसके दुष्कर्मों को स्मरण करने वालों को भोगना पड़े, और शुभ कर्मों को इस लिये स्मरण करने की शिक्षा करते हैं कि उससे मृत पुरुष के पुण्य कर्मों का फल उनको प्राप्त हो जाय।

मैं आशा करता हूँ कि इस प्रस्तावना के पढ़ने वालों को ब्रह्मज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सहायता मिलेगी। जो लोग वेदानुवचन को ध्यान देकर पढ़ेंगे, और बार-बार पढ़ कर समझने का प्रयत्न करेंगे, उनके अज्ञान का आवरण अवश्य दूर हो जायगा। और उनको मुक्ति प्राप्त होगी और इस संसार में जीवन मुक्ति का सुख पावेंगे। ओं शांतिः, शांतिः, शांतिः।

हरनारायण

जनवरी, १९१० [होममिनिस्टर रियासत जमू और कशमीर

वेदानुवचन

श्री बाबा नगीनासिंह कृत वेदी, आत्मदर्शी

भूमिका

(१) बाबा नगीनासिंह वेदी ऋषि मुनि का यह संग्रह केवल वेद भगवान् की शिक्षा के लिये अलग किया गया है और भाषा जाननेवाले महाशयों के मिलाप के लिये अच्छा वकील बनाया गया है। अतः जो कोई उसकी सुनता है, वह उन्हें समझ का एक पदक प्रदान करता है जिससे वह बिना रोक टोक द्यौलोक में, जो ब्रह्मलोक है, चला जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है।

(२ उसकी शिक्षा वास्तव में मानुषी नहीं वरन् वही दैवी है जो परमेष्ठी आदिक ऋषियों ने स्वयं ब्रह्मा से पाई है और दो वंश के ऋषियों के द्वारा—जो एक पुरुष-वंश है, दूसरा स्त्रीवंश—हम तक चली आई है।

(३) अब मैं घोषणा करता वरन् तुम्हें शुभ-संवाद सुनाता हूँ कि वेद-भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि तुम्हारे मिलाप के लिये दैव ने एक अनादि नियम ठहराया है जिसके कारण तुम ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो सकते हो और मुक्ति-भुक्ति पा सकते हो।

(४) वह उसी प्रकार का नियम है जैसा कि यहाँ गवर्नमेंट का वादा है कि जो संसार की विद्याओं का सार्टि-फ़िकेट प्राप्त कर लेता है और अच्छे आचरण का होता है, वही सरकारी सेवा के योग्य समझा जाता है और शासकों के दरबार में स्थान पाता है।

(५) मैं सच कहता हूँ कि जिस प्रकार सांसारिक वा व्यावहारिक, विद्या की बदौलत तुम संसार की संपत्ति

कमाते हो और यहाँ के शासकों के सम्मुख तुम्हें कुर्सी मिलती और सम्मानित किए जाते हो, इसी प्रकार इस ईश्वरीय शिक्षा के कारण तुमको ब्रह्मलोक के भोग मिल सकते हैं और उस के धाम विशेष में उच्च आसन पा सकते और सम्मानित किए जा सकते हो।

(६) बरन् जिस प्रकार यहाँ अपनी-अपनी योग्यता के कारण सरकारी नौकरियाँ मिलती हैं और अधिकार भी प्रदान किए जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मलोक में भी अपनी-अपनी करनी-करतूत के अनुसार तुम्हें ब्रह्मलोक की सेवाएँ मिल सकतीं और आत्मिक अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।

(७) यहाँ की विद्याओं में यद्यपि तुम उत्तीर्ण हो जाते हो, किंतु जब तक जगह ख़ाली नहीं होती, तब तक तुमको प्रतीक्षा करनी पड़ती है और फिर भी नियत पद तक उन्नति हो सकती है, स्वयं गवर्नमेंट या सम्राट् नहीं हो जाते; किंतु इस दैवी-शिक्षा में यह भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती और इस में उन्नति यहाँ तक है कि तुम प्रजापति से मेल पाकर स्वयं प्रजापति हो जाते हो।

(८) इस उन्नति का लाभ यह है कि तुम सत्य-संकल्प और सत्यकाम हो जाते हो और जो इष्ट पदार्थ यहाँ परिश्रम से भी नहीं मिलते, वहाँ संकल्प से पा लेते हो। जैसे यहाँ सुंदर स्त्रियाँ कठिनता से मिलती हैं, अथवा माता, पिता भ्राता-पुत्र, जो मर गए हैं, किसी प्रकार भी नहीं मिल सकते, वहाँ संकल्प से ही मिल जाते हैं।

(९) जब चाहो कि सुंदरी स्त्रियाँ मिलें, तो संकल्प से स्त्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और जब चाहो कि माता-पिता भ्राता-पुत्र हमको मिलें, तो वे भी संकल्प से ही पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वादु भोजन, सुंदर वस्त्र, और उत्तम

भवन, निदान जो कुछ चाहो बाग़-बाग़ीचा, नहरें, सब संकल्प से प्राप्त हो जाते हैं और यही ब्रह्मलोक है।

(१०) अतः आओ, मेरी सुनो और मुझ पर भरोसा करो। मैं तुम्हारे मिलाप के लिये अच्छा वकील अथवा उत्तम द्वार बनकर आया हूँ। मैं तुम्हें उन पदार्थों को दिखाऊँगा जिन्हें आँखें नहीं देखतीं, और कान नहीं सुनते, तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने जिन्हें तुम्हारे लिये ब्रह्मलोक में तैयार किया है। उसके मिलाप का आनन्द एक विशेष सुख है जिसे परमानंद कहते हैं और जिसे पाकर मनुष्य मुक्त होजाता है।

(११) कदाचित् कोई कहे कि यह क्योंकर हो सकता है? यह तो कठिन बल्कि अति कठिन है; क्योंकि ये बातें केवल प्रलाप हैं, सम्भव नहीं; काल्पनिक हैं, निश्चित नहीं; शाब्दिक हैं, प्रामाणिक नहीं; तो मैं समझाए देता हूँ कि ईश्वरीय नियम में कुछ भी कठिन नहीं, बरन् सब संभव है। इसलिये मैं उन सिद्धान्तों का वेद भगवान् से संग्रह करके अनुवाद करता हूँ कि जिससे तुम्हें इसका विश्वास आ जाय।

(१२) क्योंकि जब तक सुनता नहीं तब तक जानता नहीं, जब तक जानता नहीं तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक विश्वास नहीं करता तब तक चलता नहीं। अतएव पहले सुनता है, फिर जानता है, फिर विश्वास करता है, और फिर आचरण करता है।

(१३) वेदों का सार-तत्व यह है कि मनुष्य अन्त में देवता हो जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है। और इस मिलाप के लिये केवल दो साधन हैं—एक तो कर्म-कांड है, दूसरा ज्ञान-कांड। समस्त वेद इन्हीं दो साधनों की विशद शिक्षा देते हैं।

(१४) कर्म-कांड वास्तव में एक ईश्वरीय रसायन (या Spiritual chemistry) है जिस के द्वारा मनुष्य अपना भौतिक शरीर बदल कर दिव्य शरीर धारण करता है; और ज्ञान-कांड वास्वत में उस भेद की पहचान है, जिस के द्वारा मनुष्य सब में सब कुछ हो जाता है और परमात्मा के विशेष सुख में,जो परमानन्द है, पहुँच जाता है।

(१५) पहिले साधन के द्वारा तो मनुष्य ब्रह्म के गुणों और शक्ति में राह पाता है और जो चाहता है, कर सकता है, किन्तु उस के स्वरूप और उस के आनन्द में प्रविष्ट नहीं होता; और दूसरे साधन से तो उस में प्रवेश भी पाता है और वही हो जाता है।

(१६) फिर पहले साधन में बड़ी-बड़ी शास्त्रीय कठिनाइयाँ और तप एवं व्रत की तकलीफें होती हैं और उन का फल भी बनावटी होता है, जो विविध और नाशमान है, इस कारण दुःख और शोक से बिलकुल रहित नहीं; किन्तु दूसरी साधना में शास्त्रीय कष्ट कुछ भी नहीं होते वरन् स्वतंत्रता है। और उस का फल भी असली और नित्य है, विविध नहीं, बरन् एक है, अतएव शुद्ध है, उस में कुछ भी दुःख-शोक नहीं।

(१७) यह भी है कि पहले साधन में जैसा करता है वैसा पाता है, क्योंकि मज़दूरी मज़दूर का हक़ है, इस लिये यह पद न्याय का है; किन्तु दूसरे में जो कुछ मिलता है, मुफ्त या नक़द मिलता है, कुछ भी करना नहीं पड़ता, इस लिये यह प्रसाद (फ़ज्ल) का पद है।

(१८) यद्यपि यह प्रसाद का पद बहुत बड़ा है जिस के सब इच्छुक हैं, किन्तु इस का मिलना एक विशेष भेद की पहचान पर निर्भर है,इस लिये वही इस का अधिकारी होता

है कि जो विमल बुद्धि और पवित्र हृदय रखता है। और यह भी स्पष्ट है कि अन्तःकरण और बुद्धि की शुद्धि कर्म के विना नहीं हो सकती, इस लिये प्रसाद के अभिलाषियों का पहला पग कर्म है, फिर ज्ञान।

(१६) इसी कारण वेदों में कर्म-कांड का वर्णन पहले किया जाता है और ज्ञान को अन्त में सिखाया जाता है। हम भी इस शिक्षा में पहले कर्मकांड के सिद्धांत और फिर ज्ञान-कांड के सिद्धांतों का अनुवाद करेंगे। किन्तु उतना ही जितना कि भाषा जानने वाले महाशयोंके लिये उपयुक्त समझा गया है। जिन्हें सब की चाह हो, वे स्वयं वेद भगवान् से जानें।

(२०) अब हम अपने ईश्वर-परमात्मा का मंगलाचरण करते हैं कि हम ने जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसे हम पूरा करें और जो कुछ हम लिखें, वेद के अनुकूल हो और हमारे शिष्य जो श्रद्धा और भक्ति से उसे पढ़ें प्रसाद का साक्षात्कार पावें, जिस के कि हम सब अभिलाषी हैं।

(२१) इस लिये कि यह शिक्षा हमारी काल्पनिक नहीं बरन् वेदों से ली गई है, जो ईश्वरीय है, अतः इस का नाम भी "ईश्वरीय-शिक्षा" कहा जाता है। यद्यपि यह भाषा में अनुवादित कर दी गई है, तो भी अर्थ की दृष्टि से यह सम्पूर्ण वेदों का अनुवचन अर्थात् ईश्वरीय वाणी है।

स्वामी रामतीर्थ ।

कर्म-कांड ।

पहला अध्याय ।

(१) कर्मकांड-शास्त्र वेदों में एक मनोरंजक शास्त्र है जिस के द्वारा भौतिक मनुष्य तेजोमय देवता बन सकता है। लेकिन अनजान मनुष्य ख़याल करता है कि यह किस प्रकार हो सकता है? यदि वह विचार करे, तो ईश्वरीय नियम (कानूने-कुदरत) में कुछ भी कठिनता नहीं है। क्योंकि वह अल्प विचार से जान सकता है कि जब तक वह मनुष्य नहीं बना था, तो क्या था और कहाँ था?

(२) वह तत्काल निश्चय कर सकता है कि वह एक

अपवित्र जलबिंदु था, जो पिता के वीर्य स्रोत में रक्खा हुआ था। लेकिन जब समय आया, तो प्रकृति ने उसे माता के गर्भ में, जो गर्भाशय है, सींचा। फिर वहाँ से वह प्राकृतिक परिपाक के द्वारा लोथड़ा, बुद्बुद, कलकल, निकट प्रसव बालक (जनयन) होगया और नियत समय पर मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ और जीवित प्राणी हो गया। इस कारण वह निश्चय पूर्वक जान सकता है कि यह पानी से बनाया गया है।

(३) अभी और अधिक विचार करना चाहिए कि जब वह पिता के वीर्य स्रोत में वीर्य नहीं बना था, तो कहाँ था और क्या था? मैं विश्वास करता हूँ कि वह अल्प विचार से ही तत्काल जान लेगा कि इससे पहले वह केवल अन्न था, जिसे उसके पिता ने खाया। फिर वह पिता के पक्वाशय में पचा और उसका रस यकृत में गया और रक्त हुआ। फिर रक्त होकर प्रत्येक अंग में आहार हुआ और उनसे निचोड़ की तरह इसका खुलासा (सार) वीर्य के स्रोत में आया और वीर्य के रूप में प्रकट हुआ।

(४) अन्न का वास्तविक रूप एक घास-पात है, जो धरती से निकलती है। इससे मालूम हुआ कि वह किसी समय धरती के गर्भ में था और इसने उसको वनस्पति के रूप में जना, और फिर वह मनुष्य के पिता का आहार हुआ। इस तरह की सोच-विचार से वह निश्चय कर सकता है कि वह आरंभ में मिट्टी था और मिट्टी से निकल कर, दैवी-प्रकृति के द्वारा रूप बदलता हुआ मनुष्य हो गया।

(५) अभी इसको यहाँ पर विश्राम नहीं देना चाहिए, वरन् देखना चाहिए कि वह अब सदैव इसी मनुष्य-बोले

में नहीं रहेगा। बल्कि प्रकृति के नीचे पल्टा खाता पहले बालक, फिर जवान, फिर बूढ़ा होता हुआ अंत में एक नियत समय पर वह मर जाता है और फिर धरती में गर्भित होकर मिट्टी हो जाता है, उस समय निश्चय होता है कि जहां से आया था, वहां ही फिर चला गया।

(६) यह न समझ लेना चाहिए कि अब फिर वह धरतीसे नहीं निकलेगा,बल्कि वह फिर घास-पातके रूप में निकलेगा, क्योंकि दैवी-विधान यही है कि जो गर्भ में आता है, वह जन्म अवश्य पाता है; और जो बोया जाता है, वह अंत में उगता है। फिर यह भी संभव नहीं कि वह सदैव मनुष्य का ही आहार हुआ करे, बल्कि हो सकता है कि वह पशु-पक्षियों या कीट-पतंगों का आहार बने। ऐसी दशा में वह उनके नर-नारियों द्वारा पशु-पक्षी या कीट-पतंगा हो जाता है।

(७) अतः मालूम हुआ कि मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत विचित्र पल्टे खाता हुआ कुछ का कुछ हो जाता है। अनजान मनुष्य की बुद्धि आरंभ में चकित हो जाती है, पर अंत में वह निश्चय कर सकता है कि वह कभी मनुष्य, कभी पशु हो जाता है, कभी पशु पक्षी बनकर चरता और उड़ता और कभी ऊंट-गधा बनकर लादा जाता और मार खाता है।

इसी तरह ऐ भाइयो! तुम प्रत्येक चोले और प्रत्येक रूप में सैर करते कभी मिट्टी होते हो, कभी बनस्पति, और कभी जीवित प्राणी हो जाते हो। यह वही अद्भुत चक्कर है जिसको वेदविद् ब्राह्मण जन्म-मरण का संसार-चक्र कहते हैं।

८) यह न समझ लेना चाहिए कि वह इसी तरह सदैव भूलोक में चकराता है, बरन् संभव है कि इसका

वास्तविक रस (द्रव वा सत्य) जो विविध मूर्तियों का कारण है, सूर्य के प्रभाव से वाष्प के रूप में आकाश को उड़े और बादल बन जाय। फिर बादल (मेघ) से विजुली और विजुली से तेज बनकर किरणों में जा मिले और किरणों द्वारा सूर्य-गर्भ में चला जाय। सूर्य में इसी तरह घास-पात के रूप में पैदा होता हुआ द्यौलोक निवासियों का आहार बनता है, जिस को देवता कहते हैं। और वहाँ, उसी नियम से, नर-नारी देवताओं में भ्रमण करता हुआ देवता ही हो जाता है। इसी तरह हम विश्वास करते हैं कि भूलोक का प्राणी द्यौलोक का प्राणी अथवा मनुष्य देवता हो सकता है। दैवी-विधान में यह कुछ भी कठिन नहीं है।

——:o:——

दूसरा अध्याय

(१) अब वेद भगवान् के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा, बरन् समस्त नक्षत्र वसुदेवता हैं, अर्थात् देवताओं की बस्तियाँ हैं। अतः जिस प्रकार पृथ्वी पर सृष्टि बसी हुई है, उसी तरह सूर्य, चंद्रमा और समस्त नक्षत्रों में भी सृष्टि का निवास है। इसी कारण कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण पृथ्वी को "भूलोक", सूर्य को "सुरलोक", और चंद्रमा को "सोमलोक" कहते हैं।

(२) जिस तरह पृथिवी पर की सृष्टि पृथ्वी से निकली हुई खाकी (मृतिकामयी) और अंधकारमयी होती है, उसी तरह चंद्रमाकी सृष्टि चंद्रमा से निकली हुई चंद्रबदन तथा सूर्य की सृष्टि सूर्य से निकली हुई सूर्यबदन अर्थात् ज्योतिर्मयी

होती है, और इसी को विद्वान् लोग परलोक वा द्यौलोक बोलते हैं। यह एक भिन्न परलोकीय चक्र उसी प्रकार चलता है जैसा कि पृथिवी चक्र में संकेत किया गया है। देखो, चंद्रमा पृथिवी की अपेक्षा शीतल, शांत और प्रकाशमय ग्रह है, अतः उस की सृष्टि के प्राणी भी शीतल, शांत और प्रकाशमय होते हैं।

(३) यहाँ की नारियाँ भौतिक शरीर रखती हैं, वहाँ की नारियाँ चंद्रवदनी होती हैं और अधिक सुन्दर, अधिक सुकोमल एवं अधिक मनोहर हाव-भाववाली होती हैं। उन्हीं को स्वर्ग की सुन्दरियाँ अथवा अप्सरा कहते हैं; और नरों को जो चंद्रवदन होते हैं यक्ष या गंधर्व बोलते हैं। यह चंद्रलोक ही वास्तव में स्वर्ग है।

(४) फिर यहाँ के खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ भी चाँदनी (चमकीली) होती हैं, इस लिये बड़ी शीतल, बड़ी सुहावनी, सुस्वादु और सुखकर होती हैं वरन् ऐसी विचित्र होती हैं कि भौतिक प्राणियों के खयाल में भी नहीं आतीं। इसी कारण ब्राह्मण यहाँ के निकृष्ट भोग छोड़कर चंद्रलोक के भोगों की अभिलाषा में व्रत और तप करते हैं।

(५) पार्थिव पहनावा (तनु) तमामय है, इस कारण आत्मा के चमत्कार इस में पूर्णतया नहीं होते, वरन् निकृष्टतया होते हैं। उस लोक में शारीरिक पहनावा (देह) प्रकाशमय है, इसी कारण आत्मिक चमत्कार शुद्धतर प्रकट होते हैं। यही कारण है कि वहाँ के प्राणी अपने-अपने मनोरथों के पाने में समर्थ और सन्तुष्ट होते हैं।

(६) सूर्य सब नक्षत्रों की अपेक्षा अधिक प्रकाशमय है। यहाँ की सृष्टि सौर और संकल्पमय तन रखती है। शरीर-

भाव की वहाँ गति नहीं, और यह सब से सुन्दर शोभायमान है, यहाँ के भोग और सुख सब से बढ़कर हैं। क्योंकि उन के सौर-तन जितने ही शुद्ध हैं, आत्मिक प्रभाव उतने ही अधिक पूर्ण और प्रबल हैं। इसी कारण यहाँ की सृष्टि सत्य काम और सत्य संकल्प होती है और यही लोक सुरलोक और यहां की सृष्टि (जनता) सुर देवता कहलाती है।

(७) वेद की श्रुतियां सूर्य को अमृत का यूप समझती हैं और देवताओं को मधु-मक्षिका की भांति ख्याल करती हैं, जो इस अमृत को खाते हैं। और सर्वोपरि इस में परमेश्वर-दर्शन का आनन्द है कि यहां वह प्रजापति का दर्शन भी पा सकते हैं।

तीसरा अध्याय

(१) कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण कहते हैं समस्त संसार, क्या लोक, क्या परलोक, समष्टि-रूप से, अग्नि का एक दैवी कारखाना है, जिस में ५ बड़े-बड़े एंजिन अर्थात् अग्निकुण्ड जल रहे हैं। मनुष्य इसी कारखानेमें रूप पर रूप बदलता हुआ कभी पार्थिव, कभी चांद्र, और कभी सौर मूर्तियां धारण करता रहता है। पहला एंजिन सूर्य है, दूसरा एंजिन बादल (मेघ) है, तीसरा एंजिन पृथिवी है, चौथा एंजिन नर है, पाँचवाँ एंजिन नारी है।

(२) जब यह परलोक में मरता है, तो उसे सौर-एंजिन में झोंकते हैं और वहां से वह मेघ-एंजिन में आता है, फिर बादलों से बरसता हुआ पृथिवी-एंजिन में गर्भित होता

है। पृथिवी से घास-पात होकर नर-एंजिन में खाया जाता है। नर-एंजिन से फिर नारी-एंजिन में गिराया जाता है। इस तरह स्वर्गीय पार्थिव और दिव्य पुरुष मृन्मय (खाकी) हो जाता है।

(३) जब यह भौतिक प्राणी यहां मरता है, तो पहले भौतिकाग्नि में जलाया जाता है, और भौतिक अग्नि से बादल-एंजिन में. और बादल-एंजिन से सूर्य-एंजिनमें चढ़ता है, और वहां के नर-नारी में होता हुआ फिर दिव्य देवता हो जाता है।

(४) * प्रवाहन राजा ने, जिसे जैबली भी कहते हैं जब उद्दालक मुनि को इस विद्या की शिक्षा दी, तो इन पंचविध टुकड़ों को एंजिन से नहीं वरन् होम की अग्नि से उपमा दी है। यह उपमा एंजिनों की उपमा से उचित भी है, क्योंकि इनमें मानवी गति भी उसी क्रिया से होती है जो होम कहलाती है। हम इसको आध्यात्मिक रसायन कहते हैं।

(५) प्रवाहन ने कहा—हे गौतम, वह द्यौलोक होम की प्रथम अग्नि है। उसमें सूर्यको जलती लकड़ियोंके समान समझो कि होम की अग्नि में जलती हैं, और सूर्य की किरणें मानों धुआँ-सा निकलता है। दिन मानों अग्नि की ज्वाला है, चंद्रमा उसका अंगारा है और तारे मानों उसकी चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में जब देवता (दिव्य-शक्तियां) †श्रद्धा

---

* देखो छांदोग्योपनिषद् अध्याय ५ खंड ३ से १० तक; और कुछ अंतर से यही वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण २ में भी है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण १४।८।१६ में भी सविस्तर वर्णित है।

† यहाँ श्रद्धा से अभिप्राय वह भावनारूप आहुतियाँ हैं कि जो यजमान ने प्रथमाग्नि में होमी हुई हैं और अब वासनारूप में यजमान के साथ हैं।

को होम करते हैं, तो यह (जीव) सोमराज अर्थात् चन्द्र-लोक-वासी होजाता है।

(६) दूसरी अग्नि होम की मेघ अर्थात् बादल है। वायु उसमें जलती-सी लकड़ियाँ है, धुंध उसमें धुआँ-सा निकलता है, बिजली उसमें ज्वाला-सी है, बिजली का गिरना या ओलों का बरसना मानों उसके अंगार हैं, बिजली की कड़क चिनगारियाँ-सी हैं। जब देवता (दिव्य शक्तियाँ) चन्द्रलोक-वासी सोमराज को उसमें होम करते हैं, तो वह वर्षा होकर बरसता है।

(७) होम की तीसरी अग्नि पृथिवी अर्थात् भूलोक है। संवत्सर उसकी जलती हुई लकड़ियाँ हैं, आकाश मानों उसमें धुआँ-सा उठता है, अँधेरी रात उसकी ज्वाला है, दिशाएँ मानों अंगार हैं और अवान्तर दिशाएँ मानों उसकी चिनगारियाँ हैं। जब देवता वर्षा को उसमें होम करते हैं, तो वह अन्न बन जाता है।

(८) फिर नर मानों होम की चौथी आग है। उसकी वाणी या खुला हुआ मुँह मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, साँस का निकलना मानों धुआँ का निकलना है, जिह्वा मानों ज्वाला है, आँखें मानों अंगारा हैं, इंद्रियां मानों चिनगारियाँ हैं। जब देवता अन्न को उसमें होम करते हैं, तो वह वीर्य होता है।

(६) फिर इसी तरह नारी मानों होम की पाँचवीं अग्नि है। उसका उपस्थ (काम-मंदिर) मानों जलती-सी लकड़ियाँ हैं, उसके समिल्लोम (मिलाप-प्रेरणा) मानों धुआँ-सा निकलता है, उसकी योनि मानों ज्वाला है, और उसमें भीतर-प्रवेश मानों अंगारा हैं, और जो उसमें विष-

आनंद है, वही मानों चिनगारियाँ हैं। जब देवता * वीर्य को इसमें होम करते हैं, तो वह मनुष्य हो जाता है।

(१०) फिर बताया कि संसार-चक्र में पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, वरन् सब नक्षत्र विश्राम-स्थान वा मार्ग-निवास (पड़ाओं) की भाँति हैं, जिनमें जीवात्मा एक मार्ग-निवास से दूसरे मार्ग-निवास (पड़ाओं) तक यात्रा करनेवाला यात्री-सा समझा जाता है, परन्तु जिस प्रकार पृथिवी से मनुष्य तक पहले बनस्पति, फिर रक्त, फिर वीर्य, फिर लोथड़ा, फिर बुदबुद और फिर निकट-प्रसव बालक होता हुआ मार्ग समाप्त करता है, उसी तरह हर एक मार्ग-निवास से दूसरे मार्ग-निवास तक नियमानुसार क्रम-विशेष है जिनमें एक रूप से दूसरे रूप में पलटता जाता है, और इन क्रम-विशेषों को कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण सड़कें (पथ) समझते हैं।

(११) ऊर्ध्व और अधो गतियों की संख्या कठिन होने के कारण, इन सड़कों की भी संख्या जो इनमें विद्यमान हैं, अवश्य कठिन सी है। तो भी सूर्य जो संसार का केंद्र है, वास्तव में संसार की राजधानी है, और समस्त तारे तथा पृथिवी जो उसके चारों ओर चक्कर खाते हैं, उसके देश और शासनाधीन हैं।

(१२) फिर प्रत्येक नक्षत्र के चारों ओर उसके विशेष चन्द्र चक्कर देते हैं, इसलिये एक सड़क तो वह है जो पृथिवी से सीधा सूर्य को, जो संसार का केंद्र है, जाती है और दूसरी सड़क वह है जो चन्द्रमा को जाती है और चन्द्रमा से फिर वह प्रत्येक नक्षत्र में जाता है। और तीसरी सड़क

* यहां देवता से तात्पर्य प्राण हैं जो अधिदैवत में इन्द्रादि देवता हैं, वही अध्यात्म में प्राण आदि इन्द्रिय हैं।

वही है जो पृथिवीको आती है। ये तीनों सड़कें या अन्धकारमयी हैं या प्रकाशमयी। क्योंकि जिन सड़कों में उसको तमोमय रूप प्राप्त होते हैं और जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में अचेत-सा रहता है, वे तो तमोमयी सड़कें कहलाती हैं; परन्तु जिन सड़कों में उसको ज्योतिर्मय रूप मिलते हैं और जीवात्मा स्वप्न की दशा में सचेत-सा यात्रा करता है, वे प्रकाशमयी सड़कें कहलाती हैं।

(१३) जो सड़क सूर्य को जाती है, जो प्रजापति की मुख्य राजधानी है, वह प्रकाशमयी सड़क है। यहाँ ब्रह्मलोकवासी देवता जो सुर देवता कहलाते हैं, उन का बसेरा है, इसलिये इस सड़क को (जो देवलोक को जाती है) 'देव-यान' मार्ग बोलते हैं। परन्तु शेष दो सड़कें, जो चन्द्रमा और पृथिवी को जाती हैं, तमोमयी हैं। किन्तु उस सड़क को, जो चन्द्रलोक को जाती है, पितृयान-मार्ग कहा करते हैं, क्योंकि प्राणी जब चन्द्रमा को जाता है, तो पहले पितृलोक में जाता है, जो सोमलोक के निकट का मार्ग-निवास अर्थात् सोमलोक के पास की मंज़िल है।

(१४) देवयान की सड़क बाईं ओर से और पितृयान की सड़क दाहिनी ओर से जाती है, जैसा कि अभी ही मालूम होगा। और फिर उस का आरम्भ अग्नि की ज्वाला से और इस का आरम्भ धूम्र से होता है, इस लिये उस को उत्तरायण या अर्चि-मार्ग और इस को दक्षिणायन या धूम्र-मार्ग कहा करते हैं।

(१५) ये दोनों सड़कें, जो देवयान और पितृयान हैं, वास्तव में ऊर्ध्व-मार्ग हैं, और वह अकेली सड़क जो पृथिवी को जाती है, अधो-मार्ग है। और वह वही है, जिस का

ऊपर वर्णन किया गया है कि धरती से वनस्पति, वनस्पति से रक्त, रक्त से वीर्य और वीर्य से मनुष्य हो जाता है।

(१६) यह सड़क बिलकुल तमोमयी है। इस में जीवात्मा घन सुषुप्ति में अचेत-सा चला जाता है। परन्तु जब वह ठीक गर्भ में जन्म लेने के निकट होता है, तो स्वप्न की तरह वह स्वप्नावस्था में खुलता है और पहले जन्म-जन्मांतर के वृत्तांतों को प्रत्यक्ष देखता है, फिर जब वह गर्भ से बाहर आ जाता है, तो जागता-सा हो जाता है और वह देखी हुई स्वप्नावस्था स्वप्न व कल्पनामात्र हो जाती है, और उस समय इंद्रियों के अभी पूर्ण न होने के कारण उस की स्मृति भी जाती रहती है।

(१७) स्मरण रहे कि इन तीनों सड़कों का रास्ता आग से फटता है। क्योंकि जब शव को उस के उत्तराधिकारी भौतिक अग्नि में अन्तिम होम करते हैं, तो वह तीन रूपों से ख़ाली नहीं होता। या तो उस का असली सार जो मूर्तियों का तत्व वा कारण है जलकर अग्नि की ज्वाला हो जाता है, या धुँआँ या भस्म।

(१८) जब वह ज्वाला होता है, तो उसे अर्चि-मार्ग के प्रारम्भ का अवसर मिलता है कि जो सूर्य को जाता है और जिस पर यात्रा करके वह देवलोक को जाता है। परन्तु जब वह धुएँ के रूप में उड़ता है, तो उसे उस सड़क के आरम्भ करने का अवसर मिलता है कि जो चंद्रमा को जाती है और जिस पर यात्रा करके वह पितृलोक को गमन करता है। किन्तु जब वह भस्म होकर धरती में गिर जाता है, तो उसे उस सड़क के आरम्भ करने का अवसर मिलता है कि जो अधो-मार्ग है, और जिस पर चलता हुआ वह कीट-पतंग आदि योनियों को पाता है।

(१६) जब उपर्युक्त नियमानुसार वह ज्वाला हो जाता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष से बाईं ओर की छुमाही, जो उत्तरायण में सूर्य के रहने से तय होती है, हो जाता है। और इस छुमाही से फिर वह संवत्सर हो जाता है और संवत्सर से सूर्य में मेल पा जाता है जो देवलोक का मुख्य द्वार है,

(२०) परन्तु जब वह धुआँ होकर उड़ता है, तो धुआँ से अन्धेरी रात और अंधेरी रात से कृष्ण-पक्ष और कृष्ण-पक्ष से दाहिनी ओर की छुमाही जिस में सूर्य दक्षिणायन में रहता है, हो जाता है। वहां से यमलोक में जाता है जो पितृलोक भी कहलाता है। यमलोक से चंद्रमा में जाकर सोमराज हो जाता है, और स्वर्गवासी कहलाता है।

(२१) फिर इस ऊर्ध्व-मार्ग के भी तमोमय होने के कारण जीवात्मा इस में भी निद्रा में निमग्न रहता अचेत-सा चला जाता है, जैसा कि वनस्पति से लेकर निकट-जन्म भ्रूण तक यात्रा होती है। तो भी जब वह यमलोक में जाता है, जो सोमराज की उत्पत्ति के निकट स्थान है, तो स्वप्न के समान खुलता है और वहां एक साम्राज्य देखता है जिस में मृतकों का न्याय होता है। यहां एक मैजिस्ट्रेट होता है, जो यमराज कहलाता है।

(२२) पाप और पुण्य के हिसाब-किताब भी सब यहीं पर देखे जाते हैं। हर एक के लिये उसके पापों के अनुसार नरक की कोठरियां नियत हैं। नियत समय तक जीव वहां दुःख पाता है। तौक़ और ज़ंजीर, जो कुछ शास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित हैं, यहां सब सच हैं। दुख भोग चुकने पर वह फिर चंद्रलोक को जाता है। और सोमराज

हो जाता है। जो बिलकुल निष्पाप है, वह यहां नहीं ठहरता। वह उसको तत्काल पार करके चंद्रलोक को चला जाता है, जो सोमलोक है।

(२३) देवयान-सड़क पर जो चलता है, वह बराबर स्वप्नावस्था में खुला चला जाता है क्योंकि यह प्रकाशमय सड़क है। वहां वह इस प्रकार देखता है जैसे कि एक राजकुमार यात्रा से आकर साम्राज्य को जाता है और स्थान-स्थान पर देवगण उसके स्वागत को आते हैं। और ऐसे अतिथि-सत्कार और उत्सव देखता है कि जो मृतलोक निवासी जीवों की कल्पना में भी नहीं आते।

(२४) इस सड़क में उसको हिसाब-किताब या दुख नहीं है। यहाँ अग्नि देवता उसका सरदार होता है, और उसे उसी तरह सम्मान-पूर्वक ले जाता है जैसे प्रधान राज मंत्री राजकुमार को अपनी राजधानी में ले जाता है और पिता से मिलता है।

(२५) सूर्यलोक में यद्यपि भौतिक शरीर नहीं हैं, वरन् दिव्य संकल्पमय शरीर हैं, तो भी उन के पदों में अन्तर है। कुछ का अन्तर ऐसा है, जैसा प्रजा का राजा से; और कुछ का अन्तर ऐसा है जैसा राज–सभासद का राजा से; और कुछ का अन्तर ऐसा है जैसा अंग का अंगी से होता है। परन्तु यहाँ अन्तिम पद मिलाप का है, जिससे स्वयं वही हो जाता है।

(२६) पहले पद को सालोक्य-मुक्ति, दूसरे पद को सामीप्य-मुक्ति, तीसरे पद को सायुज्य-मुक्ति और चौथे पद को सारूप्य-मुक्ति कहा करते हैं। यह कर्मकांड की अन्तिम उन्नति है।

(२७) अंतिम उन्नति में उसका सूर्य में निवास नहीं होता; बरन् वहाँ से वह चन्द्रलोक को जाता है, जो स्वयं सूर्य का चन्द्र है। वहाँ से भी वह उसके मेघलोक और विद्युल्लोक में चढ़ जाता है और यहाँ ब्रह्मलोक से एक मुख्य देवदूत आता है और उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है, जहाँ वह प्रजापति से आत्मिक मिलाप पाता है।

(२८) ऐ गौतम, जो इस प्रकार इस पंचाग्नि-विद्या को तत्वतः जानते हैं और संसार-त्यागी होकर बनों में सत्य का पालन करते हैं, वे देवयान सड़क पर चलते हैं और उनका इस संसार में फिर २ आगमन नहीं होता। परन्तु जो यज्ञ-दान से केवल जप-तप का पालन करते हैं और इस प्रकार नहीं जानते हैं, वे पितृयान-सड़क पर चलते हैं और सोमराज होजाते हैं और फिर फिर आते हैं। और, जो इन सड़कों को नहीं जानते और न सत्य का पालन करते हैं और न यज्ञ-दान तप आदिक करते हैं, वे इसी अधोमार्ग पर अग्रसर होते, कीट-पतंग-योनियों को पाते, बार-बार मरते और पैदा होते हैं। उन्हीं के लिये श्रुति कहती है—"जम जम मर और मर मर जम।" यही दैव-आज्ञा है। ऐसी प्रवाहन ने उद्दालक-मुनि को शिक्षा दी।

———:*:———

चौथा अध्याय

(१) नवीन जिज्ञासु को यहाँ आश्चर्य न करना चाहिए कि हम किस प्रकार मरने के पश्चात् ज्वाला, फिर दिन और फिर शुक्ल पक्ष हो जाते हैं ? क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष विचार करके जान सकता है कि जो लकड़ी अग्नि में जलाई जाती है,

वास्तव में वह अग्नि बनती जाती है, इसीलिये कि ज्यों-ज्यों लकड़ी अधिक लगाई जाती है, ज्वाला भी अधिक होती जाती है। इससे ज्ञात हो सकता है कि लकड़ी ज्वाला बनती जाती है।

(२) फिर ज्वाला भी इसी तरह प्रकाश बनती जाती है, क्योंकि ज्यों-ज्यों ज्वाला अधिक होती जाती है, प्रकाश भी अधिक होता जाता है। यही प्रकाश वास्तव में दिन की सच्ची असलियत है। दिन का प्रत्यावर्तन (तकरार) शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष का प्रत्यावर्तन मास (अयन) छमाही और वर्ष है। वर्ष वास्तव में सूर्य की नियत परिक्रमा है जो उससे भिन्न नहीं।

(३) दैवी-विधान के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि जलती लकड़ियों में जो चिकनाई है वह तो ज्वाला बन जाती है, और उसका तरल-भाग धुआँ बन जाता है और उसका स्थूल अंश जो मल है भस्म बन जाता है। यही एक ईश्वरीय रसायन है।

(४) हम भी जब मृतक-संस्कार में जलाए जाते हैं, तो इसी तरह अग्नि, धुआँ और भस्म बनते जाते हैं। लेकिन हम में जो चिकनाई का अंश है, वह तो अग्नि, अग्नि से ज्वाला, ज्वाला से प्रकाश, प्रकाश से दिन, दिन से शुक्ल-पक्ष, शुक्ल-पक्ष से अयन (छमाही), अयन से वर्ष और वर्ष से सूर्य हो जाते हैं, जो देव-योनि है।

(५) परन्तु हम में तरल-भाग जलकर धुआँ बन जाता है, और धुआँ से अंधकार। अंधकार ही वास्तव में अँधेरी रात का सच्चा स्वरूप है। अँधेरी रात का प्रत्यावर्तन कृष्ण-पक्ष है और उसी का प्रत्यावर्तन दक्षिणायन है और वही

संवत्सर है। यह संवत्सर चन्द्रमा की एक नियत परिक्रमा है, जो उससे पृथक् नहीं। देवतागण (दिव्य शक्तियां) जब हमको उस समय चिकनाई भाग में सम्बन्ध देते हैं, तो पितृयान-सड़क पर एक रूप के पश्चात् दूसरे रूप में गति होती है। और यह सम्बन्ध हमारे कर्मों के कारण होता है, इसलिये कर्म वास्तव में परलोकगति का मुख्य साधन है।

(६) वह कर्म, जो इस प्रकार की परलोकगति का मुख्य कारण है, वास्तव में ईश्वरीय रसायन है, जो संस्कृत में होम कहलाता है। यह ईश्वरीय रसायन अग्नि द्वारा होती है, इस लिये अग्नि में होम करना वस्तुतः ईश्वरीय रसायन का अनुष्ठान करना है। इस का विशेष विधान ब्राह्मणों को ज्ञात है। ब्राह्मण रासायनिक हैं जो अग्नि द्वारा आप रसायन क्रिया करते, हम से भी रसायन-क्रिया कराते हैं, और आप आकाश पर चढ़ते अर्थात् परलोक-गमन करते, हमको भी आकाश पर ले जाते हैं, अर्थात् परलोक गति कराते हैं। इस लिये परलोक गति के लिये अग्नि और ब्राह्मण हमारे द्वार और ईश्वरीय सहायक हैं। अतः जो व्यक्ति अग्नि और ब्राह्मण इन दो द्वारों के बिना परलोक गति की इच्छा करता है, वह भ्रांति और घमंड में है।

(७) यह रासायनिक कर्म भी समष्टि-रूप से दो प्रकार का है, या तो देव-कर्म है या पितृ-कर्म। देव-कर्म में तो अग्नि श्रेष्ठ होती है और पितृ-कर्म में ब्राह्मण। देव-कर्म में अग्नि को श्रेष्ठ समझकर उस में आहुति दी जाती है। और पितृ-कर्म में ब्राह्मण को श्रेष्ठ समझ कर उस के मुख में आहुति दी जाती है।

(८) जब तक हम प्रसाद (फज़ल) की ओर नहीं बुलाए जाते, तब तक बक्र दो प्रकार का कर्म करते रहना

हमारा कर्तव्य है, और मृत्यु तक भी दो प्रकार का कर्म करते हुए हमारी अन्तिम आहुति उस अग्नि में होती है जो हमारा द्वार और पूज्य है और उसी के द्वारा हम आकाश पर चढ़ते सोमराज या देवता हो सकते हैं।

(९) परन्तु जब हम प्रसाद की ओर बुलाए जाते हैं और ज्ञान (आत्मानुभव) प्राप्त करते हैं, तो कर्मकांड के कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं, और हम स्वतंत्र होते हैं। परलोकगति (स्वर्गीय उन्नति) हमें मुफ़्त में मिल जाती है, हम किसी का भी सहारा नहीं पकड़ते। इस का वर्णन हम दूसरे भाग में करेंगे।

(१०) शायद कोई प्रश्न करे कि पितर क्या हैं? और देवता क्या हैं? तो हम संक्षेप से उनका तत्व भी वर्णन कर देते हैं। पितर का अर्थ माता-पिता (वाल्दैन) है और देवता का अर्थ जानने और कर्म करने की इन्द्रियां (असली शक्तियां) है। जिन के द्वारा हम जन्म पाते हैं वही पितर हैं। और जिन के द्वारा हम तत्व-विवेक प्राप्त करते और गतिशील होते हैं, वही देवता हैं।

(११) यह न समझ लेना चाहिये कि शारीरिक जननी-जनक ही केवल पितर हैं, अपितु दिव्य तत्व, जो हमारे जन्म में कारण रूप हैं, दिव्य पितर हैं। क्योंकि कर्मकांड के द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि उन सड़कों पर जो आकृतियां हमें मिलती हैं, सचमुच वे माता-पिता के समान परस्पर जोड़ा स्वरूप होती हैं, और उन्हीं से वास्तव में हम जन्म पाते हैं, और मृत्यु के बाद हम उन्हीं में मेल पा जाते हैं। इसी कारण मृत्यु के पश्चात् मृतक का पितृ-कर्म होता है।

(१२) पहला पितर सूर्य और चंद्रमा का जोड़ा है जो उष्णता और तरलता से मिलाप पा रहा है; दूसरा पितर संवत्सर है जो उत्तरायण और दक्षिणायन से मिलाप पा रहा है; तीसरा पितर मास है जो शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष दोनों से मिलाप पा रहा है; चौथा पितर दिन-रात है जो प्रकाश और अंधकार से मिलाप पाता है; पाँचवाँ पितर अन्न है जो वीर्य और रज से दंपति हुआ है।

(१३) पहले पितर में सूर्य पिता और चन्द्रमा माता है; दूसरे पितर में उत्तरायण पिता और दक्षिणायन माता है, तीसरे पितर में शुक्ल-पक्ष पिता और कृष्ण-पक्ष माता है; और चौथे पितर में दिन पिता और रात माता है; पाँचवें पितर में वीर्य पिता और रज माता है। उत्तरायण में सूर्य से लेकर दिन तक पिताओं की पाँति है, और दक्षिणायन में चन्द्रमा से लेकर रात तक माताओं की पाँति है।

(१४) जो पाँति पिताओं की है, वह वास्तव में ठीक प्राण अर्थात् प्रजापति का आध्यात्मिक तत्व है; और जो पाँति माताओं की है, वह वास्तव में ठीक रयि अर्थात् प्रजापति का शारीरिक तत्व है, जो बदलता रहता है। अतः जो व्यक्ति पितृयान-सड़क पर चलता है, वास्तव में सोम-राज होता शारीरिक ऊर्ध्व-गति पाता है और जो व्यक्ति देवयान सड़कपर चलता है, वह आध्यात्मिक (मानसिक) ऊर्ध्व-गति पाता है, जो नित्य (शाश्वत) है।

(१५) ये पिता और माताएँ हमारी उत्पत्ति में कारण वा हेतु हैं, जैसे माता-पिता बच्चे को गोद में लेकर पालते-पोसते हैं, इसी तरह हमको मृत्यु के बाद उन की गोद में आना होता है, और उन्हीं में गर्भित होकर ऊर्ध्व-गति होती

है। ये सब पितर प्रजापति के पुत्र प्रजापति-रूप हैं, जो (प्रजापति) हमारा आदि पिता है। संस्कृत में इन पितरों को दिव्य पितर बोलते हैं। परन्तु वे पितर जो अग्नि में जल कर इनमें मेल पाते हैं, अग्निष्वाता कहलाते हैं, क्योंकि जो अग्नि में अन्न होकर इन से मेल पाता है, वही अग्निष्वाता होता है। उन्हीं के नाम से पिंड-दान होता है।

(१६) ये बातें * जो ऊपर वर्णन की गई हैं, हम ही नहीं कहते, बरन् पिप्पलाद मुनि ने कात्यायन-ऋषि को भी इसी पर संकेत किया है, जबकि कात्यायन ऋषि ने ऐसा प्रश्न किया कि "हे भगवन्! हम कहाँ से उत्पन्न होते हैं और कौन हमारा जनक है ?"

(१७) मुनि ने उत्तर दिया कि पुत्र की इच्छा वाले प्रजापति ने सोचा कि मैं स्त्री-पुत्रवाला हो जाऊँ, तब उसने एक जोड़ा उत्पन्न किया जो प्राण (force) और रयि (matter) है, और विचार किया कि यह जोड़ा मेरी संतान को बढ़ा देगा। सूर्य वास्तव में प्राण (force) है और चन्द्रमा रयि (matter)। और यह जो मूर्त-अमूर्त है, सब रयि (मादा) है; उनमें जो वास्तविक शक्ति है, वही उनका प्राण है।

(१८) सूर्य जब पूर्व में चढ़ता है, तो उसकी प्रकाशमान किरणें पूर्वीय भाग में फैलती हैं, और जो लोग पूर्वीय भाग में बसे होते हैं, उन पर व्यापक होती उन में प्रविष्ट होती हैं, और उनके प्राणों की रक्षा और पालन करती हैं। इसी तरह दक्षिण और उत्तर, पश्चिम और पूर्व, ऊपर नीचे, तथा सब दिशाओं में भी ये किरणें फैलती हैं। उनमें, जो वहाँ रहते हैं, प्रविष्ट होकर प्राणों और निरोगता

* देखो प्रश्नोपनिषद, पहिला प्रश्न।

को बख्शती हैं।

(१६) अतः यह सूर्य, वैश्वानर-विश्वरूप-अग्नि, सब का प्राण रूप उदय होता है। वेद-मंत्र इस पर अपनी पर्याप्त साक्षी देता है। क्योंकि वेद का कथन है कि यही स्वर्णमयी किरणों वाला विश्वरूप सूर्य, जो सब का नेत्र और सब का प्राण है, अपनी सहस्रों किरणों से अनेक प्रकार फैलता हुआ मानों हमारा प्राण उदय होता है।

(२०) चन्द्रमा भी इसी प्रकार चढ़ता हुआ प्रत्येक में रयि (मादा मूर्तियों का) प्रदान करता है। सूर्य तो जीवन-दायिनी उष्णता (प्राण-स्रोत) प्रदान करता है और चन्द्रमा रयि (मूर्तियों का मादा) बख्शता है। प्राण कर्त्ता है और रयि करण वा क्रिया है, और ये दोनों शक्तियाँ, जो प्रजापति की संतति हैं, मिलकर संसार में काम कर रही हैं। प्राण (शक्ति) प्रभाव उत्पन्न करता है, और रयि (मादा) बदलती है। इसी तरह हर एक वस्तु की उत्पत्ति और मृत्यु होती है।

(२१) यदि प्राण और रयि—जो सूर्य और चन्द्रमा का सच्चा स्वरूप है—न होते तो कुछ भी न होता। इसलिये यह चन्द्र-सूर्य का जोड़ा प्रजापति की संतान प्रजापतिरूप हमारा प्रथम पितर है। दूसरा पितर संवत्सर है, क्योंकि संवत्सर वास्तव में सूर्य और चन्द्र की परिक्रमा से उत्पन्न होता है। सूर्य की वार्षिक गति से संक्रांतिरूप संवत्सर उत्पन्न होता है और चन्द्रमा की गति से तिथि-रूप वर्ष उत्पन्न होता है।

(२२) संवत्सर चूंकि वस्तुतः पहले पितर की नियत परिक्रमा है, अतएव उससे भिन्न न होने के कारण, यह

दूसरा पित्र भी प्रजापति-रूप है और इसी का पुत्र है जो उत्तरायण और दक्षिणायन से जोड़ा खा चुका है। क्योंकि सूर्य और चन्द्र सांवत्सरिक गति में जो परिधि बनाते हैं, यह उस महान् परिधि से कटकर उत्तरीय और दक्षिणीय दो धनुष उत्पन्न करता है। उत्तरीय धनुष को उत्तरायण और दक्षिणीय धनुष को दक्षिणायन कहा करते हैं। यह उत्तरीय धनुष नर है और दक्षिणीय धनुष नारी। दोनों के मिलाप से यह पितर भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(२३) यदि यह संवत्सर, जो दूसरा पितर है, न होता, तब भी कुछ न होता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और विनाश नियत काल पर निर्भर दिखाई देते हैं। इसलिये काल भी माता-पिता का दूसरा जोड़ा है। जब यह सूर्य और चन्द्र छः महीने उत्तरीय धनुष में भ्रमण करते हैं, जो पितृमान धनुष है, तो उनके लिये, जो तप और यज्ञादि कर्म करते हैं यह काल देवयान मार्ग का पालन करता है, और अपने प्रिय पुत्रों को, उनकी मृत्यु के पश्चात्, गोद में लेकर देवलोक में ले जाते है और देवता के रूप में उत्पन्न करता है और द्यौलोक के दिव्य पदार्थों को दिलाता है।

(२४) परन्तु जब यह सूर्य और चन्द्र दक्षिणीय धनुष में नियत छः मास तक भ्रमण करते हैं, तो यह काल मातृमान धनुष में लाभ पहुँचाता है और उनके लिये, जो केवल कर्म (पित्र-तर्पनादि कर्म) करते हैं यह काल पित्रयान-मार्ग का पालन करता है, उनको गोद में लेकर यह सोमलोक में ले जाता है और सोमराज बनाता तथा स्वर्ग के शारीरिक भोग दिलाता है, जो कि सुन्दरी अप्सराएँ और सुखमय प्रासाद (महल) हैं। ये भोग शारीरिक कर्मों से बनाए

गए हैं और अंत में समाप्त हो जाते हैं और यहाँ से वह प्राणी फिर लौट आता है।

(२५) परन्तु वह जो तप जप और ब्रह्मचर्य करते हैं और "मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, शरीर नहीं हूं," "प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप हूँ" ऐसा अटल विश्वास करते हैं, इस निश्चय और विवेक के कारण पिता का पित्रत्व (विरसा) पाते हैं. और प्रजापति की गोद में जा बैठते हैं। और उसी से मेल पाकर द्यौलोक के सिंहासन पर विराजमान होते हैं। यही अमृत है। यहाँ से उनकी तरह जो माता की गोद में जाते हैं, फिर नहीं लौटते।

(२६) संवत्सर का टुकड़ा महीना है जो उसी का पुत्र तीसरा पितर है। उसमें शुक्ल-पत्त तो पिता है और कृष्ण-पत्त माता। इन दोनों के मिलाप से मास का अंत होता है, जो प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण समझता है, शरीर या देह नहीं जानता, वह कृष्ण-पत्त में भी यज्ञ करता मानो शुक्ल-पत्त में ही यज्ञ करता है। जो ब्राह्मण अपने आप को आत्मा और प्राण निश्चय नहीं करता बरन् केवल शरीर और सेवक जानता है, वह शुक्ल-पत्त में भी यज्ञ करता वास्तव में कृष्ण-पत्त में करता है।

(२७) दिन-रात भी मास का अंश, उसी का आत्मज, चौथा पितर है। उसमें दिन तो पिता है और रात माता। इन दोनों के विवाह से यह चौथा पितर भी समाप्त होता है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। जो व्यक्ति दिन को अपनी स्त्री से मैथुन करता है, वास्तव में प्राण की हानि करता है, किंतु वह जो रात को मैथुन करते हैं, भोग करते

भी ब्रह्मचर्य से हीन नहीं होते, यद्यपि प्रत्यक्ष-रूप से वे मैथुन करते दिखाई देते हैं।

(२८) अन्न भी दिन-रात का पुत्र दिन-रात रूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी नियत समय पर होती है, जो दिन-रात से प्राप्त होता है। इसलिये अन्न भी वास्तव में पंचम पितर है जो प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है, और यह अन्न (रूपी पुत्र) भी वीर्य और रज से जोड़ा खा चुका है, क्योंकि भोजन किया हुआ अन्न ही पिता में वीर्य-रूप से और माता में रज-रूप से प्रकट होता है। जब वीर्य और रज गर्भाशय में मिलाप पाते हैं, तो मिलाप रूप विवाह से मनुष्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रजापति हमको इन पितरों के द्वारा जन्म देता है और प्रजापति वास्तव में हमारा आदि पिता है और हम भी उसी के पुत्र उसी का रूप हैं और उसी के पित्रस्व (विरसा) के अधिकारी हैं।

(२६) जो व्यक्ति प्रजापति के अनुकरण पर जोड़ा खाकर (अर्थात् विवाहित होकर) प्रजापति का व्रत धारण करता है, वह भी जोड़ा अर्थात् लड़का-लड़की जनता प्रजापति के समान स्त्री-पुत्र वाला होता है। और जो जोड़ा पाकर (विवाहित होकर) भी ब्रह्मचर्य करते और सत् का पालन करते हैं, वही सोमलोक भी पाते हैं, किंतु जिनमें छल-छिद्र का लेश नहीं, वह तो ब्रह्मलोक में जाकर द्यौलोक के अधिकारी होते हैं।

(३०) इस प्रकार यह पितर प्रजापति के पुत्र, हमारे पिता, हमारी उत्पत्ति वा पुनरावृत्ति में कारण होते हैं। उन्हीं के द्वारा हम संसार और प्रलय में पुनरावृत्ति करते हैं और येही हमारे पालनहारे हैं। इसी कारण ये सब पालनकर्त्ता कहलाते हैं और प्रजापति जो आदि पिता वा सर्वज्येष्ठ

पितामह है, पालनकर्त्ताओं का स्वामी अर्थात् विश्वम्भर कहलाता है और उसका अनुकरण वास्तव में कर्मकाण्ड है जो होमकर्म कहलाता है, और उसकी विधि विस्तार पूर्वक वेद भगवान् में दर्ज है। इस लिये जो भगवान् के विरुद्ध आचरण करता है, कदापि पारलौकिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

(३१) दिन-रात पितर, जो वास्तव में चौथा पितर है, उसमें दिन तो सूर्य की एक छाया वा प्रकाश है और रात धरती की छाया। इस लिये सूर्य और धरती का विवाह मानों साक्षात् पितर दिखाई देता है। इसमें धरती माता और सूर्य पिता है, क्योंकि सूर्य के अत्यन्त ताप से जल बरसता है और इसके प्रभाव और ताप से धरती फलती फूलती है। और यह धरती और सूर्य मिलकर प्रजापति का एक विराट् शरीर है, और शेष पितर उसी के अंग और नाड़ी आदि हैं। और यह सब समष्टि-रूप से एक जीवित पुरुष है जिसको हम विराट् बोलते हैं और पश्चिमीय भाषा (अरबी, फ़ारसी) में यही 'रहमान' कहलाता है।

(३२) देवलोक उस विराट् पुरुष का शिर है, सूर्य नेत्र हैं, और दिशाएँ हाथ हैं, धरती पैर हैं, समुद्र मूत्राशय है, अन्तरिक्ष इसका तन है, वायु उसकी श्वास है, अग्नि इसका मुख है, मनुष्य इसका पुत्र उसी की आकृति में उत्पन्न हुआ है। जिस तरह हमारे अंग और नस-नाड़ी में प्राण और इन्द्रियां हैं, उसी तरह इन पितरों में भी, जो विराट् के अंग और नस-नाड़ीवत् हैं, प्राण और इन्द्रियां हैं, और यही देवता कहलाते हैं।

(३३) जिस तरह हमारे अंगों और इन्द्रियों को हमारे हृदय

और मस्तिष्कसे शक्ति प्रदान होती है और इन्हीं प्रधान-अंगों के शक्ति-प्रदान से प्राकृतिक इन्द्रियाँ और प्राण शक्ति पाते जीवित हो रहे हैं; इसी तरह ये पितर भी देवलोक और सोमलोक से शक्ति पाते जीवित हो रहे हैं और हमको जनते और पालन करते हैं। जिस तरह हमारे मुँह से खाया हुआ अन्न पहले आमाशय में जाता है, फिर यकृत् वा पक्काशय (जिगर) में, फिर नस नाड़ी द्वारा फिरता हुआ हृदय और मस्तिष्क में जाकर प्राण और ऐंद्रियों मे मिलाप पाता है, इसी तरह हम भी मृत्यु-संस्कार के समय अग्नि में दिए हुए उस विराट् का आहार होते हैं और उसकी नस-नाड़ियों के द्वारा, जो पितर हैं, उस क्रम से जो सड़कों के उदाहरण से वर्णन किया गया है, देवलोक और सोमलोक में चढ़ते देवता और सोमराज हो जाते हैं -

(३४) यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य में खाया हुआ अन्न जब पचता है, तो उस का सूक्ष्मांश कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय से परिवर्तित होता हुआ कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय में मेल पाता है और उस अन्न का स्थूल अंश अङ्गों और अस्थियों में परिवर्तित होता हुआ उन से मिलाप खाता है। क्योंकि जब हम अन्न नहीं खाते, तो जैसे मांस और त्वचा में दुर्बलता आ जाती है, वैसे ही ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय में भी दुर्बलता आ जाती है। परन्तु जब हम खाते हैं, तो शरीर से हृष्ट-पुष्ट होते हैं और ज्ञानेंद्रिय एवं कर्मेंद्रिय में शक्ति पाते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि अन्न के सूक्ष्मांश से तो इन्द्रिय बनते हैं और स्थूलांश से मांस और चर्म।

(३५) इसी प्रकार विराट् में अन्न होकर हम भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते, पाचन के बाद पाचन होते

देव-लोक में देवता और सोम-लोक में सोमराज हो जाते हैं और प्रजापति से मेल पा जाते हैं। यह कुछ भी कठिन नहीं है। वरन् जिस प्रकार (व्यक्तिगत) उदान प्राण अन्न को हमारे प्रत्येक अंग में पचाता, उसी का रूप बनाता, और उससे मेल दिलाता है, इसी तरह (समष्टि गत) उदान प्राण हर पितर में हम अन्न रूप को पचाता, उसी का रूप बनाता और उसी में मेल दिलाता है। और, फिर उनसे निचोड़ का रूप पृथक् करता, उसी तरह देवलोक और सोमलोक में ले जाता है जिस तरह हमारे अंगों से भी निचोड़ करके पिता के वीर्य स्थान में और माता के गर्भ में ले जाता है।

पाँचवां अध्याय।

(१) हम ऊपर के अध्याय में पितरों का तत्व स्पष्ट रूपसे लिख आए हैं, और फिर यह भी संकेत कर आए हैं कि वे सब जीवित हैं, उनमें जो जीवन शक्ति वा प्राण है, वह देवता कहलाती है। जिस प्रकार मनुष्य में जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए बिना ही प्राण कहलाती है, इसी तरह पितरों में भी जो जीवन शक्ति है, उनके शरीर और आकृति पर दृष्टि दिए बिना ही देवता कहलाती है। जैसे अग्नि में जो जीवन शक्ति है, वह अग्नि देवता; दिन में जो जीवन शक्ति है वह दिन का देवता; शुक्लपक्ष में जो जीवन शक्ति है, वह शुक्लपक्ष का देवता; उत्तरायण छमाही में जो जान है, वह षटमास का देवता; और सौर संवत्सर में जो जान है, वह वर्ष का देवता; और सूर्य में जो जान है, वह सूर्य का देवता

कहलाती है। और यही पिताओं की पाँति है, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

(२) इस तरह दूसरी माताओं की पाँति में भी अँधेरी रात की जान (जीवन शक्ति) रात का देवता; कृष्ण-पक्ष की जान कृष्ण-पक्ष का देवता; एवं दक्षिणायन छमाही की जान दक्षिणायन का देवता; और चन्द्रमा की जान चंद्रमा का देवता हैं।

(३) तात्पर्य यह कि छानबीन करने से सिद्ध हुआ कि क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक प्रत्येक वस्तु प्रजापति का अंग और उसी का अंश है। और प्रत्येक उसी तरह जीवित है जिस तरह हमारे अंग जान रखते हैं और वही जान उसी का देवता कहलाती है। ये सूक्ष्म-स्थूल वस्तुएँ असंख्य होने के कारण उनके प्राण और इन्द्रियां भी असंख्य हैं, उन्हीं का अनुवाद सूफी-संप्रदाय के महात्मा लोग (तत्ववेत्ता) 'मवक्कल' (विचवानी पालक वा संरक्षक) करते हैं।

(४) वस्तुएँ भी कुछ समष्टि हैं और कुछ व्यष्टि, अतः समष्टि की इन्द्रियां समष्टि देवता हैं, उन्हीं को समष्टि के पालक वा संरक्षक कहा करते हैं; और व्यष्टि की इंद्रियां व्यष्टि-देवता हैं और उन्हीं को वह व्यष्टि के पालक वा संरक्षक कहा करते हैं। और ये व्यष्टि-पालक उत्पत्तिवाले हैं और वे समष्टि पालक देवता विश्वंभर वा अविनाशी हैं, इसी कारण पूज्य और उपास्य हैं।

(५) यद्यपि समष्टि-देवताओं की गणना भी असंख्य है, तो भी जाति-भेद से वैश्वदेव-शास्त्र में इन की गिन्ती होती है, और उन में भी उत्तम जाति-भेद के नियम से सब ३३

गिन्ती में होते हैं, जिन में ८ वसु देवता हैं, ११ रुद्र देवता हैं, १२ आदित्य देवता हैं, एक इन्द्र है और एक प्रजापति है।

(६) समस्त वसु देवता पृथिवी, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, देवलोक, सोमलोक और नक्षत्र हैं। संस्कृत में वसु का अर्थ बस्तियां है। उन में जीवों का निवास होने के कारण वेदविद् ब्राह्मण उन्हें वसु देवता कहते हैं। पंच-भूतों के संयोग से प्रत्येक देह का आकार नियत हुआ है, और हम इन आकारों वा शरीरों में तब तक बसे हुए हैं, जब तक हमारे कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो लेता।

(७) वसु देवता हमारे कर्मों के भोग देने के लिये परिवर्त्तित और मिश्रित होकर एक शारीरिक घर उसी प्रकार बनाते हैं जिस तरह लकड़ी, लोहा, ईंट, गारा मिल कर लोग एक महल तैयार करते हैं और हमको उसी तरह अपने में बसाते हैं जैसे प्रासाद (महल) हमको बसाते हैं। जिस तरह वह महल हमारा वासस्थान या घर कहलाता है, उसी तरह ये देवता भी हमारे वसु देवता कहलाते हैं।

(८) अतिरिक्त इस के पृथिवी तो पार्थिवों के लिये, वायु वायवीयों के लिये, अग्नि आग्नेयों के लिये, जल जलीयों के लिये, आकाश गंधर्वों के लिये, सूर्य सौरों के लिये, चन्द्र चांद्रों के लिये, एवं समस्त नक्षत्र अपनी-अपनी सृष्टि के लिये उन का शरीर बनाते और फिर उसी का बिछौना होते आराम और सुख देते हैं। इस कारण इन सब देवताओं के हम आभारी हैं।

(९) जब हम बालक होते हैं, तो जैसे माता की गोद में मल त्यागते, उस की छातियां चूसते और उसी के पार्श्व में निवास करते हैं, उसी तरह हम पृथिवी के बालक पृथिवी

पर मल त्यागते, उसी की उपज के फल शाक-अन्न आदि खाते, उसी पर चलते-फिरते, और उसी में आराम करते हैं। यह माता से भी बढ़ कर कृपालु देवता हमारे किसी काम से भी दुःखित नहीं होता, बरन् माता की भांति हम पर मातृ छाया करके हमारे सब अपराधों को क्षमा करता है।

(१०) ज्ञानेंद्रिय जो जानने के साधन (यन्त्र) हैं और कर्मेंद्रिय जो गति के साधन वा यन्त्र हैं और मन जो सोचता-समझता है, ये ग्यारह रुद्र देवता हैं। पँच ज्ञानेंद्रिय और पँच कर्मेंद्रिय मिलकर सब १० होते हैं। और ये सब देवता हमारे कर्मों के भोग देने के लिये यन्त्रों और साधनों के रूप में हमारे शरीर में एकत्रित हुए हैं।

(११ आँख के द्वारा हम देखते हैं, कान के द्वारा हम सुनते हैं, जिह्वा के द्वारा हम स्वाद लेते हैं, त्वचा के द्वारा हम स्पर्श करते हैं, नासिका के द्वारा हम सूँघते हैं। इसी प्रकार वाणी के द्वारा हम बातचीत करते, हाथों के द्वारा हम पकड़ते, पांवों के द्वारा चलते, वायु के द्वारा हम मल त्यागते और उपस्थ के द्वारा हम आनन्द लाभ करते हैं। मन के द्वारा हम सोचते-समझते हैं। समस्त देवता हमारे भोग के लिये साधन-रूप होकर हमारे इस छोटे से महल में एकत्रित हुए हैं और उसी तरह हमारे सहचर और अधीन हैं जैसे ब्रह्मलोक के देवता हमारे पिता प्रजापति के सहचर और अधीन हैं,

(१२) जिस प्रकार हमारा पिता प्रजापति समस्त ब्रह्मांड में राज्य करता है, उसी तरह हम भी उस के राजकुमार इस संक्षिप्त पिंड में राज्य करते हैं। जिस तरह ब्रह्मांड प्रजापति की राजधानी है, उसी तरह यह संक्षिप्त शरीर भी हमारी छोटी-सी राजधानी है।

(१३) देखो बुद्धि हमारा दूरदर्शी (विचारवान्) मन्त्री है, मन दीवाने-खास अर्थात् मुख्य अधिकारी है, ज्ञानेंद्रियां दूत हैं, क्योंकि नेत्र दृश्य-जगत् में दौड़ता है, कान शब्द-संसार में सिधारता है, नाक सुगंध और दुर्गंध की खबर लाती है, जिह्वा मिठाई और खटाई की लहरें दिखाती है, त्वचा शीत और उष्ण के प्रमाण पेश करती है, मन दीवाने-खास होकर इन सब के संदेशे मालूम करता स्मरण रखता है और समय-समय पर हमारी सामान्य सभा में उपस्थित करता है, और बुद्धि उसमें से भले-बुरे की छाँट करती है और स्वीकृत अस्वीकृत की सम्मति देती है।

(१४) काम तहसीलदार है, क्रोध कोतवाल है, शक्ति जरनेल है, मन की वृत्तियां असंख्य सेना हैं। इसी तरह यदि ध्यान किया जाय और एक-एक देवता की गणना की जाय तो असंख्य सेना, असंख्य कर्मचारी और असंख्य पदाधिकारी हैं, और सब मनुष्य (राजकुमार) के लिये प्रजापति की आज्ञा से न्याय और धर्म पूर्वक हमारे भोग के लिये एकत्रित हो रहे हैं और अपने-अपने कार्य-विशेष में निमग्न हैं। हमको चाहिए कि प्रजापति पिता का अनुसरण करके हम भी अपने सिंहासन पर आसीन होकर प्रत्येक काम की देख भाल करें और न्याय तथा धर्म पूर्वक उन से वर्ताव करें। क्योंकि काम-रूपी तहसीलदार यदि प्रजापति के नियम के विरुद्ध कुछ भोग चाहे, तो चाहिये कि बुद्धि-रूपी मंत्री की मंत्रणा के अनुसार क्रोध-रूपी कोतवाल को उस पर चढ़ावें, जिस में वह उसे दण्ड देकर वा बुरा-भला कह कर संयम के नियम की ओर बुलावे। और यदि क्रोध-रूपी कोतवाल भी इसी भांति नियमोल्लंघन करे, तो काम रूपी तहसीलदार को उस पर उठावें, जिस से उस घमंडी को

तप व्रत से दुर्बल करके उसे धर्म पर आरूढ़ करे। यदि ऐसा नहीं वे करते, तो पिता का पदानुसरण करने से भागते और कृतघ्नता करते हैं।

(१५) फलतः, ये ग्यारह देवता अपनी असंख्य सेवा के साथ हमारे राजभृत्य (सहचर), पूर्ण सेवक, भोग के साधन, भोग-रूप हैं, और हम भी उनके भोक्ता हैं। जब तक हमारे कर्मों (भोग) का अंत नहीं होता, तब तक उसी तरह भोग देते इस संक्षिप्त राजधानी में काम करते हैं। और जब हमारे पुण्य समाप्त होते हैं, तो ये चल देते हैं। और इस यात्रा के कारण वे सब मित्र-कुटुंबियों को रुलाते और चिखवाते हैं, इसी कारण इनका नाम रुद्र-देवता है, क्योंकि जो रुलाता और क्रंदन कराता (चिखवाता) है, उसी को रुद्र कहते हैं। और यह स्पष्ट है कि इन्हीं के प्रस्थान करने के कारण मृत्यु होती है और कुटुंबी जन रोते तथा चिल्लाते हैं।

(१६) चैत्र से लेकर फाल्गुन तक १२ मास १२ आदित्य देवता हैं, क्योंकि ये १२ देवता बार-बार भ्रमण करते हमारे कर्मों के भोग देने और समाप्त करने के लिये प्रत्यावर्तन करते हैं। इन्हीं के परिभ्रमण के कारण नियत समय पर हमारे कर्म अपने भोग देने के लिए हम पर प्रभावशाली होते हैं और वसुदेवता क्रमशः परिवर्तित होकर भौतिक शरीर के रूप में हमारे भोग की हवेली बनते हैं और रुद्र देवता भोग के साधन रूप इसमें जमा होते हैं और बालक से युवा और युवा से बूढ़े होते हैं। अंत में इन्हीं के भ्रमण के कारण नियत समयों पर हमारे कर्म समाप्त होते हैं और मृत्यु आती है। ये देवता हमारे कर्मों की रक्षा, बर्ताव और अंत के लिये एक न्याय की माप वा तुला हैं, इस

लिये इन को आदित्य देवता कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार तराजू एक एक वस्तु को न्यायतः लेता-देता है, इसी तरह ये १२ देवता भी न्याय और धर्म से हमारे भोग लेते-देते हैं। संस्कृत-कोष में जो इस प्रकार लेता-देता है, उसको आदित्य बोलते हैं। और यही आदित्य न्याय की तुला है।

(१७) बत्तीसवाँ देवता प्रत्यक्ष रूप से आकाश में बिजली देवता है, जो शक्ति और बल रूप से हमारे संक्षिप्त शरीर में प्रकट हुआ है, और यही इंद्र है। इसी के कारण हम कुश्ती करते और युद्ध विग्रह करते हैं और शत्रुओं पर विजय लाभ करते हैं। और यही देवता द्यावापृथिवी अर्थात् द्यौ और पृथिवी पर प्रजापति का पुत्र, देवताओं का सेनानायक, और हमारी सेना का भी प्रधान सेनापति है। और इसी से हम हर काम में सहायता माँगते हैं। और यही हमारा पूज्य और आराधना करने योग्य है। और यही देवलोक में देवराज कहलाता है।

(१८) तैंतीसवाँ देवता प्रत्यक्ष प्राण देवता है जो महा प्राण वा महा देव है और यही प्रजापति है और यही समस्त देवताओं की माता है, इसी कारण इसको अदिति कहते हैं। और यही इन सबका पिता है, इसी कारण इसको प्रजापति बोलते हैं। और यही सब का मूल है। क्या देवता, क्या पितर क्या पुत्र, उसी की शाखाएँ, और उसी की डालियाँ हैं। यह एक ही अनेक प्रकार का होकर समस्त संसार में फैला हुआ सब में सब कुछ करता है। यही वसुदेवता रूप होकर सब के भोगों का घर अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड रूप होरहा है। और यही ११ रुद्ररूप (देवता) होकर सब के भोग का साधन और यंत्र (करण) है। यही बारह

आदित्य होकर प्रत्येक के भोग के देन-लेन में न्याय की तुला है। यही सब में बल-रूप होकर देवराज इंद्र है। वही हम में प्राणरूप होकर हमारा जीवन हमारा पिता है, और हम उसी के पुत्र उसी के रूप हैं। इस प्रकार यह एक ही महा प्राण रूप परमेश्वर तैंतीस देवतारूप और पँच पिता रूप होकर वैश्वानर विराट भगवान् देखने में आता है, जो "रहमान" कहलाता है।

(१९)*इन देवताओं का विवरण जो ऊपर वर्णन किया गया, है हमारी अपनी कपोल कल्पना नहीं, बरन् याज्ञवल्क्य मुनि ने, जो उच्च कोटि का वेदवेत्ता है, शाकल ब्राह्मण के प्रश्न में उसे स्पष्ट किया है। क्योंकि हम सुनते हैं कि राजा जनक की सार्वजनिक सभा में शाकल ब्राह्मण ने जो द्वेष और क्रोध से दग्ध हुआ था, याज्ञवल्क्य से देवताओं का सूक्ष्म प्रश्न किया था और याज्ञवल्क्य मुनि ने इस गुप्त-रहस्य को सार्वजनिक सभा में प्रकट कर दिखाया था।

(२०) भीतर से जले भुने शाकल ने कहा कि ऐ याज्ञ-वल्क्य, देवता कितने हैं? मुनिजी ने कहा, जितने वैश्वदेव की निविदा में कहे गये हैं, उतने ही देवता हैं। निविदा शास्त्र में उन मंत्रों के समुदाय को बोलते हैं जो देवताओं के नाम वैश्वदेव शास्त्र में नियत करते हैं।

(२१) फिर उसने कहा, संक्षेप से कहो। कहा, संक्षेप से ३३ देवता हैं। कहा और भी संक्षेप करो। कहा, छः हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, ३ हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, २ हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, डेढ़ है। कहा और भी संक्षिप्त करो। कहा, एक है।

*देखो बृहदारण्यकोपनिषद, अध्याय ३, ब्राह्मण ९।

कहा, निविदा-गणना में कौन-कौन हैं ? कहा, वह सब इन्हीं ३३ का प्रकाशमात्र हैं । कहा ३३ कौन से हैं ? कहा, आठ वसुदेवता हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं एक इंद्र है, और एक प्रजापति है ।

(२२) कहा, आठ वसु कौन से हैं ? कहा, अग्नि, पृथिवी वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, चंद्र, देवलोक और नक्षत्र हैं । इन्हीं में सब बसे हैं, इस कारण से वसु देवता कहलाते हैं । कहा, ग्यारह रुद्र कौन से हैं ? कहा, दस इन्द्रियां हैं जो मनुष्य में ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हो रही हैं, और ग्यारहवाँ मन है । जब ये देह में चल बसते हैं, तो रुलाते हैं, इस लिये रुद्र कहलाते हैं ।

(२३) कहा, आदित्य कौन से है ? कहा, यही १२ महीने हैं । यही सब की आयु को लेने-देते हैं और इस लिये आदित्य कहलाते हैं । कहा, इन्द्र कौन है ? कहा, जो गरजता है, वही इन्द्र है । कहा, गरजता कौन है ? कहा, जो चमकता है और बरसता है । कहा, प्रजापति कौन है ? कहा यज्ञ । कहा, यज्ञिय कौन है ? कहा जो पशु हैं, वही यज्ञिय हैं ।

कहा छे देवता कौन से हैं ? कहा अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, सूर्य और देवलोक हैं । कहा, इन के भी संक्षेप ३ कौन है ? कहा, तीन लोक हैं । देवलोक और सूर्य लोक मिल कर परलोक है और पृथिवी और अग्नि मिला कर इह (नीचे का) लोक है । अन्तरिक्ष और वायु मिल कर मध्य लोक है और समस्त देवता इन्हीं का तेज वा प्रकाश हैं ।

(२५) कहा, दो संक्षेप पूर्वक कौन से देवता हैं ? कहा, प्राण और रयि । कहा डेढ़ कौन है ? कहा, जो चलता है । कहा, क्यों डेढ़ है ? कहा, जो आप बे परवा हो और दूसरों के

लिये उदार वा दाता हो, वही डेढ़ होता है। प्रत्येक श्वास जो भीतर जाता है, जीवन का सहायक है। प्रत्येक श्वास जो बाहर निकलता है, स्वतः आनन्द-दायक है। इस लिये यह वायु ही उदार है और वही डेढ़ है। यदि यह न हो, तो कुछ भी जिन्दा न हो। कहा, एक कौन है ? कहा, प्राण है। यही ब्रह्म है। यही अदृष्ट परमेश्वर है। इसी को संस्कृत में त्यद् बोलते हैं।

छठा अध्याय।

(१) अब यों समझो कि देवता की असलीयत वास्तव में प्राण है। अतः एक ही महान् प्राण फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है। उन्हीं को देवता बोलते हैं और इन की खास मूर्तियां देवलोक में विद्यमान हैं। परन्तु उनके प्रकाश (तेज) समस्त संसार में फैलते सब में सब कुछ करते हैं। इन की मूर्तियों की उपमा सूर्य के समान है और इन के प्रकाश की उपमा किरणों के समान है जो सूर्य से निकलती और संसार में फैलती हैं।

(२) जिस प्रकार सूर्य की खास मूर्ति आकाश में मौजूद है, उसी तरह देवताओं की खास मूर्तियां देवलोक में मौजूद हैं और प्रत्येक का शास्त्रीय चित्र शास्त्र में अंकित है। परन्तु जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों में विकीर्ण होता संसार में फैलता है, उसी तरह यह देवता-मूर्तियां भी विकीर्ण होती प्राण रूप संसार में व्यापक हो रही हैं।

(३) महान् प्राण की फैलावट, जो महान् देव है, दो प्रकार की है। पहली फैलवाट उस की जो सामान्य है, पांच

प्रकार की होती है। क्योंकि इस फैलवाट में या तो वह (प्राण) खींचता है, या निकालता है,या पचाता है,या बनाता है। जब वह खींचता है, तो प्राण; जब निकालता है, तो अपानः जब रोकता है, तो व्यान; जब पचाता है, तो समान, और जब बनाता है, तो उदान कहलाता है। इन्हीं को पँच प्राण कहते हैं और ये पँच प्राण ही सारे संसार में क्या खनिज-वर्ग, क्या वनस्पति वर्ग, का प्राणिवर्ग, क्या आकाशीय, क्या पार्थिव, सब में सब कुछ करते हैं।

(४) देखो जब हम भोजन करते हैं, तो उसे प्राण निगलता है, और उस निगले हुए भोजन को व्यान आमाशय में रोकता है, और समान उस को पकाता है, और अपान उस के मल को बाहर निकालता है, और उदान उसके शुद्ध अंश को रक्त, मांस, त्वचा बनाता हमारे रक्त और मांस-त्वचा में मिलाप दिलाता है।

(५) फिर हम में क्षण-क्षण में श्वास चलते हैं। इस लिये वह जो भीतर को श्वास खींचता है. प्राण है, वह जो बाहर निकालता है, अपान है। किन्तु हम नियत समय तक श्वास को रोक सकते हैं, अतः वह जो रोकता है, व्यान है। और यह स्पष्ट है कि श्वास के द्वारा हम वायु ग्रहण करते हैं, अतः वह जो उस को शुद्ध करता है, समान है; वह जो खिलाता है, उदान है। दूसरी तरह से भी स्पष्ट है कि नाड़ियां हमारी बराबर चलती हैं। जब वह खुलती है, तो अपान का काम करती हैं; जब वह मिलती हैं, तो प्राण का काम करती है। और, यह स्पष्ट है कि जब कभी हम बल का काम करते हैं, तो न वह खुलती हैं, न मिलती हैं, उस समय व्यान काम करता है। जैसे जब कठोर धनुष को हम बल-पूर्वक खींचते हैं, तो उस समय श्वास और नाड़ियां

बन्द हो जाती हैं। वह जो उन को बन्द करता है, वही व्यान है। और यह भी स्पष्ट है कि रक्त जो नाड़ियों में चलता है, उन्हीं में हज़म होता है। वह जो इस प्रकार रक्त को पकाता है, समान है। फिर पचे हुए रक्त को जो नाड़ियों और प्रत्येक अंग में उन्हीं का रूप बनाता है, वही उदान है। मल, मूत्र, पसीना को जो दूर करता है, वह अपान है।

(६) वनस्पतियां भी हमारी भाँति आहार करती और हवा खाती हैं और बढ़ती फलती हैं। यदि उनमें पँच प्राण न होते, तो कैसे खातीं और किस प्रकार बढ़तीं या फैलतीं। देखो, पौदों में खाद और पानी जितना अधिक दिया जाता है, उतना ही वह अधिक फलते-फूलते हैं। फिर इस हेतु कि धरती में जो वस्तु तोप दी जाती है, धरती उसको खा जाती है और उसको मिट्टी बनाती अपने में मल दिलाती है। इसी तरह अग्नि में होम की वस्तु भी जलती अग्नि हो जाती है, पानी में गिराई हुई गलती और हवा में शुष्क हो जाती है। इस प्रकार विचार करने से मालूम हो सकता है कि ये पँच प्राण सब में सब कुछ करते हैं।

(७) यद्यपि विद्वानों ने विशेष-विशेष कामों के कारण उनके पृथक पृथक नाम नियत किए हैं। जैसे उदान को जो हमारे शरीर में काम करता है उदान प्राण नाम दिया है, और वही जब वीर्य को गर्भमें अलकः(जमा हुआ लोथड़ा), बुदबुद वा स्पष्ट शरीर, और निदान-प्रसव बालक बनाता है, तो जनानेवाला (वा जन्म देनेवाला प्राण) नाम उसका किया है, और वही जब मृत्यु में मन को उड़ा ले जाता है और उन सड़कों पर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक के बाद दूसरा रूप बनाता पितरों से मेल दिलाता है, यमराज

नाम किया है। तो भी संस्कृत में उसको उदान प्राण कहा जाता है।

(८) यही उदान प्राण भोजन को हमारे अंग-अंग में ले जाता अंग-रूप बनाता है और फिर उनसे निचोड़ करता वीर्य बनाता है। और फिर यही नियत समय पर गर्भाशय में वीर्य को ले जाता है और वहाँ लोथड़ा, बुदबुद, कलकल, बनाता दसवें महीने में मनुष्य बनाता है और मनुष्य-लोक के भोग दिलाता है। परंतु जब उसके यहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तो यही उदान उसको यहाँ से उड़ा ले जाता है। या तो धरती में मेल दिलाता है, और या धरती से वनस्पति, और वनस्पति से अन्न, अन्न से रक्त, रक्त से वीर्य, और नाना जाति के नर नारी में निकालता हुआ कीट-पतंग अथवा पशु-पक्षी की योनियाँ दिलाता है।

(९) फिर जब हमारे स्वर्गीय भोग उदय होते हैं, तो यही उदान-प्राण हमको अग्नि बनाता है। अग्नि से दिन और दिन से शुक्ल पक्ष, इस तरह देवयान सड़क पर देवलोक में ले जाता है और देवता बनाता है; और इसी तरह पितृयान-सड़क पर लेजाता सोम लोक में सोमराज बनाता है। अतः यही उदान (प्राण) सृष्टा, पोषक, हर्ता और कर्त्ता है, और यही हमारा इष्ट फल है। इसी के चुंगल में हम अपने कर्मों के कारण कुछ के कुछ बन जाते हैं। कभी हम पृथिवी पर पशु होकर चरते हैं, कभी पक्षी होकर उड़ते हैं, कभी गधा-ऊंट होकर लादे जाते हैं, और मार खाते हैं। कभी हम स्वर्ग लोक में क्रमोन्नति करते सत्य-संकल्प देवता होते और दिव्य परिधान (वस्त्र वा कोष) पहनते सारे संसार के मालिक बनते हैं। जितनी संसार में विचित्रता है, इसी उदान प्राण की विचित्रता है और

इसी के काम वास्तव में ईश्वरीय काम कहलाते हैं। और यह एक ही महान् देव पँच प्रकार के नामों से संसार में व्यापक संसार का राज करता है।

(१०) यद्यपि यह अकेला ही महाप्राण पाँच नामों से संसार में व्यापक सब में सब कुछ करता है, तो भी विद्वानों ने अध्यात्म, अधिभौतिक और अधिदैवत स्थिति वा दृष्टि से इसी को तीन प्रकारों में विभक्त किया है। क्योंकि जितना भाग उसका शरीरों और मनों वा व्यक्तियों में प्रविष्ट है, उसे आध्यात्मिक प्राण कहा करते हैं, और जितना अंश उसका देवलोक अर्थात् देवता मूर्तियों में प्रविष्ट है, उसे आधिदैविक बोला करते हैं और जितना अंश उसका संसार में प्रविष्ट है, उसे आधिभौतिक प्राण कहा करते हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार के प्राण हुए।

(११) आध्यात्मिक प्राणों के पँचविध नाम शरीरों और व्यक्तियों में व्यापक समझे जाते हैं, और अधिभौतिक प्राणों के नाम संसार में व्याप्त हैं और अधिदैविक प्राणों के नाम देवताओं में घिरे हैं। परंतु कुछ इनके प्रकट हैं और कुछ गुप्त। अतः जहाँ-जहाँ प्रकट हैं, वहीं-वहीं उसके मुख्य स्थान नियत किए गए हैं। जैसे आध्यात्म-प्राण का मुख्य स्थान मुख और नासिका है; और अपान का स्थान गुदा; और व्यान का स्थान नस और नाड़ी; और समान का स्थान पक्वाशय (मेदा); और उदान का स्थान वह नाड़ी है जो ऊपर मस्तिष्क को जाती है जिसे सुषुम्ना-नाड़ी बोलते हैं।

(१२) इस तरह आधिभौतिक प्राण भी यद्यपि सारे संसार में फैले हुए हैं, तो भी प्राण का मुख्य स्थान सूर्य है।

क्योंकि वही संसार का केंद्र है और सब उसी आकर्षण-शक्ति से खिंचे हुए अपने-अपने स्थान पर चक्कर खाते हैं, और वही देवता नेत्र पर कृपा करता उसे देखने में सहायता देता है।

पृथिवी में जो आकर्षण शक्ति है, वही महा अपान है, क्योंकि वही पार्थिव (वा पृथिवी-निवासियों) को सूर्य की ओर जाने से अपनी ओर बुलाती है और सूर्य की ओर से हटाती है। और इसी महा अपान में आध्यात्मिक अपान उसी तरह सहायता पाता है जिस तरह एक खेमे की लकड़ियों को चारों ओर की डोरियां स्थिर रखती हैं और हवा की चोट से रोकती हैं।

(१४) यह स्पष्ट है कि भूमि चारों ओर से बराबर हम को उसी तरह खींचती है जिस तरह डोरियाँ खेमे की लकड़ियों को बाहर से बराबर खींचती हैं; और इस भूमि-देवता की कृपा से आध्यात्मिक अपान उसी तरह गुरुत्वाकर्षण (law of gravitation) पैदा करता है जिस तरह खेमा की लकड़ी उन डोरियों के खिंचाव में सीधी खड़ी होती है। और उसी गुरुत्वाकर्षण में हम भूमि पर चलते हैं।

(१५) यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अपान इस तरह गुरुत्वाकर्षण न बनाता, तो निस्संदेह हम भी पृथिवी में उसी तरह गिर कर चिमट जाते जैसा कि एक पत्थर गिरता हुआ पृथिवी में लिपट जाता है। अतः यही पृथिवी की शक्ति पृथिवी की खिंचवानी है। इसी को संस्कृत में पृथिवी का देवता बोलते हैं।

(१६) पृथिवी और सूर्य के बीच में जो आकाश है, वही आधिभौतिक समान का मुख्य स्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु

इसी आकाश में पकती है और जो इस में वायु है, वही स्थान का मुख्य स्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की रोक वायु से होती है। और जो इस में उष्णता है, वही महान् उदान का मुख्य स्थान है। इसी कारण से प्रत्येक वस्तु का पालन-पोषण उष्णता से होता है।

(१७) ये बातें जो ऊपर वर्णन हुई हैं, हम ही नहीं कहते बरन् पिप्पलाद मुनि ने आश्वलायन ऋषि के प्रश्न पर इसी तरह उत्तर दिया है। * आश्वलायन ऋषि ने पिप्पलाद से पूछा कि भगवन्! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है और किस प्रकार शरीर में आ जाता है और किस तरह फैलता हुआ एक से अनेक (प्राण) हो जाता है और किस तरह अध्यात्म और अधिभूत में विभक्त होता है?

(१८) मुनि जी ने उस से कहा कि तुम गंभीर रहस्यों को जानना चाहते हो। हर कोई यह रहस्य नहीं समझ सकता। परन्तु तुम भी रहस्य विदों में समझे जाते हो, इस लिये मैं उस बड़े रहस्य का दिग्दर्शन कराता हूँ। आत्मा से यह महा प्राण प्रकट होता है। इस की उत्पत्ति में छाया का उदाहरण है। जिस प्रकार मनुष्य की मनुष्य से निकलती है और तुच्छ होती है, उसी तरह यह प्राण आत्मा से निकलता है और तुच्छ होता है।

(१९) अपने-अपने कर्मों के फलों के बंधन में अपने संकल्प से यह शरीर में आ जाता है, और उस से सम्बन्ध पाता है। और जिस तरह एक ही सम्राट् अपने-अपने प्रांतों में अनेक शासक भिन्न २ अधिकारों से नियुक्त करता है कि अमुक-अमुक शासक अमुक-अमुक भवन में इजलास करे और इतने २ इलाक़े में यह काम करे, इसी तरह यह महा-

* देखो प्रश्नोपनिषद् तीसरा प्रश्न।

प्राण अन्य प्राणों को विशेष-विशेष अंगों में इजलास देता है और विशेष-विशेष स्थान में विशेष-विशेष काम करने की आज्ञा करता है।

(२०) जैसे अपान को मुख्य करके गुदा और उपस्थ में बिठाता है; और आँख, कान, नाक, मुँह में प्राण को बिठाता है। आमाशय में समान को बिठाता है जिससे कि वह (भोजन) पचावे। यही है जो अन्न को पकाता है, इसी से आध्यात्मिक प्राण वा ज्ञान-इन्द्रियां किरणों की भाँति मस्तिष्क में निकलती हैं और ज्ञान तथा चेष्टा की शक्ति का कारण होती हैं; और यही इन्द्रियां मिलकर सूक्ष्म शरीर हैं, जो मनुष्य देह की वास्तविकता है।

(२१) *हृदय-कमल से, जो मांस का टुकड़ा है और जीवात्मा की मुख्य राजधानी है, एक सौ एक (१०१) नाड़ियाँ निकलती हैं, और हर एक नाड़ी में फिर महीन नाड़ियाँ शाखाओं की भांति सौ सौ निकलती हैं, और हरएक शाखा में अति सूक्ष्म नाड़ियाँ शाखा प्रति शाखा की भाँति बहत्तर-बहत्तर हज़ार निकलती और फैलती हैं। और

* एक सौ एक नाडियाँ तो मौलिक हैं, शेष उनकी शाखाएँ हैं। इस एक-एक मौलिक नाडी की एक एक सौ शाखाएं हैं। अर्थात् इन १०१ असल नाडियों की दस हजार एक सौ (१०१००) शाखाएँ हैं, और इन शाखा रूपी नाडियों में से प्रत्येक शाखा की बहत्तर हजार (७२०००) नाडियाँ हैं, अर्थात् १०१०० × ७२०००=७२७२००००० शाखा-प्रशाखा नाडियाँ हैं। यदि इनमें मौलिक और शाखाएं रूप नाडियाँ मिलाई जाँय, तो १०१+१०१००+७२७२००००००=७२७२१०२०१ अर्थात् बहत्तर करोड, बहत्तर लाख, दस हजार और दो सौ एक सब नाडियाँ होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् २-१-१९ और ४-३-२०। कठोपनिषद् ६-१६ और कौषीतकी उपनिषद् ४ २० में इन नाडियों का ब्योरेवार वर्णन आया है, यद्यपि परस्पर कुछ भिन्नता है।

नाड़ियां धमनी और शिराओं से बनाई गई हैं, उनमें व्यान रहता है।

(२२) इन नाड़ियों और नसों से जो एक नाड़ी (सुषुम्णा) ऊपर को जाती है और मस्तिष्क तथा हृ[illegible] में मिली है, उसमें उदान रहता है। जब कर्म के भोग इस शरीर में समाप्त होते हैं, तो समस्त आध्यात्मिक इन्द्रियां पहले सूक्ष्म-शरीरमें जो मन है, लीन होती हैं; और फिर मनको यह उदान प्राण उस तरह शिकार करके ले जाता है जिस तरह बाज़-पक्षी चिड़ियों को शिकार कर के ले जाता है। और फिर उसी के पुण्य के अनुसार पुण्यलोक में देवता या सोमराज बनाता है, और उसी के पाप के अनुसार पाप लोक में कीट पतंग के रूप में उठाता है, और पाप पुण्य की समानता से मानवी चोला पिन्हाता है।

(२३) सूर्य वास्तव में बाहर का प्राण है। नेत्रों पर कृपा करता हुआ यही प्राण उदय होता है। पृथिवी में जो देवता है, मनुष्य के अपान को सम्हालता हुआ बाहर का अपान है। यह जो आकाश है, वही समान है, यह जो हवा है, यही बाहर का व्यान है; यह जो उष्णता है, वही बाहर का उदान है।

(२४) यही कारण है कि जब मनुष्य में प्राण-शक्ति बुझने लगती है। तो यह उदान लौटता है। पहले ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय मनमें लय होते हैं, और फिर मन प्राण में लय होता है; और प्राण उदान में लय होता है। और यह उदान जैसा मनुष्य निश्चय और कर्म होता है, भोक्ता को लिए हुए उन्हीं तीन सड़कों में से एक सड़क पर, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक के बाद दूसरा रूप बनाता, उसी की इच्छा और विश्वास के अनुसार तीन

लोक में से एक लोक को ले जाता है और नए भोगों के लिये उठाता है।

(२५) जो व्यक्ति इस प्राण की इस प्रकार उत्पत्ति को और उसके मुख्य स्थानों को और उसकी इन विचित्रताओं को और पंचविध द्विविध विभाग को जानता है, निःसन्देह वह अमृत होता है और प्रजापति से मेल पाता है, ऐसा वेद के मंत्र साक्षी देते हैं।

सातवाँ अध्याय।

(१) इस महा प्राण की दूसरी फैलावट सोच-समझ रूप होती है। जब यह महा प्राण हृदय-कमल में इस फैलावट से खुलता है, तो इसी को मन अर्थात् दिल कहा करते हैं। और मन चूँकि उस पंचविध प्राण का पुत्र है, उसी की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, क्योंकि जो जिससे जना जाता है, उसी की आकृति पर होता है। और वह पंचविध प्राण वास्तव में प्रजापति का स्वरूप है, और यह मन (अंतःकरण) मनुष्य की असलियत है।

(२) जिस प्रकार प्रजापति फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है, इसी तरह यह मन भी फैलता हुआ अनेक संकल्प और विकल्प-रूप होता है। जिस तरह देवलोक में प्रजापति से अनेक प्राण वा दिव्य शक्तियां निकलती हुई जुदा-जुदा विशेष मूर्तियाँ धारण करती हैं और प्रजापति में एक होती हैं, इसी तरह मन की वृत्तियाँ भी मन से निकलती हुई जुदा-जुदा संकल्पमय रूप धारण करती मन से एक होती हैं।

(३) जब यह मन मस्तिष्क में फैलता है, तो यह दो प्रकारसे विभक्त होता है, या तो यह समझ में विभक्त होता है या कर्म में। और हर एक विभाग फिर पंचविध होता है। समझ के विभाग में या तो वह देखता है, या सुनता है, या छूता है या चखता है या सूँघता है। जब वह देखता है, तो उसी का नाम चक्षु होता है; जब सुनता है, तो श्रोत्र; जब छूता है, तो त्वक्; जब चखता है, तो रसना; और जब सूँघता है, तो घ्राण कहलाता है।

(४) यही पंच प्रकार की इन्द्रियां ज्ञान वा बोध के साधन वा करण कहलाते हैं और इन्हीं को संस्कृत में पंच ज्ञानेंद्रियां कहते हैं।

(५) दूसरे (कर्म के) विभाग में या तो वह (मन) बोलता है, या पकड़ता है, या चलता है, या छोड़ता है, या आराम पाता है। जब वह बोलता है, तो वाक्; जब वह पकड़ता है, तो पाणि; जब वह चलता है, तो पाद; जब वह (मल) त्यागता है तो पायु; और जब वह आनंद करता है, तो उपस्थ कहलाता है।

(६) यही पँच प्रकार की इन्द्रियां चेष्टा वा कर्म का साधन वा करण कहलाती हैं, और इन्हीं को संस्कृत में पंच कर्मेंद्रियां कहते हैं।

(७) चक्षु-इंद्रिय का मुख्य स्थान नेत्र है; श्रोत्र का कान है; त्वक् का त्वचा और मांस है, रसना का जिह्वा है; घ्राण का नासिका है; वाणी का स्थान मुख है; पाणि का हाथ हैं; पाद का पैर है; पायु का गुदा; और उपस्थ का लिंग है। इसी कारण आँख से देखता, कान से सुनता, जिह्वा से चखता, मांस-त्वचा से स्पर्श करता, नाक से

सूँघता, मुँह से बोलता, हाथों से पकड़ता, पावों से चलता, गुदा से मल त्यागता और लिंग से विषयानंद करता है।

(८) यद्यपि यह मन प्रजापति का पुत्र प्रजापति की तरह फैलकर पंच ज्ञानेंद्रिय और पंच कर्मेंद्रिय रूप हुआ है और भिन्न-भिन्न स्थानों में इजलास करता विशेष-विशेष काम करता है, तो भी आप प्रजापति की भाँति हृदय-कमल में सिंहासीन होकर ज्ञान और कर्म में सोच-विचार करता सब का शासक सब पर आज्ञा करता है। जब वह चाहता है, तो आँख खुलती है और देखती है; जब वह चाहता है, तो वाणी बोलती है। इसी तरह प्रजापति की भाँति सब उसके अधिकार में और उसके आज्ञानुवर्ती हैं।

(९) उसकी कर्मेंद्रियां रूप फैलावट उसी फैलावट पर है जो पंचविध प्राण में प्रकट की गई है, और यह फैलावट जो ज्ञानेंद्रिय रूप है, प्रजापति की विज्ञानमय इन्द्रियों पर है जिसका अभी उल्लेख नहीं हुआ है। इस कारण यह पुत्र भी पिता की आकृति पर उत्पन्न हुआ उसी का राजकुमार उसी तरह इस पिंड में राज करता है जिस तरह प्रजापति ब्रह्माण्ड में राज करता है।

(१०) जिस तरह मनुष्य का मन हृदय कमल में खुलता, सोच विचार रूप होता है, उसी तरह प्रजापति का मन भी उस चन्द्र में जो सूर्य के चहुँ ओर फिरता है, सोच-विचार रूप खुलता है। जिस तरह हृदय-कमल में आकाश है, जो हृदयाकाश कहलाता है, उसी तरह चन्द्रमा में भी आकाश है, जो प्रजापति का सिंहासन वा देवलोक कहलाता है। जैसा हृदयकाश मानवी सोच विचार का मुख्य स्थान है, उसी तरह देवलोक भी प्रजापति के सोच-विचार का खास महल (वा स्थान) है।

(११) जिस तरह हृदय कमल से लेकर मस्तिष्क और आँख तक जो आकाश है, मन का दरबार है, उसी तरह इस चन्द्रमा से लेकर सूर्य तक जो आकाश है वह कुरसी कहलाता है। और संस्कृत में उसे देवलोक कहते हैं। प्रजापति का मन यहाँ फैलता उसी तरह काम करता है जैसा कि हमारा मन मस्तिष्क (दिमाग) में फैलता काम करता है।

(१२) यहाँ देवलोक में प्रजापति भी या देखता है, या सुनता है, या छूता है, या चखता है, या सूँघता है। जब वह देखता है, तो उसी का नाम आदित्य देवता होता है; जब सुनता है, तो उसी को दिक् देवता बोलते हैं; जब छूता है, तो उसी को मरुत् देवता बोलते हैं; जब चखता है तो उसी को वरुण देवता बोलते हैं; जब वह सूंघता है, तो उसी को अश्विनीकुमार बोलते हैं। जिस तरह चक्षु का मुख्य स्थान नेत्र है, उसी तरह आदित्य का मुख्य स्थान सूर्य है; और दिक् का मुख्य स्थान दिशाएँ हैं; और मरुत् का मुख्य स्थान वायु है; और वरुण का मुख्य स्थान जल है; और अश्विनीकुमार का मुख्य लोक स्थान) अश्विनी-कुमार (पृथिवी) है।

(१३) फिर जिस तरह हमारा मन आँख, नाक, कान में, जो इन्द्रियां है, एकता का संबंध रखता है, उसी तरह प्रजापति का मन हमारे समस्त व्यष्टि मनों से एकता का संबंध रखता है। क्योंकि जब हम चक्षु से देखते हैं, तो उसी देखी हुई वस्तु को मन से स्मरण करते हैं, और जब हम सुनते हैं, तो उसी सुनी हुई वस्तु को मन से पूर्ववत् स्मरण करते हैं। और यह स्पष्ट है कि जो देखता है, वही स्मरण करता है; और जो सुनता है, वही याद करता

है। यद्यपि चक्षु-इन्द्रिय देखती है सुनती नहीं, यद्यपि कान सुनता है, देखता नहीं; तो भी मन चक्षु की देखी वस्तु को देखता और कान से सुनी वस्तु को सुनता है; इस लिये एक ही मन ज्ञान-इन्द्रियों में एकता का संबंध रखता है और उन्हीं का तद्रूप है, यद्यपि इंद्रियाँ अपने २ रूप से तो पृथक २ वस्तुएं हैं।

(१४) प्रजापति का मन भी हमारे मनों के सोच में सोच करता है और हमारे मनों के विचार में विचार करता है। यद्यपि देवदत्त का मन यज्ञदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता और यज्ञदत्त का मन देवदत्त के मन से सोच—विचार नहीं करता, तौ भी प्रजापति का मन सब के मनों से समस्त सोच—विचार पाता है। इसी कारण वह सबके मनों की बातें जानता है, और अपनी मुख्य सोच-विचार देवलोक में करता है।

(१५) जिस प्रकार आंख का देखना मन का देखना है, और कान का सुनना मन का सुनना है, उसी तरह ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त और देवदत्त का सोचना प्रजापति का सोचना है। और इंन्द्र, वरुण, यम देवता का सोचना भी प्रजापति का सोचना है। इस तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु और क्या पक्षी, सब के मन वास्तव में अलग—अलग हैं, और प्रजापतिका मन उन सब अलग-अलग मनोंकी समष्टि है, और यह स्पष्ट है कि समष्टि प्रत्येक व्यष्टि का तद्रूप होती है, अत एव प्रजापति का मन हरेक मन का तद्रूप होता है।

(१६) जबकि उसका मन प्रत्येक मन का तद्रूप है और प्रत्येक का मन प्रत्येक की इंद्रियों का तद्रूप है, तो प्रजापति का मन प्रत्येक की इंद्रियों का भी तद्रूप है। इसी कारण जो

हम देखते या सुनते हैं, वास्तव में प्रजापति देखता या सुनता है, और जो बोलते या चलते हैं, वास्तव में प्रजापति बोलता या चलता है। और जिस प्रकार हमारे मन और ज्ञान-इंद्रियों को, वरन् कर्म-इंद्रियों को भी हमारे एक शरीर में एकता का संबंध है, उसी तरह प्रजापति की ज्ञान-इंद्रियों और कर्म्-इंद्रियों को भी हमारे शरीरों से एकता का संबंध है। यद्यपि हमारा शिर एक है, परंतु समस्त शिर प्रजापति के हैं; यद्यपि हमारी आंखें दो हैं, परंतु समस्त आंखें प्रजापति की हैं; यद्यपि हमारे कान दो हैं, परंतु समस्त कान प्रजापति के हैं। इसी लिये वेद के मंत्र उसकी प्रशंसा करते हैं कि हज़ारों उसके शिर हैं, हज़ारों उसकी आंखें हैं, और हज़ारों उसके कान हैं, और हज़ारों उसके पांव हैं।

(१७) इसी तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु-पक्षी, क्या भूत और क्या भूत-समूह, क्या पृथिवी और क्या आकाश, सब में सब रूप प्रजापति है, और यही संसार समष्टि रूप से उसका विराट शरीर है, और यही महान् प्राण उसमें तद्रूप हुआ उसी का प्राण है। इसी हेतु वही हमें विराट भगवान् के रूप में प्रत्यक्ष नेत्रों से दिखलाई देता है। यह पितर और देवता जो ऊपर वर्णन हुए हैं, उसी के अंग, उसी के व्यष्टि रूप हैं, और वह सब में व्यापक, सर्व रूप, एकमेव विराट् पुरुष है।

(१८) देवलोक उसका असली शिर है, सूर्य उसकी आँख है, दिशाएँ उसके कान हैं, धरती उसके पाँव हैं, समुद्र उसका मूत्राशय है, अग्नि उसका मुख है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु उसी के अंग, उसी के अंश है, और वही समष्टि-रूप, सबका पिता, सबका पालनहार, जगत् रूप,

शारीरिक आकृति में प्रकट हुआ है। हम सब उसी के पुत्र, उसी के अंश हैं, और उसी के उत्तराधिकारी हैं।

(१६) चन्द्रलोक में वह स्वयं सोच-विचार करता हुआ हमारे मनों में भी तद्रूप हुआ सोच करता है। सूर्य में बैठकर सब को देखता हुआ भी हमारे नेत्रों में देखता है। हमारा देखना उसी का देखना है, और उस का देखना हमारा देखना है। हमारे भोग उसी के भोग हैं, हमारे सुख उसी के सुख हैं, हमारे पुण्य उसी के पुण्य हैं। परन्तु हमारे पाप से वह आलिप्त नहीं पाता, अर्थात् हमारे पाप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, और इसी लिये हमारे दुःखों से वह दुःखी नहीं होता; क्योंकि उसने पहले कल्प में अपने स्वकृत कर्मों से यहां प्रजापति का पद पाया है, और उन्हीं सत् कर्मों के कारण अब समष्टिरूप में वह उठा है, इसी कारण समस्त सुख और ऐश्वर्य के लिये वह सब का तद्रूप हुआ है, जिस से कि वह सर्व के पुण्य और सुख का भोक्ता होवे। हमारे दुष्कर्मों के फल दुःखों के रूप में हमको पीड़ित करते हैं, परन्तु उस प्रजापति पर प्रभाव नहीं डालते। यही विधान वा निर्देश है।

(२०) पँच प्राण और देवता भी, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, यद्यपि प्रजापति की नाईं एक-एक काम के लिये सारे संसारमें पहले सब कामोंका तद्रूप हैं, तो भी वह समस्त देवलोक में विशेष मूर्तियां पुण्य-रूप धारण करते अपने-अपने पद के अनुसार अपने पुण्य भोगते हैं, और उन्हीं पुण्यों के कारण हमारे पुण्य और सुखों के अधिकार भी प्रजापति की भांति पाते हैं। इसी कारण लिखा है कि देवता पुण्य-लोक में प्राप्त होते पुण्य के भागी हैं, और पापमय योनियां केवल पाप की भागी हैं। परन्तु मनुष्य

जो पुण्य-पाप से समान बनाया गया है, सुख और दुःख दोनों को पाता है।

(२१) इन देवताओं की मूर्तियां जो देवलोक में मौजूद हैं, उनके लिखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उर्दू भाषा जानने वाला पुराणों में उसे मालूम कर सकता है। इन मूर्तियों के संबंध के कारण वह उसी तरह वर्ताव करते हैं, जिस तरह हम भी शरीर के संबंध के कारण इस लोक में बर्ताव करते हैं। और चूँकि वे अपने-अपने उत्तम पुण्य के कारण पुण्यलोक को पाते हैं और हमारे भोग और उन्नति के लिये साधन वा द्वार हैं, इसी कारण आराधनीय और पूज्य हैं; और उसी शास्त्रीय मूर्ति से, जो देवलोक में वे रखते हैं, ध्यान किये जाने के योग्य हैं।

(२२) जिस तरह प्रजापति की चित्त-वृत्तियाँ हमारी चित्त-वृत्तियों की तद्रूप हैं और जिस तरह उसकी इंद्रियां-हमारी इंद्रियों की तद्रूप हैं, उसी तरह पँच प्राण भी हमारी कर्म-इंद्रियों के तद्रूप हैं। और यही पंच प्राण भी उसी की समष्टि कर्मेंद्रियां हैं। जिस तरह हमारी कर्मेंद्रियाँ इस पृथक्-पृथक् मन के अधीन हैं, उसी तरह यह पंच प्राण भी उस समष्टि मन के अधीन हैं। क्योंकि जिस तरह हमारा संकल्प होता है, उसी तरह ये कर्मेंद्रियाँ काम करती हैं; उसी तरह जैसा-जैसा देवलोक में प्रजापति संकल्प करता है, यह पँच प्राण भी काम करते हैं। और जिस तरह यह हमारी परिमित वा परिच्छिन्न देह हमारा शरीर है, उसी तरह यह महान् शरीर जो विराट है प्रजापति की देह और उसके भोग का साधन है। और जिस तरह हमारा अलग-अलग मन ज्ञान-इंद्रियों और

कर्म-इंद्रियों से मिलकर समुदाय रूप से सूक्ष्म शरीर या अंतःकरण कहलाता है, उसी तरह वह समष्टि मन समस्त देवताओं से मिलकर हिरण्यगर्भ कहलाता है।

(२३) प्रजापति जिस तरह अपने विराट् शरीर और हिरण्य गर्भ से मिलाप पाया हुआ जीवित पुरुष है, हम भी अन्तःकरण और सूक्ष्म शरीर से मेल पाए हुए जीवित पुरुष या जीती जागती जान हैं। जिस तरह यह ब्रह्मांड में प्रविष्ट हुआ राज करता है, हम भी उसी की आकृति पर इस संक्षिप्त पिंड में (प्रविष्ट हुए) राज्य करते हैं।

(२४) देखो जब हम चाहते हैं कि एक ओंकार लिखें, तो पहले हमारे हृदय-कमल में संकल्प उठता है, और फिर मस्तिष्क में उसकी आकृति का ध्यान होता है, फिर कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों के द्वारा वही ध्यान की हुई ओंकार की आकृति लेखनी और स्याही से बाहर काग़ज़ पर बनाते हैं।

(२५) प्रजापति भी जब कोई वस्तु बनाया चाहता है, तो पहले उस का संकल्प चंद्रलोक में, जो देवलोक है, उठता है, और उसकी आकृति देवलोक में ध्यान होती और फिर देवताओं और तारों की बिचवानी से उसी नियम से भूलोक में गति होती और बाह्य आकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और समस्त देवता और पितर तथा समस्त नर-नारी उसी के कारण और करण (साधन) हैं, क्योंकि कुछ वस्तुएँ तो केवल देवताओं की बिचवानी से अर्थात् देवताओं के वसीले बनती हैं और कुछ मनुष्य की बिचवानी (वसीले) से। इसी कारण वह प्रजापति कारणों का कारण कहलाता है।

(२६) प्रजापति का संकल्प अपने भोग और ऐश्वर्य के लिये अपने पुण्य कर्मों के बंधन में है, परन्तु दूसरों के भोग

के लिये उन्हीं के कर्मों के बंधन में है। जैसे-जैसे उनके कर्म होते हैं, वैसे-वैसे उस के संकल्प उनके दुख या सुख के भोग के लिये उठते हैं। और उसी तरह होता है। इसी कारण वह सत्य संकल्प और न्यायी भी है। और यही कारण है कि कर्म-कांड वास्तव में न्याय की विद्या है। जैसा कोई करता है, वैसा पाता है। और यही हेतु है कि वेद-विद ब्राह्मण इस शास्त्र में कर्मों को प्रथम समझते हैं, क्योंकि ईश्वरी विधान में यद्यपि ईश्वर और देवता और काल और पितर और कर्म मिल कर कारण हैं, तो भी उन में हर एक के कर्म मुख्य हैं। अतः ए भाइयो! यदि बुरा करते हो तो अपने लिये, और यदि अच्छा करते हो तो अपने लिये। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य कब कुएँ में छलांग मारता है? और क्यों गढ़े में गिरता है? बरन् वही जो अंधा और मूढ़ होता है (गिरता है)। तुम को भी जब हम ने प्रत्यक्ष दिखा दिया कि मृत्यु के बाद क्या होगा और क्योंकर होगा, फिर क्यों जान बूझकर बुराई करते हो और क्यों झूठ और छल का व्यवसाय करते हो?

(२७) पाश्चात्य शिक्षा से जो केवल संसार की शिक्षा है, तुमको भ्रांति होती है, और परलोक की विद्या से वह विमुख करती है, और यही चकमा दिलाती है कि मरा सो गया। हा शोक! परन्तु यह ऐसा नहीं सुझाती कि तुम मृत्यु के कारण चोला बदलते हो, मरते नहीं। यदि मरते तो छूट जाते। यह देखो नरक तुम्हारे सामने खड़ा है, और उसी तरह खींचता है जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है और लोहे में उसकी सत्ता है कि चुम्बक की ओर खिचा जाता है। इसी तरह तुम में भी पाप हैं जिन से नरक की ओर खींचे जाओगे और यमलोक में फल पाओगे।

(२८) पर वह जो पुण्य करते हैं और लोभ को त्यागकर

सत्य का पालन करते हैं और इस अचिरस्थायी (क्षणभंगुर) संसार को तुच्छ जानते हैं और अपने अधिकार पर सन्तुष्ट होकर भलाई से वर्ताव करते हैं, उनके लिये सोमलोक, जो स्वर्ग है, बुलाता है। और यह भौतिक शरीर छोड़ते ही सोम-राज होते स्वर्ग के सुख भोगते हैं और अप्सरा तथा प्रासाद और भांति-भांति के सुस्वादु भोजन और प्रसाद (नेमतें) पाते हैं। अतः आओ और समझो। संसार का धोका मत खाओ और पाश्चात्य विद्या के प्रकाश वा आलोक पर मतवाले न रहो। गया समय हाथ नहीं आता। खबरदार हो जाओ।

——:o:——

आठवाँ अध्याय।

(१) पंच प्राण की असलीयत एक धुकती अग्नि है, और मन अर्थात् अन्तःकरण की असलीयत एक जलती आग है। जिस तरह धुकती आग में फूंक से आग जल उठती है और लपट मारती है, उसी तरह प्राणों में फूंक से मन पैदा होता है और लपटें मारता है, दिमाग तक फैलता है, और इसी तरह आँख, कान, नाक, मुँह में निकलता है जिस तरह जलती आग अँगीठी के पांचों ओर से छेदों में से निकलती है।

(२ यह स्पष्ट है कि जब अग्नि में कुछ ईंधन दिया जाता है और उसे फूँक मारी जाती है, तो विशेष रीति से आग जल उठती है और प्रकाश देती है। इसी तरह प्राण में जब अन्न दिया जाता है और विशेष विधि से प्रजापति फूँकता है, तो उसमें मन भी जाग उठता है और सोच-समझ का प्रकाश देता है, और ज्ञान-इन्द्रिय होकर मस्तिष्क में फैलता है।

(३) विशेष विधि यह है कि जब अन्न रक्त होकर यकृत से हृदय कमल में जाता है और वहाँ पचता है, तो बाहर की श्वास से फूँक पहुँचती है। उससे सोच-समझ रूप वृत्ति (इन्द्रिय) उत्पन्न होती है, और मस्तिष्क तक लपटें मारती है और आँख, कान, नाक, मुँह में पँच प्रकार हो जाती है।

(४) इस हेतु कि धुकती आग पिता है और जलती आग उसका पुत्र है, इसी तरह प्राण पिता है, मन पुत्र है। जिस तरह बालक अपने बाप की गोद में खेलता और आराम पाता है, उसी तरह मन भी प्राण की गोद में जागता और सोता है। स्मरण रहे कि जैसा बालक बाप की गोद में लेटा हुआ हाथ बढ़ा कर वर्ताव करता है, उसी तरह मन भी प्राणों की गोद में लेटा हुआ आँख, कान, नाक, मुँह में फैलता हुआ धरती और आकाश के तद्रूप हो जाता है और उसका ज्ञान करता है।

(५) नन्हा बच्चा गोद में जब कोई बाहर का आघात देखता है, तो भाग कर बाप की बग़ल में छिप जाता है, उसी तरह यदि मस्तिष्क या दूसरे अंग में चोट लगती है, तो मन तत्काल भाग कर प्राण-पिता की बग़ल में छिप जाता है। इसी को सामान्य मनुष्य मूर्च्छा बोलते हैं। और जब अंग उस चोट से अच्छा होता है, तो फिर बगल से निकलता उन्हीं में आ जाता है और बर्ताव करता है। परंतु यदि कोई इन अंगों को अधिक ख़राब कर दे, तो प्राण पिता भी इस नन्हें बच्चे को गोद में लेकर इस शरीर-रूपी महल से ले उड़ता है और दूसरा महल तैयार करके उसको उसी रूप से उठाता है।

(६) पिता ने इस नन्हे बच्चे के लिये शरीर को इसी

तरह तैयार किया है, जिस तरह उसने अपने बसने के लिये ब्रह्मांड को तैयार किया है। हृदय-कमल एक विशेष आराम का बंगला बनाया है, जिसमें यह मनो राज्य करता है। इस बँगले में दो उत्तम द्वार लगाए गए हैं, जो हृदय के कान कहलाते हैं और इस पर उत्तम चिक डाली है जो हृदय का परदा कहलाती है। और उसके ऊपर एक पंखा हिलता है जिसको फेफड़ा बोलते हैं। यह पंखा उसके आराम के लिये हर समय हिलता है और उसकी प्रफुल्लता के लिये प्रतिक्षण हवा पहुँचाता है।

(७) इस हृदय-कमल से दो नींद लाने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं जो मस्तिष्क को जाती हैं। और ये नाड़ियां इसकी दो सड़कें हैं जो देवयान और पितृयान की भाँति बनाई गई हैं। और मस्तिष्क उसका मुख्य सार्वजनिक सभाभवन है जहाँ बैठकर वह सारे संसार वरन् पिता के ब्रह्मांड की सैर करता है। जब वह भीतरी बँगले से उन सड़कों की चौड़ाई के साथ बाहरी बँगले मस्तिष्क में आता है, तो ज्ञान-रूप फैलता हुआ बाहर की सैर करता है। और जो कुछ देखता या सुनता है, उसकी मात्रा को लेकर उन्हीं सड़कों के द्वारा फिर भीतरी बँगले में आ जाता है, और इसी मात्रा के अनुसार फैलता हुआ अपने भीतरी बँगले में एक विचित्र ब्रह्मांड प्रजापति के ब्रह्मांड के समान बनाता है। जिससे सिद्ध होता है कि यह प्रजापति का राजकुमार वही चमत्कार रखता है जो उसके बाप के हैं।

(८) जब यह मस्तिष्क में इजलास करता है, अपने पिता के ब्रह्मांड की आकृति पर फैलता है, तो साधारण लोग इसको जागृति बोलते हैं और जब यह जाग्रत्-अवस्था की मात्रा लेकर भीतर ही भीतर एक नया संसार बनता है,

तो उसे स्वप्न नाम कहा करते हैं। और जाग्रत् में भी वह वक्षस्थल के भीतर कुछ वृत्तियों से तरंगित होता है, जिन्हें क्रोध, काम, पवित्रता और बुद्धिमत्ता कहते हैं।

(९) जब वह किसी वस्तु की इच्छा करता है, तो उसे लालच कहा करते हैं; जब वह किसी प्रतिकूल के दमन में उत्तेजित होता है, तो उसे क्रोध कहते हैं: जब वह किसी बात से लज्जित होता है, तो उसी को लज्जा कहते हैं। इसी तरह प्रत्येक वृत्ति में बदलता हुआ उसी वृत्ति का रूप होता है। इसी कारण श्रुति-भगवती समर्थन करती है कि क्या काम, क्या सोच, क्या शोक, क्या लोभ, क्या संतोष, क्या लज्जा, क्या क्रोध, क्या बुद्धि समस्त मनही है।

(१०) लाख उसके परिवर्तन और तरंग असंख्य हैं, तो भी विद्वानों ने उन्हें समुदाय-रूप (समष्टि रूप) से चार अवस्थाओं में परिगणित (शुमार वा विभक्त) किया है। क्योंकि जब वह किसी ठीक बात की खोज करके उसपर विश्वास करता है, तो उसे बुद्धि कहते हैं; और जब वह किसी बात का विचार करता है और नहीं जान सकता कि ठीक है या नहीं, तो उसी को मन बोलते हैं; और जब वह किसी देखी या सुनी वस्तु को स्मरण करता है, तो ब्राह्मण उसी को चित्त कहते हैं: और जब वह अपनी अहंता को प्रकट करता है, तो उसी को अहंकार नाम देते हैं।

(११) इस तरह एक ही अंतःकरण वृत्तियों के भेद से मन, बुद्धि, चित, अहंकार बोला जाता है और शेष वृत्तियाँ उनकी अधीनता में असंख्य हैं जिनके नाम नहीं रख सकते। तो भी उसकी वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, या तो भली होती हैं या बुरी। वह जो सत् वृत्तियाँ हैं, उनको देवता

और वह जो असत् वृत्तियाँ हैं, उनको असुर कहते हैं। इस प्रकार एक ही मन (अंतः करण) अनेक देवता और असुर रूप होकर हृदय के भीतर प्राण रूपी तार से बंदी (क़ैदी) होकर बसता है, और इस तार की गिरह उसी के कर्म हैं जो उसके भोग देने के लिये उदय होते हैं।

(१२) जब तक यह अपने भोग भोग नहीं लेता, तब तक उन्हीं कर्मों की ज़ंजीरमें फँसा हुआ कभी दुःख कभी सुख की दशाओं में बदलता दुख सुख पाता है। जब कभी उसके कर्म सुखके उठते हैं तो सुखी होता है, और जब कभी उसके कर्म दुख के उठते हैं तो दुखी होता है।

(१३) *गार्गेय ऋषि ने पिप्पलाद मुनि से पूछा कि हे भगवन्! इस मनुष्य में कौन-कौन से देवता सो जाते हैं और कौन-कौन से जागते रहते हैं? कौन-सा देवता स्वप्नों को देखता है और निद्रा का आराम किसको होता है? और उस समय किस में ये सब लय हो जाते हैं?

(१४) पिप्पलाद मुनि ने उत्तर दिया कि ऐ गार्गेय! जैसे सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं और उसी से एक होती हैं और फिर बार-बार उदय के समय उसी से निकलती हैं, इसी तरह समस्त इंद्रियाँ क्या ज्ञानेंद्रियाँ क्या कर्मेंद्रियाँ, उसी महान् देव मन (अँतः करण) में एक हो जाती हैं। इसी कारण यह मनुष्य उस समय न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न छूता है, न पकड़ता है, न आनंद लेता है। उस समय निश्चय होता है कि सोता है।

(१५) परन्तु प्राण-रूप आग इस शरीर में जागती

* (देखो प्रश्नोपनिषद् चौथा प्रश्न)

रहती है, अपने-अपने काम से निवृत्त (दूर) नहीं होती है, बरन् अपान रूप अग्नि घर की अग्नि की नाईं है और व्यान-रूपी अग्नि उस अग्नि के समान है जिस पर होम की वस्तुएँ पकाई जाती हैं, और प्राण रूपी अग्नि होम की अग्नि के समान है जो घर की अग्नि से होम के लिये अलग निकाल ली जाती है। और श्वासों का आना-जाना मानों दो आहुती हैं। वह जो आहुती करता है समान है, मन मानों यजमान है, उदान इस होम का प्राप्तव्य फल है, क्योंकि वह नित्य इस यजमान को ब्रह्मलोक ले जाता है जो सुषुप्ति है।

(१६) उस समय यह देव स्वप्न में अपनी महानता और तेजको देखता है, बरन् जो देखा या नहीं देखा, उसे देखता है। जो सुना या नहीं सुना उसे सुनता है। देश और दिशाएं जो जानी या नहीं जानी हैं, उन्हें जानता है। क्या देखी क्या अनदेखी, क्या सुनी क्या अनसुनी, क्या जानी क्या अनजानी, सब देखता है और सब हुआ देखता है।

(१८) पर जब यह उदान की कृपा से सुषुप्ति में जाता है, जहाँ न कुछ स्वप्न देखता है न कुछ जानता है। उस समय अपने बाप के खास आराम में, जो इसका परमानंद है, मिल जाता है। और यही उसका परम ब्रह्मलोक है। उस समय जैसे चिड़ियाँ अपने बसेरे के समय एक वृक्ष में एकत्रित होकर सो जाती हैं, इसी तरह यह सब परमात्मा में निमग्न हो जाते हैं।

(१९) क्या पृथिवी क्या पृथिवी की मात्रा, क्या पानी क्या पानी की मात्रा, क्या अग्नि क्या अग्नि की मात्रा, क्या वायु क्या वायु की मात्रा, क्या आकाश क्या आकाश की मात्रा, क्या दृष्टि क्या द्रष्टव्य, क्या श्रोत्र क्या श्रोतव्य, क्या सूँघना

क्या सूघ, क्या चखना क्या चाख, क्या स्वाद लेना क्या स्वाद, क्या छूना क्या छूत, क्या वाणी क्या अर्थ. क्या पकड़ना क्या पकड़, क्या त्याग क्या ग्रहण, क्या गमन क्या गति, क्या मन क्या सोच, क्या बुद्धि क्या बुद्धिमत्ता, क्या स्मरण क्या स्मृति, क्या अहंकार क्या अहंता, क्या प्राण क्या जीवन, सब परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

(२०) उस समय यह निश्चय होता है कि वह वादानुवाद वा तर्क वितर्क से रहित है, देखता नहीं किंतु दृष्टिस्वरूप है. सुनता नहीं किंतु श्रवण स्वरूप है. सूँघता नहीं किंतु घ्राण स्वरूप है। अतः जो उसे जानता है, जो कि बिना छाया. शरीर और रंग के है, वह आत्मविद् है, और वही सर्व-रूप है।

(२१) इस प्रकार के वैदिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्था ठीक देवलोक का आविर्भाव है, और सुषुप्ति अवस्था ठीक ब्रह्मलोक की सत्यता (अवस्था) है। और उदान प्राण नित्य इसको देवलोक और ब्रह्मलोक में ले जाता है। लेकिन इस लिये कि वह अपने कर्मों की कैद में बन्द है, फिर जाग्रदावस्था में आ जाता और दुख-सुख पाता है।

(२२) परंतु जब यह शास्त्र-नियमानुसार कर्मों को करता रहता है, तो मृत्यु के बाद वही उदान उसको देवयान सड़क पर अनेक रूपों में पलटता हुआ सूर्य में ले जाता है, और वहाँ से देवलोक में पहुँचाता है और सत्य संकल्प हो जाता है। वरन् जिस प्रकार मस्तिष्क से हृदय-कमल में वह नित्य जाता है. उसी तरह देवलोक से उस चंद्रलोक को, जो प्रजापति का मुख्य हृदय है, जाता है और उसके बराबर हो जाता है, और प्रजापति से एक हो जाता है। यही

कर्मकाण्ड की अंतिम उन्नति है।

(२३) जब वह इस लोक में प्रविष्ट होकर पुण्यलोक में पहुँचता है, तो यही उदान प्राण उसी तरह इस मन के अधीन होता है, जिस तरह कि कर्मेंद्रियाँ यहाँ उसके वश में हैं। और यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार मन संकल्प करता है, उसी तरह कर्मेंद्रियाँ काम करती हैं। पुण्यलोक में जब ये पंचप्राण मन के अधीन हो जाते हैं, फिर जो हम चाहते हैं, करते हैं। जब हम चाहें कि हम बाग़-बग़ीचा देखें, तो उसी समय उदान प्राण बाग-बगीचा एक आँख की झपक में तैयार कर देता है; जब हम चाहते हैं कि सुँदरी स्त्रियाँ मिलें, तत्काल मिल जाती हैं। जब हम उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम सवारियाँ माँगें, सब संकल्प से उपस्थित हो जाती हैं। यही द्यौलोक के सिंहासन की संपत्ति है और इसी को वेद वेत्ता ब्राह्मण सुषुप्ति बोलते हैं।

(२४) यह न समझ लेना चाहिए कि यह छोटा-सा मन क्योंकर प्रजापति के मन से तद्रूप हो जाता है, बल्कि यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि यह मन अपने कर्मों के बन्धन से छोटे से पिंड में कैद हुआ छोटा सा ज्ञात होता है, परन्तु यह वह योग्यता रखता है कि प्रत्येक के तद्रूप हो जाता है। देखो, जब यह योनियाँ बदलता—च्यूँटी या मच्छर की योनि में कैद होता है, तो च्यूँटी या मच्छर के समान हो जाता है, और जब यह हाथी या सिंह की योनियों में जाता है, तो हाथी और सिंह के समान हो जाता है और उन्हीं की शक्ति के काम करता है। जब यह देवताओं और द्यौलोक-निवासियों की योनिमें जाता है,तो उन्हींके तद्रूप हो जाता है और उन्हीं के काम करता है। अधिक क्या कहें, यह सब के

समान हो जाता है वरन् प्रजापति में मेल पाता प्रजापति हो जाता है और सब में सब कुछ हो जाता है।

(२५) इस समय भी यद्यपि कर्मों के भोग में फंसा हुआ है, तो भी आँख कान से निकलता, धरती और आकाश और जो कुछ उस के बीच में है, सब का तद्रूप होता सब को देखता है। स्वप्न में जाता हुआ ऐसी नाड़ी से जिस का अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र है, ब्रह्मांड-रूप में फैलता है और सब रूप होता है। इस प्रकार की सात्तियों से बुद्धि-मान् मनुष्य जान सकता है कि वह भूलोक (मर लोक) से नहीं अपितु अमर-लोक से है, और प्रजापति का पुत्र प्रजा-पति-रूप है। अपने कर्मों के भोग से मानवी रूप में आया दुःख भोग रहा है और उसी तरह वेद-शास्त्र की शिक्षा में दिया जाता है जिस तरह एक राजकुमार भी जब तक युवक नहीं होता, शिक्षकों के बन्धन में रक्खा रहता है।

(२६) फिर जब समय आता है राज्य की शिक्षा पाता है, और पिता का उत्तराधिकार पाता है, तो फिर राजगुरुओं के हाथमें नहीं रहता। इसी तरह यह मन भी जबतक कर्म-भोग के बन्धन में है, वेद और शास्त्र और ब्राह्मणों के बन्धन में शिक्षा पाता है। परन्तु जब यह शास्त्रीय सिद्धान्तों की शिक्षा पाता है और सत्कर्मों और शास्त्राज्ञाओं पर चलता है तो मृत्यु के पश्चात् देवयान सड़क पर चलता द्यौलोक के सिंहासन का स्वामी होता है और सत्य संकल्प हो जाता है। जितने सुख के भोग हैं, उस को मिलते हैं; दुख का स्मरण भी नहीं करता, वरन् वे नितान्त विलुप्त हो जाते हैं

(२७) ऐ भाइयो! क्यों अधिकारी होकर उस सिंहासन की इच्छा नहीं करते। अपने कर्मों को सम्हालो और मानुषी बुद्धि को दूर करके शास्त्रीय विश्वास और कर्मों को दृढ़

करो; अन्यथा मनुष्य की भाँति मरोगे और राजकुमारों में में से एक के समान गिर जाओगे।

नवाँ अध्याय।

(१) अब पिछले अध्यायों के पढ़ने से निश्चय हो सकता है कि मानव-शरीर यद्यपि भौतिक है, परन्तु इस कारण कि उस में दिव्य शक्तियां (देवता) बसी हुई हैं, वास्तव में एक ठाकुरद्वारा या ईश्वरीय मूर्ति है। क्योंकि क्या ज्ञान-इन्द्रियाँ और क्या कर्म-इन्द्रियाँ, क्या मन और क्या प्राण, सब इन्द्रियाँ वा प्राण हैं, जो देवता कहलाते हैं, और जो हमारे पिछले कर्मों के भोग के लिये इस में बसे हैं। और यद्यपि हर एक देवता अपने बड़े-बड़े लोकों पर अधिकार रखते हैं, तो भी नीति और न्याय से उतना ही भोग देते हैं जितना कि हमारे लिये उचित है।

(२) आँख वास्तव में समस्त विविध वर्णात्मक जगत् की सैर करने वाली है और प्रत्येक रंग के ज्ञान में मालिक और बिचवानी (वसीला) है, तो भी हमें उतना ही दिखाती है, जितना कि हमें चाहिए। और कान समस्त शब्द सुन सकता है और शब्द जगत् का बिचवानी (वसीला) है। पर हमको सब नहीं सुनाता वरन् उतना ही सुनाता है जितना न्याय्य है। इसी तरह वाणी समस्त कथन पर सत्तावान् है, पर सब नहीं बतलाती, बरन् उतना ही बतलाती है जितना कि उचित है।

(३) जो लोग इन देवताओं (इन्द्रियों) के महत्त्व और तेज को नहीं जानते और भौतिक शरीर में देहाध्यास रखते हैं, वे उनको भोग के साधन जानते स्वेच्छानुसार उन

से वर्ताव करते हैं, और क्या अच्छा और क्या बुरा जो प्राप्त होता है, उसी में पूर्ण सुख देखते इन का वर्ताव करते है। यद्यपि वह (इंद्रिय) बुरे कामों से घृणा करते और दुःखी होते हैं, तो भी वह न्याय के कारण इनकार नहीं करते, वरन् ऐसे वर्ताव करते हैं जैसे कि एक नौकर वर्ताव करता है, बल्कि नौकर इच्छानुसार नहीं चलता, यह तो इच्छा की दासता भी करते हैं।

(४) जब यह अनजान इन इन्द्रियों को बुरे कामों में लगा कर भोग पाता है, तो ये उसे भोग तो स्वभावानुसार देती हैं, परन्तु उस के लिये एक-पाप उत्पन्न करती हैं जिस से वह दुरात्मा हो जाता है। और जब वह उनको अच्छे कामों में लगाता भोग पाता है, तो ये उसे भोग भी देती हैं और साथ ही पुण्य भी पैदा करती हैं, जिस से वह भद्र वा भाग्यवान् हो जाता है।

(५) पर वह जो उनकी असलियत और महत्व जानते हैं और उनकी महिमा और धर्मों से परिचित हैं, उनको बुरे कामों में नहीं लगाते वरन् अच्छे कामों में बर्ताव करते हुए भी उनको महान और पूज्य समझते हैं। इसलिये वह उन्हीं के द्वारा मुक्ति का मार्ग भी पाते हैं।

(६) ये बातें कि किस तरह ये सब उपास्य किये जाते हैं, और किस तरह उनकी उपासना होती है, कर्मकांड में सूक्ष्म बातें हैं। प्रत्येक भाषाविद् उन्हें समझ नहीं सकता। तो भी हम संक्षेप से संकेत करते हैं और उस बड़ी उपासना पर संकेत करते हैं जिसमें सबके संबंधी परिणाम प्रविष्ट होजाते हैं,

(७) वाणी या आँख या कान को जो पूज्य वा महान् करके पुण्य कर्म करते हैं, संक्षिप्त और विशिष्ट फल पाते हैं।

लेकिन वह जो प्राण की उपासना करते हैं, समस्त कर्मों के फल पा जाते हैं और देवयान सड़क पर चलते ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होते प्रजापति से मेल पा जाते हैं।

(८) कदाचित् कोई यह कहे कि यह किस प्रकार हो सकता है कि एक प्राण की उपासना से सब देवताओं की उपासना का फल प्राप्त होजाता है? तो उसे हम एक वैदिक आख्यान (कहानी) से दिग्दर्शन कराते हैं। क्योंकि विद्या के बल पर यदि जतलावें, तो भाषा जाननेवालों का वह सुगमता-पूर्वक हृदयंगम न हो सकेगा। और उचित भी यही है कि जहाँ तक समझने में सहल हो, वहां तक इन्द्रियों वा देवताओं को गूढ़ शैली से न समझाया जाय।

(९) *हम सुनते हैं कि देवलोक में एक बार इन इन्द्रियों में झगड़ा हुआ। वाणी ने कहा, मैं बड़ी हूँ। आँख ने कहा, मैं बड़ी हूँ। कान ने कहा, यह सब मेरी बड़ाई है। मन ने कहा, यह सब मेरी महिमा है। वीर्य ने कहा, क्यों बकबक करते हो, मैं बड़ा हूँ, जो सब को जनता हूँ। प्राण ने कहा, तुम सब डींग मारते हो, बैल भी अपने चरने पर डकारता है, विचार करो तो मैं सब में पलौठा (प्रथम) और अनोखा हूँ।

(१०) ये देवता इस तरह झगड़ते-झगड़ते प्रजापति के निकट गये, जिससे वह उनका न्याय करें। प्रजापति ने कहा कि तुम में से एक एक होकर इस पिंड से निकल जाओ, जिसके निकलने से सब निकल जायँ और यह पिंड खराब होजाय, वही तुम में से पलौठा (प्रथम) और ठाकुर है।

---

* देखो छांदोग्योपनिषद प्रपाठक ५ खंड पहला। और उसी तरह की कथा बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण पहले में भी पाई जाती है

(११) पहले वाणी निकल गई और साल तक बाहर रही, जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा कि जैसे गूँगा नहीं बोलता परन्तु नथनों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है, वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब वाणी ने कहा, हाँ ठीक है, और (उस पिण्ड में) प्रविष्ट होगई।

(१२) फिर आँख निकल गई और साल तक बाहर रही। जब वापिस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा कि जैसे अंधा आँखों से नहीं देखता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब आँख ने कहा, ठीक है और (शरीर में) प्रविष्ट होगई।

(१३) फिर कान निकल गया। साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? उन्होंने कहा कि जैसे बहरा (सोता पुरुष) नहीं सुनता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता है, आँखों से देखता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब कान ने कहा, ठीक है और (देह में) प्रविष्ट होगया।

(१४) फिर मन निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा, मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा, जैसे मतवाला मन से नहीं समझता, परन्तु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब मन ने कहा, ठीक है और

(तन में) प्रविष्ट होगया ।

(१५) फिर वीर्य निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापिस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे ? तब उन्होंने कहा, जैसे नपुंसक नहीं जनता, परन्तु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और मन से समझता है । उसी तरह हम जीते रहे । तब वीर्य ने कहा, ठीक है और (शरीर में) प्रविष्ट होगया ।

(१६) अब प्राण ने भी परीक्षार्थ निकलना चाहा, तो जिस तरह बड़ा बलशाली अश्व उछलता है, तब अगाड़ी पिछाड़ी की सब मेखें उखड़ जाती हैं, ऐसे सब इन्द्रिय-देवता साथ उखड़ गये । उन्हों ने कहा, भगवन् ! ठहरो, मत निकलो । मालूम हो गया, तुम्हारे बिना हम नहीं जी सकते । तुम हम में बड़े हो । तुम ही हमारे आत्मा हो और तुमही हमारे पूज्य हो । हमको चाहिए कि तुम्हारी उपासना करें और तुम्हारे में स्थित हों । हम तभी फल लाते हैं, जब तुम में स्थिर होते हैं, जैसे शाखाएँ जब अंगूर में स्थित होती है, तो फल लाती हैं ।

(१७) तब से वाणी ने निश्चय किया कि मैं प्राण का पुत्र प्राण रूप हूँ । इसी तरह चक्षु ने निश्चय किया कि मैं प्राण का पुत्र प्राण-रूप हूँ । और इसी तरह कान, मन और वीर्य ने भी विश्वास किया कि हम सब उसी के रूप हैं ।

(१८) इस प्रकार की कहानियों से सुगमता-पूर्वक समझा जाता है कि क्या कर्मेंद्रिय क्या ज्ञानेंद्रिय क्या मन सब प्राणके पुत्र प्राण-रूप हैं और यही निश्चय प्राण देवताकी उपासना है । अतः वह जो इस पर आचरण करता है और

इसी पर विश्वास लाता है, वही शास्त्रीय कर्म का अधिकारी होता है। जब तक कि वह इस प्रकार का विश्वास नहीं पाता, प्राण अर्थात् जीवात्मा से नहीं जना जाता बल्कि शरीर से जना जाता है। वह जो शरीर से जना जाता है, शरीर ही है और जो जीवात्मा से जना जाता है जीवात्मा ही है।

(१९) शास्त्रीय कर्म, जो वास्तव में शास्त्रीय आज्ञा का कर्म-काण्ड है, उसी के लिये है जो जीवात्मा से जना जाता है; उनके लिये नहीं जो शरीर से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि आत्मा तो अनादि, अनन्त, नित्य है, शरीर नश्वर, आदि, अन्तवान् है, और शास्त्र का फल मृत्यु के बाद परलोक में है, शरीर यहाँ मिट्टी हो जाता है। अतः वह जो देह और देहाध्यासी है, उस के लिये शास्त्र व्यर्थ है, बल्कि कष्टकर है; किन्तु वह जो आत्मा या आत्मा वाला है, उस के लिये अमृत और आनंद है।

(२०) यदि शास्त्र देह और देहाध्यासी को भी लाभप्रद होता, तो पशुओं पर प्रचारित होता। किन्तु पशु योग्यता नहीं रखता कि अपने आप को आत्मा या आत्मा वाला निश्चय करे। इसी तरह जो मनुष्य कि शास्त्रीय ढंग से आत्मा से नहीं जना जाता, वास्तव में देह या देहाध्यासी है, यद्यपि मानवी रूप है; और पशु-प्रकृति में मिलता है, यद्यपि आकृति मनुष्य की है।

(२१) वह जो शरीर या शरीर से अध्यास रखने वाला है, उसी को शास्त्र में शूद्र कहते हैं, और उस से उसी तरह सेवा ली जाती है जिस तरह पशुओं से सेवा लेना आवश्यक है। परन्तु वह जो जीवात्मा से दुबारा जने जाते हैं, शास्त्र में द्विजन्मा कहलाते हैं और वही कर्म-कांड के अधिकारी हैं।

(२२) आश्चर्य न करो कि दुबारा जन्म कैसे हो सकता है? क्या फिर वह दुबारा माता के उदर से निकलता है? नहीं, जब वह माँ के पेट से निकलता है, तो शरीर होता है। क्योंकि माँ का पेट भी शरीर है और जो उस से निकलता है, वह भी शरीर है, और यह पहला जन्म है। अतः इस तरह वह जो शरीर और पानी में उत्पन्न होता है, शूद्र है और पशुओं के वर्ग (श्रेणी) में मिलता है। वह शास्त्रीय कर्मों का अधिकार नहीं रखता। इसी कारण आठ वर्ष तक द्विजाति अपने लड़कों के उपनयन संस्कार नहीं करते, क्योंकि वह अभी आत्मिक ज्ञान की क्षमता नहीं रखते।

(२३) परन्तु आठवें वर्ष जब वह प्रौढ़ अवस्था (वा युवावस्था) को प्राप्त होता है और इस निश्चय की योग्यता लाभ करता है, तो उस का उपनयन-संस्कार होता है, और वाणी से दुबारा जना जाता है, और फिर वह शरीर-भाव से हट जाता है और आत्मा में स्थित होता है, और उस समय उस पर शास्त्रीय नियम उस के लिये कर्तव्य होते हैं।

(२४) देखो जब बालक माता के उदर में उत्पन्न होता है तो उसी तरह अहंकार का स्वाभाविक निश्चय (अध्यास) शरीर में रखता है जैसा कि पशु अपने शरीर में अहंभाव का ख्याल (भ्रम) रखता है, बल्कि यदि उस को अपनी वास्तविक प्रकृति पर छोड़ा जाय, तो युवावस्था प्राप्त होने के समय भी यही धारणा रखता है कि "मैं शरीर हूँ, और मिट्टी से निकला हूँ, और मिट्टी में जाऊँगा"। यद्यपि वह सुनता है कि शरीर में एक प्राण-आत्मा है, जिस से शरीर जीवित है और गति-गमन करता है, तो भी वह यह ज्ञान नहीं पाता कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ और शरीर मेरा पिंड है। मैं उसी तरह इस शरीर में बसता हूँ जैसे यह देह इस

घर में बसता है"।

(२५) इस प्रकार वह पिता के वीर्य और माता के रक्त से बनाया गया है जो स्वयं शरीर है। और पिता उसका नर शरीर है और माँ उसकी मादा शरीर है। और यही दशा पशु की है। खाना पीना भोग करना जैसा पशु का काम है, वैसा उसका काम है। जिस प्रकार पशु भी प्राण रखता और साँस लेता है, उसी तरह यह भी प्राण रखता और साँस लेता है। परंतु पशु को मनुष्य की सेवा करना कर्तव्य है, उसी में उसकी भलाई है, उसी तरह इस शूद्र की भी दशा है, द्विजातियों की सेवा इसका कर्तव्य है, और उसी में इसकी भलाई है।

(२६) पर वह जो इस वाणी से शिक्षा पाता है कि "तुम आत्मा हो, देह नहीं, क्योंकि देह तो वस्त्र की भाँति बदलता है, पर जीव-आत्मा नहीं बदलता। यदि तुम देह होते, तो जब छोटा सा देह जो माता के उदर से निकला था और घुल कर (बदल) जाता रहा था, और यह दूसरा देह जो युवावस्था की दशा में है, भोजन से देहधारी की तरह, उसी ढंग और उसी युक्ति से धीरे-धीरे बदल गया है जैसा कि पहनावा (वस्त्र) बदलता है, और फिर बुढ़ापे में यह भी जाता रहेगा, तो तुम में भी परिवर्तन अवश्य होता।" तो वह इसी शिक्षा से विश्वास कर सकता है कि "मैं देह नहीं, जो हर समय बदलता है, बल्कि मैं जीवात्मा हूँ जो नहीं बदलता"। तब उस समय वह देह से अलग होकर जीव-आत्मा में अहंकार का भाव लाता है और आत्मा तो आत्मा का पुत्र आत्मरूप है। इस कारण वह वाणी के द्वारा आत्मा से जना जाता है जो दूसरा जन्म है।

(२७) वह वाणी जो मनुष्य को आत्मा से दुबारा उत्पन्न

करती है, वास्तव में गायत्री मंत्र है, जो द्विजातियों की आत्मिक माता है, और वह ब्राह्मण जो उसकी शिक्षा देता है, वास्तव में द्विजातियों का आत्मिक पिता है। इस प्रकार आत्मिक उत्पत्ति ब्राह्मण और वाणी से होती है। और वह नई उत्पत्ति में प्रविष्ट होता है और देहाध्यासियों से पृथक किया जाता है। जिस तरह वह जो पशुओं से अलग चुन लिए जाते हैं और सूत्र अर्थात् रस्सी से बाँध दिए जाते हैं कि उनको नई शिक्षा दें, इसी तरह ऐसे शिशु को जनेऊ से चुन लिया जाता है, और यज्ञोपवीत से शास्त्रीय बंधन में बाँध दिया जाता है जिसमें कि वह द्यौलोक में अवस्थान करने की शिक्षा पावे और आध्यात्मिक कर्मों से देवयान या पितृयान-सड़क का मार्ग प्राप्त करे।

(२८) और वह जो इस तरह नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, बल्कि देह में उसी प्रकार अभिमान की धारणा रखता है जैसा कि पशु बल्कि पाश्चात्य शिक्षा से उसको और भी परिपक्व कर लेता है, यहाँ तक कि यदि द्विजाति उसे सिखावे कि "तू शरीर नहीं बल्कि आत्मा है", तो वह आश्चर्य प्रकट करता है और कहता है कि "राम-राम! आत्मा तो परमेश्वर है, क्या मैं ईश्वर हूँ? मैं तो मिट्टी का शरीर हूँ, और इस प्रकार का निश्चय नास्तिकता और ईश्वरीय दावा है", तो ऐसा मनुष्य पशुओं से भी गया-बीता होता है, और उसको ऊर्ध्व-गति लाभ नहीं हो सकती, चाहे कोई कैसी ही बौद्धिक विधि उसने मान रक्खी हो। क्योंकि जो मिट्टी से निकलता है, वह तो मिट्टी में जायगा और जो द्यौलोक से उतरा है, वह द्यौलोक को जायगा। शरीर तो मिट्टी का है और प्राणात्मा द्यौलोक का। इस कारण देवयान और पितृयान मार्ग तो द्विजातियों और आत्माभिमानियों के लिये

निसेनी है; शरीराभिमानी तो वही मिट्टी और समाधि (क़ब्र) का आहार है।

(२९) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि आर्य-संतान को पहले यह विश्वास करना होता है कि "मैं आत्मा हूँ और आत्मा से निकला हूँ, मिट्टी से नहीं", और आत्मा की असलियत वह अग्नि है जो जीवन का आधार है। इस कारण वह अग्नि का पुत्र अग्नि-रूप ज्योति से निकला ठीक ज्योति स्वरूप है; मिट्टी तो अँधकार है।

(३०) जब वह इस तरह निश्चयवान् हो जाता है और जानता है कि शरीर एक पिंड है जो यहाँ की वस्तु है और जीव-आत्मा जो मेरा अपना आप है, यहाँ की वस्तु नहीं, बरन् द्यौलोक की वस्तु है, तो इच्छा करता है कि मैं किसी तरह ऊर्ध्व-गति लाभ करूं, और जानना चाहता है कि "मैं किस लिये मिट्टी के पिंड में बंदी किया गया हूँ? किस प्रकार इस शरीर के बंधन से छुटकारा पाऊँगा? क्या कारण है कि द्यौलोक में नहीं जा सकता? अब मुझे क्या करना चाहिए जिससे मैं ऊँचे चढ़ूं"? और ये बातें वेद की शिक्षा से ज्ञात हो सकती हैं। इस लिये इस विश्वास के पश्चात् वेद की शिक्षा उसके लिये आवश्यक होती है, और ब्रह्मचर्य के नियम पालन करना उसका कर्तव्य होता है, और वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

(३१) जब वह पर्याप्त समय तक वेद की शिक्षा पाता है, तो फिर वह जीव-आत्मा के धर्म भली भाँति जानता है और पुण्य और पाप के प्रभावों (असलियत) से परिचित होता है। और उस आत्मिक-रसायन से जिस से कि आत्मा को ऊर्ध्व-गति लाभ होती है, परिचित हो जाता है,

और वह आत्मिक रसायन वास्तव में अग्नि-कर्म है, तो उस समय उस का यह अग्नि-कर्म कर्तव्य होता है, और वह इस का अधिकारी होता है कि यज्ञ-कर्म करे।

(३२) परन्तु वह जो जानता है कि उस यज्ञ में प्रजापति का अनुकरण आवश्यक है, और प्रजापति ने नर-नारी होकर उस कर्म को पूर्ण किया है जिस के कारण उसे ऊर्ध्व गति लाभ हुई है, इस लिये पहले पहल उस को एक अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना आवश्यक होता है जिससे वह प्रजापति की तरह उस से दंपति होकर इस अग्नि-कर्म का आरंभ करे। और दंपति की सत्यता वास्तव में आत्मिक अभेदता है जिस से पुरुष और स्त्री वेद-मन्त्रों के द्वारा आत्मा में एक हो जाते हैं।

(३३) यद्यपि हेतु उसके बहुत विस्तारसे है कि क्यों नर-नारी एक होकर यज्ञ आदिक करते हैं, परन्तु मुख्य हेतु यह है कि नर तो प्राण है और नारी रयि है। और यह हम वर्णन कर चुके हैं कि प्राण और रयि मिलकर प्रजापति का अस्तित्व है, क्योंकि प्राण-कर्ता है और रयि करण। इस कारण प्राणका प्रभुत्व नरमें है और रयिका नारी में। और जब वह मिलकर रासायनिक कर्म करते हैं, मृत्यु के पश्चात् एक होकर उन सड़कों पर, जो देवयान और पितृयान कहलाती हैं, चढ़ते हैं। इस दशामें वह ब्रह्मचर्य से निकल कर गृहस्थी कहलाता है और पंचयज्ञ आदिक उस पर कर्तव्य हो जाते हैं।

(३४) जिस तरह दंपति के हेतु अति सूक्ष्म हैं, उसी तरह यज्ञ के भी तरीक़े (विधियां) सूक्ष्म हैं, तो भी हम भाषा जाननेवालों के लिये संक्षेप से संकेत करते हैं कि यज्ञ वास्तव में प्राण का भोज है जिसके उत्तराधिकार के आर्य-द्विजाति अधिकारी हैं, और उसमें प्रणव की पूजा

होती है और प्रार्थनायँ की जाती हैं, जिससे वह असत से सत को और तम से ज्योति को और मृत्यु से अमृत को प्राप्त होता है।

(३५) यज्ञ में चार ब्राह्मण चुन लिए जाते हैं, जो इस आत्मिक रसायन को कराते हैं। एक तो वह होता है, जो ऋग्वेद को जानता है; दूसरा वह जो यजुर्वेद का विद्वान् है; तीसरा वह जो सामवेद का पंडित होता है; और चौथा वह जो इन तीनों को जानता है और इनके कामों की देख-भाल कर सकता है।

(३६) ऋग्वेदी को 'होता' बोलते हैं, और यजुर्वेदी को 'अध्वर्यु' और सामवेदी को 'उद्गाता' कहा करते हैं और वह जो उनके कामों की देख-भाल करता है, 'ब्रह्मा' कहलाता है। 'होता' का काम होम है, 'अध्वर्यु' का आहुतियाँ तैयार करना है, 'उद्गाता' का काम साम गाना है, जिससे महान प्राण प्रसन्न होकर पुण्य उत्पन्न करता है। 'ब्रह्मा' का काम इन तीनों की देख-भाल करना है।

(३७) हम इसकी असलीयत को उदाहरण द्वारा और सरल करते हैं। देखो श्रीमानों के भोज में एक तो वह होता है जो भोजन पकाता है, जिसे पाचक (रसोया) बोलते हैं; दूसरा वह होता है जो उन भोजन-पदार्थों को चुन-चुन कर आमंत्रितों के आगे रखता है, एक वादकलावित् (बैण्ड-मास्टर) होता है जो भोज के समय आनंद के गीत गाता है और मांगलिक बाजे बजाता है। परंतु वह जो भोज का प्रबन्धक होता है और सबकी देख-भाल करता है, भोज का अधिकारी (कार्यवेत्तक) होता है; और जो भोज देता है, निमंत्रक (यजमान) कहलाता है।

(३८) इसी प्रकार प्राण के भोज में 'होता' भंडारी,

'अध्वर्यु' पाचक, 'उद्गाता' वाद्कलाविद् और 'ब्रह्मा' भोज के मुख्याधिकारी के स्थान पर होता है। और वह जो यज्ञ करता है, यजमान कहलाता है, जो भोजदाता के स्थान पर है। उन चारों को अंग बोला करते हैं और यह पंचम यजमान है। इस प्रकार अग्नि के द्वारा प्राण-आत्मा का भोज होता है और प्रणव की पूजा की जाती है।

(३९) इस के पश्चात् वह नियम कि किस प्रकार महा-प्राण बुलाया जाता है, और क्योंकर अग्नि में होम करने से वह खाता है, अति सूक्ष्म हैं। यदि उसके नियम भी यहाँ लिखे जायँ तो कदाचित् यह समस्त ग्रंथ कर्मकांड का पूर्ण वर्णन न कर सके। इसलिये हम इतना ही लिखते हैं कि वैश्वानरी-विद्या में हम पर यह सिद्ध हुआ है कि अग्नि प्रजापति का मुख है। जिस तरह ब्राह्मण के मुख में दिया हुआ ग्रास उसका आहार होता है, उसी तरह अग्नि में दी हुई आहुति विराट् भगवान् का भोजन होती है।

(४०) यज्ञ में उद्गाता जो साम गाता है, बारह मंत्र होते हैं और उसमें प्रार्थनाएं गाई जाती हैं। तीन प्रार्थनाएँ तो यजमान के लिये होती हैं और शेष प्रार्थनाएँ वह अपने लिये गाता है। और इस हेतु कि यह ब्राह्मण सदाचरण के द्वारा शुद्ध अंतःकरण होता है, उसकी प्रार्थनाएँ स्वीकृत होती हैं, जो-जो अपने या यजमान के लिये माँगता है, मिलता है।

(४१) यज्ञ करने का उद्देश्य यह होता है कि बुरे संकल्प जो मन में स्वभावतः उठते हैं नष्ट हो जायँ और अच्छे संकल्प जो शिक्षा से उठते हैं, उनका प्रकाश होजाय। इन बुरे संकल्पों को संस्कृत में असुर बोलते हैं और अच्छे संकल्पों को देवता। क्योंकि संकल्प (ख्याल) जो मन में

उठते हैं, इनके लिये कोई कारण है, और वही कारण पिछले पाप और पुण्य के संस्कार हैं। परंतु वह जो बुराई के कारण (पाप) हैं असुर हैं और भलाई के कारण जो पुण्य हैं देवता हैं। इसी कारण कुविचार आसुरी-संपदा और सुविचार दैवी-संपदा कहलाते हैं।

(४२) आत्मिक विश्वासवाले मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो, बुरे विचारों को रोके और अच्छे विचारों को उठावे। इसी में उसकी सज्जनता है। परंतु इस कारण कि बुराई के विचार स्वाभाविक हैं और पहले उत्पन्न होते हैं, और भलाई के विचार शिक्षा से आते हैं, इस लिये असुर तो बड़े हैं और देवता छोटे हैं। और यह स्पष्ट है कि जो पहले शरीर रूपी दुर्ग में अधिकार पाते हैं, कठिनता से दूर होते हैं। क्योंकि जब तक देवता और असुरों के बीच में एक बड़ा युद्ध नहीं होता, तब तक असुर पराजित नहीं होते।

(४३) बुद्धिमान् मनुष्य से यह छिपा नहीं है कि जब वह अपने मन की वृत्तियों में विचार करे, तो जान सकता है कि उस का मन एक दुर्ग के समान है जिस पर असुर और देवताओं के आक्रमण होते हैं, और अच्छाई और बुराई के विचार उन बाणों के समान हैं जो हर ओर से आते हैं, और किसी समय भी अवकाश नहीं है कि मन उन विचारोंसे रिक्त हो। अतः आश्चर्य है कि वह मनुष्य जिस के मन पर विविध सेनाएँ मनोराज की चढ़ आई हों, और उसे बार-बार लक्ष्य कर रही हों, निश्चिंत बैठा रहे, वरन सांसारिक सम्पत्ति और घर-बार की चिंता में लगा रहे।

(४४) मनुष्य को चाहिए कि वह आवश्यक संसारी कार्यों से छुट्टी पाकर सबेरे और शाम एकांत में बैठकर मन

की वृत्तियों का विचार करे और उनको अपने मन से रोके, यदि न रुकें तो आवश्यक है कि बुराई के विचारों का दमन करे और भलाई के विचारों को आने दे, क्योंकि इसी ढंग से देवताओं की विजय और असुरों की हार हो जाती है। फिर उस का हृदय भी देवताओं का मंदिर हो जाता है और आत्मिक उन्नति पाता है।

(४५) असुरों के चिह्न तो ये हैं कि वह शारीरिक लाभों को आगे करते हैं, और पारलौकिक लाभों की ओर से विमुख करते हैं। परन्तु देवताओं के लक्षण ये हैं कि वह शारीरिक भोगों को तुच्छ कर दिखाते हैं और आत्मिक भोगों को आगे करते हैं।

(४६) वह जिस पर असुर का आक्रमण होता है, संसार के बाह्य भोगों को पसन्द करता है और परलोक को शास्त्र का एक छल और ब्राह्मणों का ढकोसला जानता है, उन्हें पोप वरन् पोपों का शिकारी समझता है। इस लिये शास्त्र को सुनता हुआ भी नहीं सुनता और यौंही फ़िसाना अज़ायब की कहानी समझता है। यदि कभी-कभी सतसङ्ग भी करता है, तो स्वयं शास्त्र को अपनी बुद्धि से संशोधित किया चाहता है कि पूर्वजों की भूल है जो ऐसा लिखा है। इस में तो हानि है, कुछ लाभ नहीं।

(४७) पर वह जिस पर देवतों का प्रभाव होता है, संसार के प्रत्यक्ष भोगों को नाशमान और तुच्छ जनता है। उनकी अधिक कामना नहीं करता, वरन् उतनी ही कि जितनी उस के जीवन और सुख के लिये यथेष्ट हैं, खोज करता है। और आत्मिक भोगों की कामना अधिक करता है जो नित्य और अविनाशी हैं। वह शास्त्रीय आज्ञाओं पर चलता है स्वर्गीय सम्पदा का अभिलाषी होता है, जिस से कि वह

ब्रह्मलोक के राज्य में प्रविष्ट हो और अपने पिता प्रजापति का उत्तराधिकार लाभ करे।

(४८) यद्यपि इस संग्राम में बड़े-बड़े शास्त्री और कर्म-सम्बन्धी उपाय हैं जिन के द्वारा असुर परास्त और देवता विजयी होते हैं (इस शास्त्र को सदाचरण की मर्यादा-शास्त्र बोलते हैं और संस्कृत में उस की अनेक बड़ी-बड़ी पुस्तकें हैं जो योग आदिक शास्त्र कहलाती हैं), तो भी मनोवृत्तियों का विजय करना ऐसा कठिन है जैसा कि एक अशक्त मनुष्य सारे संसार के विजय करने में असमर्थ होता है। इस लिये जब तक विशेष भगवत्कृपा और ईश्वरीय प्रसाद उस के सहायक न हों, विजयी नहीं हो सकता। किन्तु वेदों में उस का मुख्य विधान ज्योतिष्टोम-यज्ञ और प्राणों की उपासना है जिस के कारण असुर दुर्बल हो जाते हैं और देवता विजयी होते हैं। इस लिये मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रीय नियमों से ज्योतिष्टादिक होम और प्राणोपासना करे। यही सुगम उपाय है। योग आदि शास्त्रों में बड़ी-बड़ी कठिनायाँ हैं और फिर भी उस से उन की पराजय अवश्यभावी नहीं।

(४९) ज्योतिष्ट आदिक होम का विधान जानना तो भाषाविदों के लिये आवश्यक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण इसको करा सकते हैं, लेकिन प्राणोपासना जानना आवश्यक है, क्योंकि वह उसके विश्वास की बात है। वह निश्चय यही है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ, मिट्टी नहीं हूँ; मैं प्राण हूँ, देह नहीं हूँ"। जब यह विश्वास पक्का हो जाता है, तो असुर अपने आप भाग जाते हैं और हार जाते हैं, क्योंकि बुराई के विचार वास्तव में मिट्टी, देह और इंद्रियों के हैं, प्राणात्मा के नहीं। प्राणात्मा तो निर्विकार है जो प्राण कहा जाता है। जब यह प्राणात्मा से जना जाता है और प्राणात्मा हो जाता है, तो फिर उसी तरह

बुराई के विचारों और कामों से निर्लेप रहता है जैसा कि आर्य बच्चा मुसलमान के बावर्चीख़ाने (रसोई) में खाना पकता देखता है, पर खानेकी इच्छा नहीं करता, बरन् देख कर भाग जाता और घृणा करता है।

(५०) इसी तरह वह द्विजन्मा भी जब प्राणात्मा से उत्पन्न होता है, तो बुरे कामों और बुराई के विचारों से घृणा करता है। अंततःज्यों२ वह आत्मिक निश्चय में प्रौढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों उनकी ओर ख़याल भी नहीं करता। इस कारण असुर प्राणोपासना से सुगमतापूर्वक परास्त हो जाते हैं। यही करण है कि द्विजाति-माताएँ अपने बच्चों को यही लोरियाँ देती हैं कि "बेटा तू तो प्राण-आत्मा और द्विजाति है; तुझे देहाभिमानियों व देहाध्यासियोंसे मिलना और उनकी विद्याओं की शिक्षा पाना वास्तव में आत्माभिमानियों और द्विजातियों से गिर जाना है।" ज्यों-ज्यों द्विजाति-बच्चा बढ़ता है, अन्य जाति (देहाध्यासियों) से ख न-पान नहीं करता और उनके विश्वासों और शास्त्रों को सुनता हुआ भी घृणा करता है, त्यों-त्यों अपनी प्राण की उपासना में युवा होता जाता है।

(५१) हा शोक ! कि इस समय इसकी जगह आर्य-बच्चा पाश्चात्य शिक्षा में दिया जाता है और ब्रह्मचर्य तथा संस्कृत में वेदाध्ययन के स्थान पर देहाभिमानियों की विद्याओं की शिक्षा पाता है, जो संसार की ओर अभि-रुचि उत्पन्न करती और उसे शारीरिक ध्यान दिलाती है। यद्यपि वह नाम का द्विजाति और आर्य होता है, वास्तव में न तो वह प्राणात्मा से उत्पन्न होता है और न द्विजन्मा होता है, उसी तरह शरीर में अहंता का विश्वास पाता देहाभिमानियों की तरह देहाभिमानी हो जाता है और साधारण व्यक्तियों

की नाईं मरता है, और राजकुमारों में से एक की तरह गिर जाता है, ब्रह्मलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट नहीं होता।

(५२) यह जो कुछ हमने वर्णन किया है, हमारी कपोल-कल्पना नहीं है वरन् उद्गीत ब्राह्मण में सिद्ध हुआ है कि स्वयं प्रजापति के अनुभव से निश्चय हो चुका है कि जब तक मनुष्य प्राणोपासना नहीं करता और उसी को उद्गाता नहीं बनाता, कदापि असुरों पर विजय-लाभ नहीं करता। और यह अनुभव जो प्रजापति में हुआ है, कहानी की भांति उद्गीत-ब्राह्मण में अंकित है। हम भी भाषा जानने वालों के विश्वास के लिये यहाँ संक्षेप से अनुवाद करते हैं।

(५३) * यजुर्वेद आरण्यक-भाग उद्गीत ब्राह्मण में यों लिखा है कि प्रजापति की सन्तान देवता और असुर दो सेनाएँ हैं जिन में देवता तो छोटे हैं और असुर बड़े। और पहले कल्प में जब तक प्रजापति ने उस कल्प में प्रजापति का पद नहीं पाया था, वरन् नर-रूप में देहधारी था, उन का युद्ध हुआ।

(५४) असुरों ने उसे संसार के भोगों का प्रलोभन दिखाया और संसार की ओर लगाना चाहा; देवताओं ने उसे परलोक के भोग दिखाए और परलोक की ओर लगाना चाहा।

(५५) इसी प्रकार जब उनमें खूब युद्ध हुआ और दोनों ओर से ज्ञान और कर्म के उपाय सोचे गए, तो अंत में देवताओं ने यों सम्मति की कि आओ हम ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गीत-कर्म से असुरों को पराजित करें।

(५६) तब उन्होंने वाणी को कहा कि हमारे लिये उद्गायन

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण ३। छांदोग्योपनिषद् प्रपाठक १ खंड २।

करो 'उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये गायन किया। लेकिन जो वाणी के भोग हैं, वह तो उनके लिए गाए और सुंदर वाणी अपने लिये गाई।

(५७) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमको 'जय' कर लेंगे, इस लिये उठे और वाणी को छुआ और अपवित्र कर दिया। इसी कारण वाणी कथनीय और अकथनीय (कुवाणी) बोलती है।

(५८) फिर उन्हों ने नाक को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो नाक के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सूँघना है, वह अपने लिये गाया।

(५९) तब असुरों ने जाना कि वह अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और नाक को छुआ और अपवित्र कर दिया। इसी से नाक अच्छा और बुरा सूँघती है।

(६०) फिर उन्हो ने आँख को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो आँख के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो सुंदर देखना है, वह अपने लिये गाया।

(६१) तब असुरों ने जाना कि यह अवश्य उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और आँख को लगगए और अपवित्र कर दिया। इसी कारण आँख अच्छा और बुरा देखती है।

(६२) फिर उन्होंने कान को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो कान के भोग हैं वह तो उनके लिये गाए, जो सुंदर सुनना है, यह अपने लिये गाया।

(६३) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और कान को लगाकर अपवित्र कर दिया, इसी कारण कान अच्छा और बुरा सुनता है।

(६४) फिर उन्हों ने मन को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो मन के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सोचना है, वह अपने लिये गाया।

(६५) तब असुरों ने देखा कि अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इस लिये उठे और मन को लग गए और अपवित्र कर दिया। इस लिये मन भला और बुरा सोचता है। इसी तरह यज्ञ में जिन-जिन व्यक्तिगत इंद्रियों को उन्हों ने उद्गाता या नेता बनाया, सब को असुरों ने पापी कर दिया और आज तक भी उन में भले और बुरे का प्रवेश स्पष्ट है।

(६६) अन्त में उन्हों ने प्राण को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने उनके लिये गाया। असुरों ने देखा कि अब अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें वे जयकर लेंगे, इस लिये उठे और उस से लगे। किन्तु लगते ही इस प्रकार टूट गए जिस तरह तीक्ष्ण बसूला एक कठोर पत्थर पर चलाया हुआ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इस प्रकार देवता विजयी हो गए और असुर पराजित हो गए।

(६७) इसी कारण जाना जाता है कि शुद्ध प्राण किसी तरह बुराई के योग्य नहीं। जब कि वह बुराई के योग्य नहीं, असुर उन्हें कुछ नहीं कर सकते, बरन् उसे स्पर्श करते ही

स्वयं मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अब जो कोई ऐसा जानता है, उसके द्वेषी पराजित हो जाते हैं।

(६८) फिर उन देवताओं (इन्द्रियों) ने कहा कि वह कौन है जिस को प्रथमासन देने से हम ने असुरों पर सफलता प्राप्त की? निश्चय हो गया कि यही शुद्ध प्राण है और यही प्रत्येक का सार और आत्मा है। इसी कारण इसे आंगिरस बोलते हैं।

(६९) फिर कहा, यही देवता है जिसे दूर भी कहते हैं। क्योंकि मृत्यु और पाप इससे परे रहते हैं। और उस से भी मृत्यु और पाप दूर रहते हैं, जो उस में अहंभाव रखता है।

(७०) इसी महाप्राण को निश्चय करके इन इन्द्रियों ने मृत्यु और पाप से निवृत्ति लाभ की, वरन् इनके पाप लेकर उस ने उन देहाध्यासियों में फेंक दिए जो मनुष्यों के वर्ग (श्रेणी) में मिलते हैं; अर्थात् वह देहाभिमानी जो आत्मा तो रखते हैं, लेकिन आत्मा में अहंभाव का आभास नहीं पाते। इसी कारण संस्कृत में उन्हें अन्तज बोलते हैं। क्योंकि अन्त का अर्थ संस्कृत में सीमा है, जो मानवी सीमा में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अन्तज बोलते हैं। जब प्रजापति ने अपने भारी पाप उन में फेंक दिए हैं, और वह पैतृक पापों में फँसे हुए हैं, द्विजातियों को उनके साथ खानपान के बर्ताव और संगत का निषेध है, जैसे पशु से मनुष्य को निषेध है।

(७१) फिर जब महाप्राण ने इन इन्द्रियों को पाप से छुड़ाया, तो उन्हें मृत्यु के बन्धन से भी छुटकारा मिला। यही वाणी जब मृत्यु से मुक्त हुई, तो अग्नि में मेल पा गई

जो इस का अधिदेव है। अतः यह अग्नि मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चमकती है और यही प्रजापति की वाणी है।

(७२) फिर नाक को मुक्ति हुई। जब उस ने मृत्यु से छुटकारा पाया तो वायु में मेल पा गई, अर्थात् इस से तद्रूप हो गई, जो उस का अधिदेव है। अतः यह वायु मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष में चलती है और वही प्रजापति की नाक है।

(७३) फिर आँख को मुक्ति मिली। जब उस ने भी मृत्यु से मुक्ति पाई, सूर्य में मेल पा गई, अर्थात् अभेद हो गई जो उस का अधिदेव है। अतः यह सूर्य मृत्यु से छूटा हुआ प्रत्यक्ष चढ़ता है और यही प्रजापति की आँख है।

(७४) फिर कान को छुटकारा मिला। जब इसने भी मृत्यु से मुक्ति पाई. तो दिशाओं में मेल पाया, जो इसका अधिदेव है। अतः दिशाएँ मृत्यु से छूटी हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं और यही प्रजापति के कान हैं।

(७५) फिर मन को मुक्ति हुई। जब उसने भी मृत्यु से छुटकारा पाया तो चंद्रमा में मेल पा लिया, जो उसका अधिदेव है। अतः यह चंद्र मृत्यु से छूटा हुआ चढ़ता है, और यही प्रजापति का मन है। इसी तरह प्रत्येक को यह महाप्राण छुटकारा देता है जो उसी में अहंभाव का मनन या व्यवहार करता है।

(७६) फिर प्राण ने अपने लिये आहार को गाया। इसी कारण जो कुछ है, सब प्राण का भोजन है, और वही उसे खाता है। और इस कारण कि सब को यही खाता है, यही यमराज है।

(७७) तब दूसरी इन्द्रियों ने उसे कहा कि जो कुछ है, सब तुमने अपने अहार के लिये गाया। अब हम क्या करें

हमारे लिये भी कुछ भाग नियत करो। उसने कहा, तुम सब मुझ में स्थित हो जाओ और मुझ में अपना आप जानो, अथवा मुझ में अपना अहंभाव करो। तब उन्हों ने कहा, अच्छा। फिर वह सब उसमें स्थित हो गई, और सबकी असलियत स्वयं यही प्राण है, जो सबका पिता है। इस लिये जो कुछ हम खाते हैं, ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय उससे तृप्त होजाते हैं।

(७८) वह भी जो इस प्रकार जानता है कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं" प्रत्येक का ईश्वर होता है और सब उसीमें जीवन पाते हैं। जब ऐसा विद्वान् पहला ग्रास खाता है, तो उससे प्राण तृप्त होता है। और प्राण के तृप्त होने से आँख तृप्त होती है। और आँख के तृप्त होते ही सूर्य तृप्त होता है और सूर्य के तृप्त होते ही जो सृष्टि सूर्य में बसी है, सब तृप्त होती है।

(७९) जब वह (विद्वान्) दूसरा ग्रास खाता है, तो उससे 'व्यान' तृप्त होता है। और 'व्यान' के प्राप्त होते ही कान तृप्त होता है। और कान के तृप्त होते ही चंद्रमा तृप्त होता है, और चंद्रमा के तृप्त होते ही दिशाएँ तृप्त होती हैं। दिशाओं के तृप्त होते ही जो उनमें बसे हुए हैं, तृप्त हो जाते हैं।

(८०) जब वह तीसरा ग्रास खाता है, तो पहले उसका 'अपान' तृप्त होता है। और 'अपान' के तृप्त होते ही वाणी तृप्त होती है, वाणी के तृप्त होते ही अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होते ही धरती तृप्त होती है। धरती के तृप्त होते ही जो उसमें बसे हुए हैं, तृप्त हो जाते हैं।

(८१) जब वह (विद्वान्) चौथा ग्रास खाता है, तो पहले 'समान' तृप्त होता है। और 'समान' के तृप्त होते ही मन

तृप्त होता है, और मन के तृप्त होते ही बादल तृप्त होते हैं, और बादल के तृप्त होते ही बिजली तृप्त होती है। बिजली के तृप्त होते ही जो बिजली में बसे हुए हैं, तृप्त हो जाते हैं।

(८२) जब वह पाँचवाँ ग्रास खाता है, तो पहले 'उदान' तृप्त होता है। 'उदान' के तृप्त होते ही वायु तृप्त होती है। वायु के तृप्त होते ही अन्तरिक्ष तृप्त होता है, और अन्तरिक्ष के तृप्त होते ही जो कुछ अन्तरिक्ष में रहते हैं, सब तृप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति पहले इस प्रकार निश्चय नहीं कर-लेता कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ" वह जो कुछ अग्नि में होम करता है, योंही जलाता है, बरन् उसकी दशा ऐसी है जैसे कोई भस्म में आहुति करता है। परन्तु जो ऐसा विश्वास रखता है और वेद मंत्रों से अग्नि में होम करता है, तो समस्त लोक में और भूतों में और सब की आत्मा में होम होजाता है, बरन् आप भी खाता है, तो वास्तव में होम का फल पाता है। और जिस तरह तिनका आग में फूँका हुआ जलता है, उसी तरह उसके पाप जल जाते हैं और उसका उच्छिष्ट यदि चांडाल भी खा लेवे, तो पापों से बच जाता है। अधिक क्या लिखें, जिस तरह दूध के लिये बछड़े गायों को हकारते हैं, उसी तरह देवता और पितर देखते हैं कि ऐसा निश्चयवान् कब खाता है।

(८३) आश्चर्य न करो कि यह क्योंकर हो सकता है कि प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय इस विश्वास से देवता होगए, बरन् उसका कारण यह है कि यह बाह्य देवता जो प्रजापति के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं, यहां हमारे भोगों के कारण से मृत्यु-बंधन में फँसकर हमारे साथ इस छोटे-से मंदिर में शारीरिक ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हुए हैं।

(८४) अग्नि देवता बद्ध (क़ैद) होकर हम में बोलता है, जिस प्रकार वह प्रजापति में बोलता है और उससे निकला उसी का रूप है। इस कारण वाणी तो मनुष्य की शक्ति है, पर अग्नि जो प्रजापति की वाचालता की शक्ति है, उसका आरम्भ-स्थान है। इसी कारण अग्नि को वाणी का अधिदेवता कहा जाता है।

(८५) फिर इस प्रकार वायु का देवता बद्ध (परिच्छिन्न) हुआ हम में उसी तरह सूँघना है जैसे वह प्रजापति में सुगंध लेता है, और नाक भी उसी से निकली उसी का रूप है। इसी कारण नाक तो मानुषी शक्ति है, पर वायु जो प्रजापति की नाक है उसका आरम्भ-स्थान है। यही कारण है कि वायु को नाक का अधिदेवता बोलते हैं।

(८६) फिर इस प्रकार सूर्यदेवता बद्ध (परिच्छिन्न) होकर हम में उसी तरह देखता है जैसा वह प्रजापति में दर्शन का हेतु होता है, और यह आँख सूर्य से निकली हुई सूर्यरूप है जो प्रजापति की आँख है। और सूर्य वास्तव में उसका आरम्भ-स्थान है, इसी कारण सूर्य को आँख का अधिदेवता कहते हैं।

(८७) फिर इसी तरह दिशाओं का देवता बद्ध होकर कर्ण के रूप में प्रकट हुआ है। जिस प्रकार दिशाएँ प्रजापति के कान हैं और उसके लिये श्रवण के हेतु हैं, कान भी हमें सुनाते हैं। और ये कान भी दिशाओं से निकले हुए दिक् रूप हैं जो प्रजापति के कान हैं। और वही दिशाएँ उसके आरम्भ-स्थान हैं। इसी कारण कानों का अधिदेवता दिक् देवता है।

(८८) फिर इस तरह चंद्रमा का देवता बद्ध (परिच्छिन्न)

होकर हम में मन के रूप में प्रकट हुआ है। जिस तरह प्रजापति चन्द्रलोक के कारण सोचता समझता है, उसी तरह हम भी मन के कारण सोचते-समझते हैं। इस कारण हमारा मन चन्द्रमा से निकला चन्द्र-रूप है और यही चन्द्र उसका आरम्भ-स्थान है, और यही मनका अधिदेवता कहलाता है।

(८९) तात्पर्य यह कि हमारे अध्यात्म-प्राण इसी अधिदैविक-प्राण के अंश हैं जो प्रजापति है, और हमारे कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय भी उसी के कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय के अंश हैं जो हमारे भोगों (कर्मफल) के कारण मुक्त से बद्ध हुए हैं। इस हेतु कि कर्म-फल के कारण हम महान् (समष्टि) से अंश (व्यष्टि) में परिणत हुए हैं और हमारे इन्द्रिय भी कर्म-भोग के कारण मुक्त से बंध हुए हैं, इसी कारण हम शरीर में देहाध्यास वा अहंता का जन्मजात् भाव रखते हैं।

(९०) पर जब हम शास्त्रीय शिक्षा से आत्मा में अहं-भाव का निश्चय पाते हैं और विश्वास करते हैं कि "हम आत्मा हैं, शरीर नहीं, वरन् प्रजापति के पुत्र प्रजापति रूप हैं", और इस विश्वास से शुभ कर्मों को करते हैं, तो हमारे पाप उसी तरह दूर हो जाते हैं, जैसा कि प्रजापति के पाप पहले कल्प में इस विश्वास से दूर हुए हैं। और यह स्पष्ट है कि जब पापों का बंधन छूटता है, तो इंद्रियाँ अपने २ निकास-स्थान में एक हो जाती हैं, और हम कभी प्रजापति में एक हो जाते हैं। और बद्ध स्वतंत्र हो जाता है। इसी को मुक्ति बोलते हैं।

(९१) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ" यही विश्वास कर्म की जड़ है। जब तक यह विश्वास नहीं आता, कर्म भी प्रभावशाली नहीं होता।

वरन् जो यह विश्वास नहीं रखता और कर्म करता है, वह तो पितृयान-सड़क पर चलता है, चंद्रलोक की राह पाता है; देवयान-सड़क पर नहीं चलता।

(९२) कुछ लोग यह कहते हैं कि यह विश्वास तो चाहिए, किंतु जिह्वा से इसकी स्वीकारता नहीं चाहिए, यह मिथ्या है। अपितु इसकी स्वीकारता सिंह की नाईं गरजकर करनी चाहिए, क्योंकि "ब्रह्मदत्तश्चैकितानेय" महा ब्राह्मण ने उस समय जब कि महान् ऋषियों के यज्ञ में वह उद्गाता था, सोमरस खाते हुए सिंह के समय गरज कर इस निश्चय की पुकार कर स्वीकारता की थी।

(९३) ब्रह्मदत्त ने यज्ञ का सोमरस खाते हुए ऋषियों में गरजकर कहा था कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं।" यदि मैंने आत्मा में होकर उद्गाथन नहीं किया, तो यही सोमरस जो अब मैं पीता हूँ मुझे ब्रह्मलोक से गिरा दे। और श्रुतियाँ ऐसे निश्चय की स्पष्ट आज्ञा भी देती हैं।

(९४) जब कि ऋषि-मुनि वेदज्ञ ब्राह्मण इस विश्वास का स्पष्टतया समर्थन (तसदीक) कर रहे हैं, तो उन लोगों का कथन जो इस निश्चय का निषेध करते हैं, जीर्ण और मिथ्या है। और तर्क भी है जो कुछ मनमें होता है, वही जिह्वा पर आता है। यदि कोई कहे कि मैं उसका विश्वास तो रखता हूँ, परंतु वाणी से नहीं कहता, तो ज्ञात होता है कि अभी उसका विश्वास कच्चा है, और परलोक के कामों में फलप्रद नहीं।

(९५) वेदों का तात्पर्य यह है कि जब विश्वास और कर्म दृढ़ होते हैं, तो वही मृत्यु में फल देते हैं और यह स्पष्ट है कि जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है। क्योंकि भंगी जब स्वप्न में जाता है, तो यद्यपि अपने ख्याल

में धरती और आकाश, राजा और प्रजा सब कुछ रचता है, परंतु आप अपने निश्चय के अनुसार भंगी के रूप में उठता है और टट्टियों को साफ़ करता है। और राजा जब अपने स्वप्न में जाता है, तो अपने राज-विचार के कारण राजा के रूप में उठता है, भंगी नहीं हो जाता।

(६६) इसी तरह जिसको पक्का विश्वास है कि "मैं प्राण आत्मा हूँ, और प्रजापति हूँ" वह मृत्यु में प्राण-आत्मा और प्रजापति के रूप में उठेगा। और जिसको विश्वास है कि "मैं देह, अधम पापी पुरुष हूँ" वह शारीरिक बंधन में उसी तरह अधम अधीन उठेगा। इस लिये मुक्ति के इच्छुक (जिज्ञासु) को पहले पहल यही विश्वास पक्का करना चाहिए कि "मैं प्राण-आत्मा हूँ और प्रजापति का पुत्र प्रजापति रूप हूँ।" जब तक यह विश्वास नहीं पाता, नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, बरन् शूद्र या देहाध्यासी वा देहाभिमानी होता है, और उसे वैदिक कर्मों का भी वास्तव में अधिकार नहीं होता, क्योंकि शरीर तो नाशमान है, यहाँ जलाया जाता है, कर्मों का फल किसको होगा? परंतु जो प्राणात्मा व जीव-आत्मा है, वह तो मरता नहीं, कर्मों का फल उसे अवश्य प्राप्त होगा। इस लिये जीव-आत्मा का निश्चय वास्तव में कर्मों के अधिकार का प्रथम कारण है।

(६७) भाषा जाननेवालों को सब से अधिक आवश्यकता इसी विश्वास की है। इसलिये हमने उसके सिद्धांत विस्तार-पूर्वक लिख दिए हैं। परंतु कर्मों का रूप वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण उसके स्वरूप को जानते हैं और उनके द्वारा वह यज्ञादि कर्म कर सकता है।

(६८) वेदों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण दूसरों के लिये दलाल का संबंध रखता है। जिस तरह देहाती

मनुष्य व्यापार नहीं कर सकता, वरन् यदि खरीदना-बेचना चाहे, तो उसे चाहिए कि दलाल के द्वारा खरीदे-बेचे, तो नुक़सान नहीं उठावेगा।

(६६) जिस तरह दलाल की दृष्टि (समझ) पर देहाती आदमी का काम चलता है, उसी तरह यज्ञ करने वाले ब्राह्मण की दृष्टि (समझ) पर यजमान का फल होता है। और यह ब्राह्मण जिस प्रकार का शास्त्रीय निश्चय रखता है, उसी के अनुसार प्राण यजमान में नज़र करता है और मुक्ति का हेतु हो जाता है।

(१००) * राजा जनक के दरबार में होताऽश्वाल ब्राह्मण ने याज्ञवल्क्य ब्राह्मण मुनि से प्रश्न किया कि याज्ञवल्क्य! यह जो उद्गीत ब्राह्मणमें मालूम हुआ है कि यजमान के इन्द्रिय पापों के लग जाने के कारण मृत्यु से बद्ध हो रहे हैं, किस दृष्टि से मुक्त होते हैं? मुनि जी ने उत्तर दिया कि जब 'होता' यजमान की वाणी को अग्नि देवता और अपने से एक करके देखता है, तो इस 'होता' की उस दृष्टि से यजमान के इन्द्रिय मृत्यु के बन्धन से छूट जाते हैं, और परिच्छिन्न गोलकों से मुक्त हुए अपने-अपने अपरिच्छिन्न अधिदेव में मिल जाते हैं।

(१०१) बुद्धिमान 'होता' का यज्ञ में यह ध्यान होता है कि यजमान की वाणी वास्तव में 'होता' है, और यही वाणी वास्तवमें अग्नि है, और यही 'होता' है। अतः उसकी यही दृष्टि यजमान की मुक्ति है। जो ब्राह्मण इस प्रकार नहीं जानता और यज्ञ कराता है, अनजान है।

(१०२) फिर उस ने प्रश्न किया कि काल बीतता जाता है, या तो तिथि-रूप है या दिन-रात रूप है, और जीवन

---

* देखो बृहदारण्यकोपानिषद् अध्याय ३ ब्राह्मण १

यजमान के काल पर निर्भर है, किस दृष्टि से यजमान दिन-रात के बन्धन से छूटता है? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जब अध्वर्यु यजमान की आँख को सूर्य और अपने से एक देखता है, तो दिन-रात की उपाधि वा बन्धनसे छूट जाता है। उस की दृष्टि यों होती है कि यजमान की आँख वास्तव में सूर्य है और यही यज्ञ का अध्वर्यु है, और यही दृष्टि इस की मुक्ति है।

(१०३) फिर उस ने प्रश्न किया कि तिथि-रूप बन्धन से यजमान की मुक्ति यज्ञ में किस तरह होती है? उत्तर दिया कि जब उद्गाता यजमान के प्राण को महा प्राण और अपने से एक देखता है,तो तिथि-रूप कालकी उपाधि से छूट जाता है। और उस की दृष्टि यों होती है कि जो यह यजमान की प्राण-आत्मा है, वही प्रजापति की प्राण-आत्मा है, और यही उद्गाता है। यही विश्वास उसकी मुक्ति है।

(१०४) फिर उस ने प्रश्न किया कि यजमान इन कर्मों और विश्वास के कारण किस के आश्रय से मृत्यु के पश्चात् सुरलोक को जाता है? मुनि जी ने उत्तर दिया कि जो ब्रह्मा इस के मन को चंद्रमा से एक देखता है, यही दृष्टि इसके कर्मों का आश्रय होती है। और वह दृष्टि इस तरह होती है कि यजमान का मन वास्तव में ब्रह्मा है और वही चंद्रमा है, और मुक्ति है।

(१०५) इस प्रश्नोत्तर का तात्पर्य यह है कि यजमान के जो संक्षिप्त ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय हैं और अपने-अपने अधिदेवताओं से, जो समष्टि हैं, टुकड़े-टुकड़े होकर निकले हैं और काल एवं मृत्यु के बन्धन से आबद्ध हैं, यज्ञ में ब्राह्मणों की इस दृष्टि से कि उनको वे अपने-अपने आवृत्त निकास स्थान में एक कर देखते हैं और आत्मिक रसायन-

क्रिया कराते हैं, मृत्यु के पश्चात् अंश से समस्त हो जाते हैं। इस तरह भाषा जानने वालों के लिये ब्राह्मण इस प्रकार की उपासना में यज्ञ के समय दलाल हो जाते हैं, किन्तु वह जो स्वयं इस प्रकार का विश्वास रखता है, वह और भी श्रेष्ठ है।

(१०६) भाषा जानने वालों को चाहिए कि जहाँ तक संभव हो, पहले इस विश्वास को दृढ़ करें कि "मैं शरीर नहीं, बरन् जीव-आत्मा हूँ, और मनुष्य नहीं, बरन् प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप हूँ"। फिर ब्राह्मणों को जो वेदविद् हैं, दलाल करके उनसे रसायन-क्रिया करावे जो यज्ञ-कर्म है, तो वह भी मृत्यु के पश्चात् देवयान-सड़क पर चलता हुआ ब्रह्मलोक में सत्य-संकल्प और सत्य-काम रूप प्रजापति से मिलाप पावेगा, और ब्रह्मलोक में अपना पैतृक सिंहासन लाभ करेगा। सेवक यद्यपि सेवा और बिनती करे, उसे सिंहासन नहीं मिल जाता। निस्सन्देह मज़दूर का हक मज़दूरी है, इस लिये शुभ कर्मों से स्वर्गीय भोग तो मिलेंगे, किन्तु मुक्त नहीं होता, और सत्यकाम और सत्यसंकल्प नहीं हो जाता। बरन् पितृयान-सड़क के मार्ग से चन्द्रलोक में जाता देवताओं का भोग होता है और लज्जा का स्वाद पाता है और फिर गिरता है।

(१०७) अतः ऐ भाइयो! हम तो शूद्र नहीं बरन् द्विजाति हैं; देहाभिमानी नहीं बरन् आत्माभिमानी हैं, सेवक नहीं बरन् ब्रह्मलोक के राजकुमार हैं, फिर क्यों दुबारा दासता के जुए के नीचे जुतते हो? हमारा काम दासता नहीं, बरन् उपासना है; बदी नहीं बरन् नेकी है। 'काम क्रोध शारीरिक भोग' शरीराभिमानियों (देहाध्यासियों) के कर्म हैं, भलाई और होम और पिता की प्रीति आत्माभिमानियों के

कर्म हैं। सुपुत्र वही होता है जो पिता की मर्यादा सीखता है। और उसकी मर्यादा वही है जो होम आदिक कर्म हैं, और उस के सदाचरण वही हैं जो उपासना आदिक निश्चय हैं। वह पुत्र जो उन मर्यादाओं का पालन नहीं करता, उन सदाचरणों का आचरण नहीं करता, ब्रह्मलोक के उत्तराधिकार से गिर जाता है और राजकुमारों में से एक की नाई स्वर्गीय सिंहासन से वंचित रहता है।

(१०८) जब तक तुम बालक हो, यद्यपि उत्तराधिकारी हो, तो भी जिस तरह बालक राजकुमार सेवकों और गुरुओं के बन्धन और शिक्षा में सेवकों की भाँति रहता है, रहते हो। फिर जब समय आता है और उत्तराधिकार पाता है, तो अन्त में स्वामी नियत होता है। तुमभी संसार में, जब तक शारीरिक बंधन है, ब्राह्मणों और शास्त्रों के बंधन में हो। खूब शिक्षा पाओ और प्रजापति की मर्यादा और सदाचरण से सुसभ्य हो जाओ, ब्रह्मलोक का साम्राज्य निकट है। उन देहाभिमानियों की शिक्षा और विचारों से बचे रहो, क्योंकि उनके विचारों और विश्वास दासों के हैं, राजकुमारों के नहीं; भूमि वालों के हैं द्यौलोक वासियों के नहीं।

(१०९) अब हम यह कर्मकांड शास्त्र में भाषाविदों के लिये इतने ही सिद्धांत यथेष्ट ख्याल करते हैं, इससे अधिक सिद्धांत जिसे चाहिये हों, वह वेद भगवान् से जो मूल है, प्राप्त करे। परंतु हम चिता देते हैं कि कर्मकांड की यद्यपि बड़ी उन्नति है, किंतु अंत में वह भी नाशमान है। नित्य नहीं। क्योंकि जो कर्मों से बनाया जाता है, अंत में नाशमान होता है और पुण्य लोक भी पुण्य कर्मों से बनाया जाता है, इस लिये स्वाभावत ! अमृत नहीं।

(११०) जबकि यह उन्नति नित्य और वास्तव में

निजी नहीं, इसकारण वेद भगवान् अंतमें इसकी बड़ी निंदा करता है, और प्रसाद की ओर बुलाता है। क्योंकि कर्मकांड में बड़ी-बड़ी मज़दूरी और मिहनत है। और जैसा करता है, वैसा पाता है, इसी कारण न्याय का पथ है। पर ज्ञानकांड में कुछ भी करना नहीं पड़ता, और जो कुछ मिलता है, नक़्द और बिना मूल्य मिलता है, इसलिये वह प्रसाद का पथ है! यही कारण है कि वेदभगवान् अंत में कर्मों की ओर प्रेरित नहीं करता, वरन् उनसे उपराम कराता है, ताकि आर्य लोग न्याय (अद्ल) से उसके प्रसाद (फ़ज़्ल) में सम्मिलित हों, और वह जो पिता का मुख्य आनंद है, उसमें भी प्रवेश पावें, जो परमानंद कहलाता है।

(१११) इस विद्यामें सबसे बड़ी महिमा यह है कि मुख्य आनंद जो निज स्वरूप का है, वह तो नक़द यहीं मिल जाता है और सत्य संकल्प और सत्य काम आदिक प्रसाद तो मृत्यु के पश्चात् छाया की भाँति उसे योंही प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये हमभी अब कर्मकांड को समाप्त करते हैं और अपने प्रिय शिष्यों को प्रसाद में बुलाते हैं। ईश्वर परमात्मा उन्हें जो पढ़ें, अपने प्रसाद (फ़ज़्ल) का प्रताप प्रदान करे। तथास्तु।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

ज्ञान-कांड

पहला अध्याय

(१) हम पिछली शिक्षा में इन्द्रियों का तत्व भली भाँति लिख चुके हैं और उनके विशेष-विशेष काम भी लिख आए हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, जिह्वा चखती है, मन सोचता-समझता है, हाथ पकड़ते हैं, पाँव चलते हैं, वाक् बोलता है, प्राण खींचता है, अपान निकालता है, व्यान रोकता है, समान पकाता है, उदान कुछ का कुछ बनाता है।

(२) ये इन्द्रियां मिलकर जब शरीर में काम करती हैं, तो उन्हें इस समुदाय के ख्याल से मनुष्य कहा जाता है, और उनके कृत्य वास्तव में मनुष्य के कृत्य कहलाते हैं। कुछ काम उसके बाहरी हैं और कुछ भीतरी। वह इन्द्रियां जो बाहरी कृत्य करती हैं, बाहरी ज्ञान-इन्द्रियां और कर्म-इन्द्रियां कहलाती हैं, और जो भीतरी कृत्य करती हैं, वह अन्तःकरण होती हैं।

(३) चूँकि (इस हेतु कि) यही इन्द्रियां वास्तवमें सब काम-धंधा करती हैं इस लिये यही कर्त्ता-भोक्ता हैं, क्योंकि न्याय यही है कि जो करता है, वही पाता है। इसी कारण कर्मकांड में उन्हीं की देखभाल होती है। हमने भी प्रथम शिक्षा (काण्ड) में उन्हीं का स्पष्ट वर्णन किया है।

(४) अब जान लो कि जो काम-धंधा होता है, वह किसी प्रकाश के आश्रय होता है, अँधेरे में नहीं। वरन् जब अँधेरा हो जाता है, तो काम-धंधे तत्काल बंद हो जाते हैं। इन

इन्द्रियों के काम-धंधे भी जिस ज्योति वा प्रकाश में होते हैं, वह आत्म-ज्योति है। उसका वर्णन हमने कर्मकांड में नहीं किया, क्योंकि वह ज्योति उनसे अलग अकर्त्ता-अभोक्ता और साक्षी है, इसलिये कर्मकांड से कुछ संबंध नहीं रखती।

(५) कैवल्य मुक्ति इस आत्मदेव की पहचान पर निर्भर है, इस कारण इसका उल्लेख ज्ञान कांड में होता है। वरन् जिस विद्या के द्वारा इस आत्म-ज्योति की हमें पहचान मिलती है, वही ज्ञानकांड है, और यही ज्योति परमेश्वर का मुख्य आनंद है, और यही ज्ञानियों का परम धाम है। इसी की पहचान के कारण समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ योंही (मुफ़्त) प्राप्त हो जाती हैं।

(६) यह आत्म-ज्योति वास्तव में सब की भीतरी ज्योति है, किंतु बाहरी ज्योतियों में छुपी हुई दिखाई नहीं देती। और बाहरी ज्योतियां बहुत हैं, जो इस ज्योति को छिपाए हुए हैं। अनजान मनुष्य बाहरी ज्योतियों को देखता हुआ, इसको देखता हुआ भी नहीं देखता है। इस लिये इस बड़े भारी प्रसाद (फ़ज़ल) से वंचित रहता है।

(७) बाहरी ज्योतियों में सब से बड़ी और प्रसिद्ध ज्योति सूर्य है, क्योंकि जब सूर्य चढ़ता है, तो मनुष्य उठता है, बाज़ार में जाता है, अपने काम-धंधे करता है और लौट आता है। इस हेतु कि सूर्य में मनुष्य अपना पूरा काम-धंधा भली भाँति करता है, इसलिये सूर्य मनुष्य की ज्योति है।

(८) जब सूर्य नहीं होता, तो चंद्र उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर वह चंद्र में उसी तरह काम-धंधा करता है जिस तरह सूर्य में करता था। और जब चंद्रमा भी

नहीं होता, तो दीपक उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर वह दीपक में भी अपना काम-धंधा उसी तरह कर लेता है। जब दीपक भी नहीं होता तो वाणी उसकी ज्योति होती है, क्योंकि अँधेरी रात में जबकि हाथ पसारा भी नहीं दिखाई देता, तो जहाँ बुलाया जाता है वहाँ चला जाता है, या जहां कोई कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है, तो वहाँ चला जाता है।

(९) यद्यपि वाणी ज्योति उसकी प्रसिद्ध नहीं है, किंतु ज्योति की सत्यता उसमें पाई जाती है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य या चंद्र या दीपक उसके नेत्र में प्रकाश देते हुए हृदय को विवेक प्रदान करते और उसे काम-धंधे में उभारते हैं, उसी तरह वाणी भी उसके कान में तेज प्रदान करती हुई हृदय में विवेक देती और उसे काम-धंधे में उभारती है। इसी कारण वह भी उसकी ज्योति है।

(१०) उसकी अप्रसिद्ध ज्योति केवल वाणी ही नहीं, वरन् घ्राण,रसना और त्वचा भी उसकी ज्योतियां हैं। क्योंकि ये ज्योतियां भी, नाक, जिह्वा और देह में प्रकाश करती हुई हृदय में विवेक उत्पन्न करती हैं और उसे काम-धंधे के लिये उभारती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि जो वस्तु किसी कारण से मन में विवेक उत्पन्न करती है और उसे काम-धंधे के लिये उभारती है, वही उसकी ज्योति होती है।

(११) जान लो कि ये सब ज्योतियां पहले किसी वाह्य इन्द्रिय पर प्रकाश डालती मन को उभारती हैं, जो कि वाह्य करण हैं; बिना उनके ज़रिये के मन को जो अन्तः करण और विवेक का साधन है, नहीं उभारतीं। इसलिये ये वाह्य ज्योति हैं। परन्तु स्मृति और सोच में जो मन अपने आप उठता है, इन ज्योतियों से नहीं उठता वरन् भीतरी ज्योति से, जो

आत्म-ज्योति है, उठता है। क्योंकि जब हम चाहते हैं कि किसी वस्तु का ध्यान करें, तो हमारा मन आत्म-ज्योति से प्रकाश पाता ध्यान के रूप में विवेक पाता है और भीतरी व्यापार करता है।

(१२) इस आंतरिक ज्योति का यथार्थ दर्शन स्वप्न में होता है, जबकि हम स्वप्न-अवस्था में सैर करते हैं। क्योंकि वहाँ नींद के कारण वाह्येन्द्रिय तो निश्चेष्ट होते हैं, न तो वहां सूर्य चमकता है, न चंद्र, और न दीपक जलता है, बरन् वाणी आदि वाह्य ज्योतियां भी नहीं होतीं; तो भी अपनी आत्म-ज्योति में हम एक विचित्र स्वप्न-संसार देखते हैं, और उसमें उसी तरह का व्यापार करते हैं, जिस तरह जाग्रत् में बाहरी प्रकाशों के कारण व्यापार करते हैं।

(१३) हम नियत कर चुके हैं कि जिस में मनुष्य उपर्युक्त नियमानुसार व्यापार करता है, वही उसकी ज्योति होती है, और स्वप्न-संसार में मनुष्य का व्यापार अपने आत्म में स्वतः सिद्ध स्पष्ट है, इससे ज्ञात हुआ कि उसका आत्मा भी उसकी ज्योति है। और क्योंकि वह सब इन्द्रियों के भीतर है, इसलिये अन्तर ज्योति कहलाता है।

(१४) स्वप्न में हमारे आत्मज्योति के प्रकाश से स्वप्नावस्था के पैर चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं। हम घोड़ों पर सवार होते दूर-दूर की यात्रा करते हैं, मित्रों से भेंट करते, बाज़ारों में जाते, नाना व्यापार करते फिर लौट आते हैं, और सुन्दरी स्त्रियों का आलिंगन करते छेड़छाड़ करते हैं। यह सब बर्ताव आत्म-ज्योति में होता है जो मनुष्य की आंतरिक ज्योति है।

(१५) जब हम जागते हैं, तो भी इसी आत्म-ज्योति में बर्ताव करते हैं, और चन्द्र और सूर्य तथा दीपक-रूप ज्योति

तो उसकी सेवा करते हैं। क्योंकि जाग्रत् में आत्मज्योति न हो, तो फिर क्या सूर्य, क्या चन्द्र, और क्या दीपक, एक समान अँधकार होते हैं। इसी कारण मृत मनुष्य के लिये ये सब अँधेरा है। इससे ज्ञात हुआ कि वास्तव में ज्योति यही आत्मा है। वह बाहरी ज्योति वास्तव में ज्योति नहीं, वरन् इन्द्रियों के उभारने के साधन हैं। किंतु सामान्य लोग व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टि से उनको भी ज्योति समझते हैं।

(१६) जब हमारा आत्मा नेत्र आदि में प्रकाशित होता है, तो आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघता है, जुबान चखती है और देह गरम तथा सर्द पहचानता है। इसी को बुद्धिमान् लोग जाग्रत बोलते हैं। बाह्य ज्योतियां तो उनके कुछ कामों में सहायक होती हैं। जैसे सूर्य या चन्द्र या दीपक तो भौतिक अँधेरे को दूर करने की सेवा करते हैं, जिससे आँख अपना पूरा और ठीक २ काम करे। इस कारण वह सब बाह्य ज्योतियां अपनी २ सेवा में आत्मज्योति के अधीन हैं।

(१७) किंतु आत्म-ज्योति अपने प्रकाश में उनके अधीन नहीं, क्योंकि बिना आँखों के स्वप्न में वह देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, और बिना हाथों के पकड़ता है। बाहरी प्रकाश जो इन्द्रियों के चाकर हैं, बहुत दूर रहते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं पाते। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मज्योति अपने स्वरूप में स्वतंत्र है, उनके अधीन नहीं।

(१८) बाहरी ज्योतियां यद्यपि इन्द्रियों की सेवा करती हैं और उनमें प्रकाश डालती उन्हें उभारती हैं, किंतु वह न अपने आपको जानतीं और न इन्द्रियों को जानती हैं, और न अपनी सेवा को जानती हैं, इसलिये जड़ हैं। आत्म-ज्योति मन को,

मन के विचारों को, और इन्द्रियोंको, और क्या सूर्य क्या चाँद क्या दीपक सबको जानती है, इसलिये स्वप्रकाश और ज्योतिषां ज्योति (ज्योतियों की ज्योति) है। इसी को संस्कृत में चेतन बोलते हैं।

(१६) बाहरी ज्योतियोंमें तो केवल इन्द्रियोंकी चेष्टा है, दर्शन नहीं। आत्म-ज्योति में तो चेष्टाके अतिरिक्त दर्शन भी है, इस लिये बाह्य ज्योतियां दोषपूर्ण वा तुच्छ हैं और यह आत्मज्योति पूर्णज्योति है। इसके अतिरिक्त उनकी गति भी अल्प है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र और दीपक तो केवल नेत्र में गति करते हैं, कान या नाक में गति नहीं रखते, आत्मज्योति तो क्या नाक क्या कान सब में गति करती है और उन्हें देखती है, इसलिये व्यापक है।

(२०) अन्य कारण से भी आत्म-ज्योति बाह्य ज्योतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह यह है कि बाह्य ज्योतियां यद्यपि किसी कारण से मनुष्य के बाह्य व्यापारों के हेतु हैं, तो भी उसके व्यापार में अभिमान नहीं करती हैं; आत्मज्योति का तो उसके व्यापार में किसी प्रकार का अभिमान भी पाया जाता है, क्योंकि जब तक इन्द्रियों में इसका स्वाभाविक अभिमान नहीं होता, तब तक वह सब इन्द्रियां व्यर्थ और निकम्मी होती हैं।

(२१) देखो जब यह आत्मा मन में और इंद्रियों में अभिमान करता है, तो जाग्रत् के व्यापार होते हैं और जब इंद्रियों से अभिमान छोड़ कर केवल मन में अभिमान रखता है, तो स्वप्न के व्यापार होते हैं और स्वप्नावस्था के भोग दिलाता है। और जब मन से भी अभिमान छोड़ कर केवल पंच प्राण में अभिमान रखता है, तो सुषुप्ति हो जाती है।

केवल पँच प्राण व्यापार करते हैं। और जब उन से भी अभिमान छोड़ता है, तो मृत्यु होती है।

(२२) इस प्रकार के विचार से ज्ञात होता है कि जब आत्म-ज्योति का अभिमान उनमें होता है, तब वे कर्ता-भोक्ता होते हैं और अपने व्यापार करते हैं, किंतु बाहरी ज्योतियां उनमें अभिमान नहीं कर सकतीं, इसकारण भी वे (ज्योतियां) दोष-पूर्ण वा तुच्छ हैं और यह (आत्म ज्योति) पूर्ण ज्योति है, और वे जड़ हैं, यह चेतन है।

(२३) यह न मान लेना चाहिए कि आत्मज्योति का अभिमान उसका स्वाभाविक है, नहीं, बरन् कल्पित है। क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य के कर्म उसके भोग के लिये उदय होते हैं, वैसे-वैसे उसका स्वाभाविक अभिमान उनके बनाव के लिये होता है। जब वह कर्म समाप्त होते हैं, तो वह इसप्रकार के अभिमान से भी अपने स्वरूप में शुद्ध पवित्र दिखाई देता है।

(२४) देखो, जब उसके कर्म जाग्रत् के भोगों के उदयकर्ता होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में प्रकट होता है; जब वह समाप्त होते हैं और स्वप्न के भोगों के कर्म उदय होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में नहीं, बरन् मन में होता है, और जब जाग्रत् और स्वप्न के भोग भी समाप्त होते हैं, तो सुषुप्ति होती है, उस समय मनसे भी अभिमान वह नहीं करता। बहुत क्या लिखें, जब जीवन के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, तो पँचप्राण से भी वह अभिमान नहीं करता और मृत्यु होती है।

(२५) इस प्रकार के अवलोकन और अनुभव से ज्ञात हो सकता है कि उसका अभिमान भी स्वाभाविक नहीं, बरन् कल्पित है, और यह कल्पना मनुष्य के कर्मों के कारण उसमें

होती है। फलतः जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के लिये नेत्रों का स्वस्थ होना आवश्यक है, उसी तरह उसके अहंप्रकाश के लिये भी मनुष्य के भोग के कर्म आवश्यक हैं।

(२६) यह स्पष्ट है कि जब नेत्र स्वस्थ होते हैं, तब सूर्य उनमें प्रकाश करता उन्हें व्यापार के लिये उभारता है। इसी तरह जब मनुष्य के भोग के कर्म उदय होते हैं, तो आत्म-ज्योति भी उसमें अहंभाव का प्रकाश करती है और उसे व्यापार में प्रेरती है। पर जैसे सूर्य का प्रकाश आँख से लगावट नहीं पाता, बरन् पवित्र का पवित्र रहता है, उसी तरह आत्मज्योति भी किसी इन्द्रिय से लगावट नहीं पाती, बरन् पवित्र की पवित्र रहती है।

(२७) संक्षेपतः, इस आत्मज्योति में कभी जाग्रत, कभी स्वप्न, कभी सुषुप्ति होती है, और जैसे-जैसे मनुष्य के कर्म उदय होते हैं, वैसी उसकी अवस्थाएँ पलट जाती हैं, और इसके सब व्यापार और भोग इसी आत्मज्योति में समाप्त हो जाते हैं।

(२८) बरन् मृत्यु में भी जो व्यापार होते हैं, वह भी इसी आत्मज्योति में परिसमाप्त होते हैं, क्योंकि मृत्यु में या तो वह देवयान या पितृयान सड़क पर चलता है या अधोगति में गिरता है, तो यद्यपि वहाँ उदान प्राण कर्त्ता होता है, तो भी जिस प्रकार कोई कारीगर दीपक में काम करता है, यह उदान प्राण भी वहाँ इसी आंतरिक दीपक के द्वारा व्यापार करता है।

(२९) देवयान सड़क पर उदान प्राण इसी आत्मज्योति के प्रकाश में पहले उसे आग्न, और अग्नि से अग्नि-शिखा (ज्वाला या लाट), और अग्निशिखा (लाट) से दिन बनाता है, जैसा कि कर्मकांड-प्रकरण में प्रकट किया गया

है, या पितृयान-सड़क पर पहले धूम्र और धूम्र से अँधेरी रात, और अधोगति पर पहले भस्म, फिर मिट्टी, फिर बनस्पति आदि बनाता अंत में नारीगर्भ में ले जाता है।

(३०) फिर देवलोक और पितृलोक में सोमराज या देवता-रूप से उठाना और भूलोक में नारी के गर्भ से पशु-पक्षी व मनुष्य की योनियों में उत्पन्न करता देवलोक, चंद्र-लोक और भूलोक के भोग दिलाना है। यह सब व्यापार क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या आध्यात्मिक, क्या भौतिक, क्या मानवी क्या ईश्वरीय, सब उसके कर्मों के उदय से होते हैं, और उदान प्राण उनका कर्त्ता है। इसलिये इन्द्रियाँ वास्तव में कर्मों के बंधन में कर्त्ता और भोक्ता हैं। किंतु उनके भोग और व्यापार का फल इसी आत्मज्योति के आश्रय में होता है, इस लिये यह समस्त व्यापार का आधार वा अधिष्ठान है।

(३१) जहाँ ऊर्ध्व और अधोगतियों पर (अथवा लौकिक वा पारलौकिक मार्गोंपर) केवल उदान प्राण व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान से करता है, और इसी अभिमान के कारण सूक्ष्म नाम पाता है; जब देवलोक या पितृलोक में वही प्राण नाना इन्द्रिय-रूप होकर ऊर्ध्वगति के भोग पाता है और द्यौलोक के व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान के कारण ईश्वर या देवता नामों को पाता है, और यही नरलोक में या पशु-पक्षियों में जीव नाम पाता है। ऊर्ध्वलोकों वा परलोकों में तो पुण्य-कर्मों के कारण स्वतंत्र (स्वाधीन) होता है, और यहाँ पाप-कर्मों के कारण परतंत्र।

(३२) इसी तरह क्या पारलौकिक क्या लौकिक समस्त संसार-चक्र इसी आत्म-ज्योति में अनादि काल से

चलता है और अपने-अपने कर्मों के कारण ये जीवात्माएँ कभी तो पारलौकिक कभी लौकिक चक्र (अथवा कभी ऊर्ध्वगति कभी अधोगति) में यात्रा करती हैं, और यह ज्योति सब व्यापारों का आधार वा अधिष्ठान है, और उनसे पृथक् तथा अकर्त्ता-अभोक्ता है। क्योंकि करना या पाना वास्तव में जड़ इन्द्रियों वा परिच्छिन्नात्माओं का काम है, ज्योति का नहीं है, इस लिये वह असंग आत्मा है।

दूसरा अध्याय।

(१) विवेचना से सिद्ध हुआ है कि यद्यपि व्यापार ज्योति के आश्रय होते हैं, किंतु ज्योति स्वयं कर्त्ता नहीं होती, बरन् उनको व्यापार के साथ प्रकाश से अतिरिक्त कुछ भी संबंध नहीं होता। देखो, सूर्य या चंद्र या दीपक के आश्रय हम व्यापार करते हैं (क्योंकि प्रकाश में हम बाज़ार जाते और वहाँ से काम-धंधा करके फिर लौट आते हैं), उन व्यापारों का करना या उनका लाभ या हानि उठाना मनुष्य का स्वभाव है, सूर्य या चंद्र या दीपक का नहीं।

(२) हम ऊपर के अध्याय में आत्मा को ज्योतियों की ज्योति सिद्ध कर आए हैं; और समस्त मानुषी व्यापार, क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या मानुषी क्या ईश्वरीय, सब इसी आत्मज्योति में सिद्ध होते हैं, और कर्ता-भोक्ता यही इन्द्रियां हैं जो व्यापारों के यंत्र वा साधन हैं। अतः इनका करना और इनके परिणाम का पाना भी इन्हीं का धर्म है, आत्म-ज्योति का नहीं, बरन् वह तो अकर्ता, अभोक्ता, असंग आत्मा, नित्य मुक्त है।

(३) हम इस व्याख्या के लिये एक उदाहरण लिखते हैं और फिर उस को दृष्टान्त में घटाते हैं जिस में भाषा जानने वालों के लिये यह सूक्ष्म विचार सरल हो जाय। वह यह है कि कल्पना करो एक राज-दरबार में रात को अभिनय (तमाशा) होता है।

(४) वहाँ एक बड़ा विशाल प्रासाद (महल) है जिस में यह अभिनय होता है, और एक कोने में एक क़ंदील (दीपक) लटकी है जिस में मोमबती जल रही है, और एक राजासिंहासन पर राजाजी विराजमान हैं और यथा-स्थान उनके सभासद्गण भी समासीन हैं, और एक कंचनी उस के सामने अभिनय करती है और गायक गण उसे ताल पर नचाते हैं, और यह कंचनी उन्हीं बातों पर जिन पर वह नचाते हैं नाचती है।

(५) इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जिस तरह गायक गण उसे नचाते हैं उसी तरह वह कंचनी नाचती है। जब वह नियमानुसार नृत्य करती है, राजा और सभासद् प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब वह बेसुर या बेताल हो जाती है, तो उन्हें रंज होता है। और दीपक का प्रकाश क्या कंचनी क्या गायक, क्या राजा, क्या सभासद् और क्या प्रासाद सब को चमकाता है, और सब अभिनय उसी के आश्रय में होता है (क्योंकि यदि दीपक न हो, तो अभिनय भी बन्द हो जाय), तो भी वह दीपक न तो स्वयं कुछ अभिनय करता है, न उस अभिनय के कारण कुछ हर्ष-शोक मनाता है।

(६) फिर जिस समय वह कंचनी और कथिक कुछ विश्राम के लिये बैठ जाते हैं, तो उनके विश्राम को भी उसी तरह बतलाता है जिस तरह कि उन के नृत्य को प्रकाशित

करता था। जब वह सब अभिनेता (तमाशा करने वाले) और दर्शक चले जाते हैं, तो केवल प्रासाद और उन के न होने को प्रकाशित करता है। न उन के होने की उसे कुछ परवाह है और न उन के न होने से उसे कुछ दुख होता है, वरन् वह उन सब से असंग रहता है।

(७ इसी तरह इस उदाहरण में भी शरीर एक राज-महल है जिस में कर्म करने की इन्द्रियां बसी हुई हैं, अहंकार तो उस में राजा की जगह है, भीतरी इन्द्रियां अर्थात् अन्तःकरण सभासदों की तरह हैं, बुद्धि एक अभिनय करने वाली कंचनी है, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय गायक हैं, बाहरी ज्योतियां उनके साज़ हैं, और आत्म-ज्योति उस मोमबत्ती की भाँति है जो मन-रूपी दीपालय पर धड़ाधड़ जलती है।

(८) ज्यों ज्यों बाह्य ज्ञानेन्द्रिय जो गायक हैं बाह्य ज्योतियों से सुरताल करते हैं, त्यों-त्यों बुद्धि नाचती है, क्योंकि जैसा-जैसा ज्ञानेन्द्रियाँ बताती हैं, उसी, उसी के अनुसार बुद्धि विवेक पाती व्यापार करती है। यदि अच्छा काम करती है, तो अहंकार सभासदों-सहित आनन्द के भोग पाता है, यदि बुरा करती है तो वे दुःख के भोग पाते हैं।

(९) यह सब अभिनय उसी आत्म-ज्योति में होता है। यदि यह ज्योति न होती तो क्या ज्ञानेंद्रिय क्या बुद्धि क्या कर्मेंद्रिय, क्या अहंकार सब व्यर्थ होते। अतः ज्ञात हुआ कि उसी के प्रकाश और उसी के आश्रय में ये सब अभिनय करते हैं।

(१०) आत्म-ज्योति ज्ञान-इंद्रियों को प्रकाशित करती है और इन्द्रियों के व्यापार को प्रकाशित करती है, और फिर उन की बाह्य ज्योतियों को जो साज़ की जगह हैं प्रकाशित

करती है, और उन के व्यापार को भी प्रकाशित करती है, और बुद्धि को प्रकाशित करती है, और जिस-जिस तरह बुद्धि सोचती या समझती है, उस को भी प्रकाशित करती है।

(११) फिर जिस-जिस तरह उस के व्यापार से अहंकार हर्ष या शोक पाता है, उस को भी और अहंकार को भी प्रकाशित करती है। न तो इन्द्रियों के सुर-ताल और बुद्धि के शोक-चिन्ता में उसे कुछ लगावट है, न अहंकार के हर्ष-शोक में कुछ साँझा है, वरन् सब के व्यापार और सब के स्वरूप से अलग, असंग ज्योतियों की ज्योति है।

(१२) जब जागृति होती है और वह सब मिलकर जागृति का अभिनय करते हैं, तो यह आत्म-ज्योति जागृति और उन की जागृति के व्यापार को प्रकाशित करती है। जब वह स्वप्न में जाते हैं, स्वप्न का अभिनय करते हैं. तो वह ज्योति स्वप्न को और स्वप्नावथा के अभिनय को भी उसी तरह प्रकाशित करती है जैसा कि जागृति में करती थी; और जब वह सुषुप्ति में सब विलीन हो जाते हैं, तो केवल महल को और उन सब के न होने को प्रकाशित करती है।

(१३) न तो उसे जागृति और स्वप्न के तमाशे की कुछ परवाह है, न उसे सुषुप्ति की बेख़बरी और सर्व शून्य से कुछ प्रयोजन, वरन् जैसा होता है, वैसा दिखाती है। इस कारण न तो वह कर्त्ता या भोक्ता है, वरन् अकर्त्ता अभोक्ता प्रकाशों का भी प्रकाश असंग आत्मा है।

(१४) उक्त उदाहरण से भी बढ़ कर उसमें श्रेष्ठता का हेतु यह है कि दीपक का प्रकाश तो उदाहरण में केवल भौतिक प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं उस अभिनय को नहीं देखता, किंतु यह आत्मप्रकाश उसको देखता भी है और

उसकी साक्षी भी देता है, क्योंकि यह चैतन्य है। और यह प्रसिद्ध बात है कि जो किसी बात को देखता है, वह कर्त्ता नहीं बरन् साक्षी-मात्र होता है, और साक्षी सदैव कर्मों से अलिप्त होता है, किसी न्यायालय ने कभी साक्षी पर कोई दोष या दण्ड लगाना उचित नहीं समझा।

(१५) जब वह ज्योति गवाह है, वादी या प्रतिवादी नहीं, तो दोषी भी नहीं हो सकती। इसी कारण वह समस्त लौकिक और पारलौकिक कार्यों में बद्ध नहीं बरन् नितांत स्वतंत्र है, और इसी गवाह को साक्षी बोला करते हैं। इसी कारण आत्मा को वेदांत-ग्रंथों में साक्षी नाम से स्मरण किया करते हैं।

(१६) भारतवर्ष में प्रथा है कि जब कहीं शोक (मातम) होता है, तो स्त्रियाँ स्यापा करती हैं, और नाइन या डोमनी स्यापे से अलग होकर उलाहनी देती है, और सब मातम करनेवाली स्त्रियाँ उसकी उलाहनी के आश्रय यथाक्रम् तरतीब से स्यापा करती हैं। इसी तरह समस्त इन्द्रियां इस साक्षी आत्मा की प्रेरणा में बर्ताव करती हैं, परंतु वह स्वयं स्यापें की नाइन की तरह बर्ताव से अलग रहता है, मातम करने वाला नहीं होता।

(१७) जब तक मनुष्य शरीर या कार्य करनेवाली इन्द्रियों में अहंता की नित्य भ्रांति रखता है, तब तक वह कर्मोंमें बंधायमान होता कर्त्ता-भोक्ता ठहरता है। पर जब उस साक्षी का ज्ञान पाता, और उसमें अपनी वास्तविक अहंता जानता है, तो पूर्ण होता दर्शक हो जाता है, और प्रत्यक्ष मुक्ति पाता है।

(१८) कर्मशील इन्द्रियां तो स्वयं तमाशा हैं, क्योंकि जो जो उनके काम ऊपर वर्णन किए गए हैं, वह-वह कर्म वह

करती हैं। वह जो उनमें अहंभाव रखता है, वह भी तमाशा होता है। किंतु जो अपने आत्मा को उनसे असंग जानता है, स्वयं तमाशा नहीं होता बरन् तमाशा देखनेवाला होजाता है, और अपने अंगों और इन्द्रियों के व्यापार में साक्षी होकर रहता है। इसी कारण वह अपनी करतूतों का बदला भी नहीं पाता, क्योंकि साक्षी वा गवाह कार्य कर्त्ता नहीं होता, बरन् प्रतिफल वही पाता है जो कर्म करता है।

(१६) अतः ऐ भाइयो! तुम भी साक्षी बनो, कर्मी न रहो; बरन् जो-जो अंग और इन्द्रियाँ और प्राण करते हैं, उनको देखो। यही देखना ठीक आत्म-ज्ञान है, और इसी ज्ञान के कारण प्रसाद प्राप्त होता है, और जो देखने वाला है, वही सच्चा है, वह जो दिखाई देते हैं, नाशमान हैं।

तीसरा अध्याय।

(१) यद्यपि आत्म-ज्योति असंग और पवित्र है और इन इन्द्रियों से जो कर्त्ता हैं, अलग है, तो भी जिस तरह दीपक का प्रकाश अभिनय पर प्रकाश डालता है, प्रत्येक के रूप पर नियत होता उसी का रूप दिखाई देता है, उसी तरह आत्मज्योति भी प्रत्येक कर्मेंद्रिय और अंग और ज्ञानेन्द्रिय वा प्राणों में प्रकाशमान होती उसकी आकृति पर उसमें उससे एक हुई दिखाई देती है।

(२) इस कारण कि यह आत्मज्योति वास्तव में अपना कोई रूप-रंग तो रखती नहीं, अपितु 'क्यों' 'कब' आदि कारणों से परे है, तो भी जिस पर प्रकाशित होती है, उसी का रूप धारण करती सी प्रतीत होती है, इसलिये मध्य श्रेणी लोगों की बुद्धि में उसकी विवेचना या पहचान नहीं होती। वह कर्मे-

द्रिय, अंग और ज्ञानेंद्रिय तो ज्ञात होजाते हैं, किंतु यह आत्म-ज्योति एकाएकी प्रतीत नहीं होती।

(३) इसकी मिलावट ऐसी होती है जैसे कि स्वच्छ दुग्ध में एक लालड़ी डाल दी जाय, तो वह दुग्ध भी अरुण (लाल) मालूम होता है। इसी तरह आत्मज्योति में प्रकाशित हुई ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेंद्रिय, और अंग भी जीवित और चेतन ज्ञात होते हैं। यद्यपि जिस तरह वास्तविक स्वरूप में दुग्ध श्वेत है, लाली की रंगत उसमें नहीं आ जाती, उसी तरह समस्त ज्ञान व कर्म इन्द्रिय और अंग वास्तव में अंधकारमय हैं, प्रकाशमय नहीं, किंतु इस ज्योति में प्रकाशित हुए प्रकाशमय दिखाई देते हैं, इस कारण इस प्रकाश का ज्ञान उसी रूप का सा हो जाता है।

(४) इन्द्रियाँ जो व्यापार करती हैं, सूक्ष्म हैं, किंतु दर्पण की भाँति निर्मल भी हैं। इसी कारण उनमें प्रतिबिंब की भाँति यह ज्योति दिखाई देती है। पहली किरण उसकी मन अर्थात् अंतः करण पर पड़ती है और फिर जब मन विचार के रूपमें तरंगायित होता मस्तिष्क में जाता है, तो दूसरी किरण उसकी मस्तिष्कमें पड़ती है, और फिर मस्तिष्क से नाड़ियोंके द्वारा यही ख्याल आँख नाक कान मुँह में उतरता है, तो तीसरा प्रकाश उस का वहाँ होता है। फिर जब आंख कान से ख्याल निकलता है, तो जिस-जिस पर लगता उसकी आकृति धारण करता है, उस-उस वस्तु को प्रकाशित करता है। इस तरह यह मनुष्य देखता-सुनता व्यापार करता है।

(५) इसको उदाहरण द्वारा यों समझो कि शरीर एक महल है। हृदय कमल जो वक्षस्थल में है, एक ताखा है, और मन उसमें एक क़ंदील के समान है जिसमें यह ज्योति दीपक

की भाँति प्रकाश कर रही है । मस्तिष्क एक छत की तरह है जिसमें ५ छिद्र हैं, और पंच ज्ञानेंद्रिय उनमें दूसरे आईने लगाए गए हैं ।

(६) मन (अंतः करण) का आईना (दर्पण) एक ऐसा बदलने वाला शरीर है जो हर समय ख्यालों के रूप में वेगवान् होता है । वरन् जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं, मन (अर्थात् अंतः करण) से भी बराबर किरणें उठती हैं और मस्तिष्क को जाती हैं, और आत्मा का प्रकाश उनमें भी उसी तरह पड़ता है, जैसा कि अंतः करण में पड़ता है, और उन्हीं किरणों को हम विचार नाम देते हैं और संस्कृत में उन्हें वृत्ति भी बोला करते हैं ।

(७) जब ये मनोवृत्तियाँ मस्तिष्क में जाती हैं, तो मस्तिष्क में फैलती उस ज्योति से उसी तरह मस्तिष्क को प्रकाशित करती हैं जिस तरह एक दीपक जिस-जिस जगह ले जायँ उसी-उसी जगह को प्रकाशित करता है । फिर मस्तिष्क से नाड़ियों के द्वारा सारे शरीर में इन वृत्तियों की फैलावट होती है और सारा शरीर प्रकाशित होता है । फिर जब उसके मन की कुछ किरणें पंच छिद्रों में जाती हैं जहाँ ज्ञानेंद्रियों के आईने लगे हुए हैं, तो उनमें भी उस ज्योति का प्रकाश पड़ता है और उन्हें भी प्रकाशित करता है । इसी को सामान्यतः जाग्रत् बोलते हैं ।

(८) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञानेंद्रियों से ख्याल निकलकर वस्तुओं पर लगते उनकी आकृति धारण करते हैं, त्यों-त्यों वस्तुएँ भी उसी ज्योति से प्रकाशित होती दिखाई देती हैं । इस प्रकार यह ज्योति मन के भीतर प्रकाश डाल रही है । और इसी कारण उसको आंतरिक ज्योति कहा करते हैं । और फिर (यह ज्योति) बारी-बारी करके, उपर्युक्त-क्रम से,

सारे संसार को प्रकाशित करती और व्यापारों का हेतु होती है।

(९) इस कारण कि उस ज्योति का पहला दर्शन (प्रतिबिम्ब) मन या ख्याल में होता है, इस लिये उस के अनुभव के लिये मन या ख्याल ही नियत हुआ है, क्योंकि जिस तरह राहु का दर्शन चंद्र या सूर्य में होता है, उसी तरह उसका दर्शन मन या ख्याल में होता है। किंतु हम लिख आए हैं कि वह ज्योति अपनी कोई असली आकृति नहीं रखती, बरन् जिस पर अपना प्रकाश डालती है उसी के रूप में दिखाई देती है, ख्याल में ख्याल के रूपसे और मस्तिष्क में मस्तिष्क के रूप से और ज्ञानेंद्रियों में ज्ञानेंद्रियों के रूप से तथा ज्ञात में ज्ञात-रूप से दिखाई देती है।

(१०) इसप्रकार की जाँच पड़ताल से मालूम हो सकता है कि ख्याल जिस-जिसका रूप धारण करता है, उसी-उसी रूप पर वह ज्योति प्रकट होती है, जिस तरह बाहरी ज्योति भी जिस पर पड़ती है, उसी के रूप में दिखाई देती है, जैसे लाल को प्रकाशित करती लाल दिखाई देती है, और काले को प्रकाशित करती काला दिखाई देती है, इसी प्रकार यह भीतरी ज्योति भी ख्याल में ख्याल हुई दिखाई देती है।

(११) परंतु जिस तरह बाहरी ज्योति लाल में लाल और काले मे काला होकर दिखाई देती है, तो भी न तो वह लाल और न काला हो जाती है, बरन् लाल और काले से अलग बेरंग रहती है, इसी तरह आत्म-ज्योति भी ख्याल में ख्याल, ज्ञानेंद्रियों में ज्ञानेंद्रिय-रूप होती हुई भी न तो ख्याल है न ज्ञानेंद्रिय, बरन उन सब से अलग केवल ज्योति या प्रकाश मात्र है।

(१२) बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि वह अप्रकाशित

करता है उस से जो प्रकाशित होता है, भिन्न है। आत्मा तो प्रकाशित करता है और खयाल एवं ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय प्रकाशित होते हैं, इस लिये आत्मा क्या दिल, क्या खयाल, क्या ज्ञानेंद्रिय, क्या कर्मेंद्रिय, क्या शरीर इन सब से अलग सब में सब रूप है।

(१३) जब कि वह सब में सब कुछ है तो उन से अलग करके वह किसी रूप में भी नहीं देखा जाता, क्योंकि वह अपने स्वरूप में तर्क वितर्क वा प्रमाण प्रमेय से रहित ज्योति मात्र है। जिस प्रकार बाहरी प्रकाश भी लाल में लाल, काले में काला, पीले में पीला दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में न वह लाल है न काला न पीला अनुभव होता है, इसी तरह आत्मा भी सब में सब कुछ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में सब से अलग, आंतरिक ज्योति अनुभव होता है।

(१४) इस के अनुभव के लिये जिज्ञासु को चाहिए कि पहले ज्ञानेंद्रियों को निष्क्रिय करके अपने ख्यालों का भीतर में दर्शन करता रहे। इस दशा में विविध ख्याल उत्पन्न होंगे और दूर होंगे। वह जो इन ख्यालों के उदय और अस्त और उन की फसलों (लगातार सिलसिले) को देखता और प्रकाशित करता है, वही आत्म-ज्योति है।

(१५) इस दर्शन में तो ख्याल दर्पण के समान हो जाते हैं। जिस प्रकार देखने वाले के आगे एक आइना (दर्पण) रख दें और फिर उठा लें; और दूसरा रख दें, फिर उसे भी उठा दें; तीसरा रख दें; इसी तरह करते जायँ, तो वह अपने मुख को उन में देखता है। इसी तरह समाधि में जिज्ञासु आत्म-ज्योति को ख्यालों वा संकल्पों में देख सकता है।

(१६) क्योंकि उदाहरण में जब एक शीशा सामने होता

है, उसी क्षण में उसमें अपना स्वरूप दिखाई देता है। जब वह उठाया जाता है, तो वही दूसरे शीशे में दिखाई देता है; इसी तरह प्रत्येक ख्याल में देखनेवाले का प्रतिबिंब दिखाई देता है, क्योंकि जब एक ख्याल उदय होता है, तो ख्याल का और ख्याल के उठने का और उस ज्योति का जिसके सहारे वह ख्याल उठता है, दर्शन होता है।

(१७) परंतु जब वह ख्याल दूसरे क्षण में अस्त होता है, तो उस ख्याल का और उसके लय होने का तथा उस ज्योति का जिसके आश्रय वह ख्याल अस्त होने का व्यवहार करता है, अनुभव होता है। और फिर उसी क्षण में जो दूसरा ख्याल उठता है, तो उस ख्याल को और उसके उठने को, और पहले ख्याल की फ़सल (सिलसले) को जो सांझा है, और उस ज्योति को जिसके आश्रय वह ख्याल अस्त होता है और यह उठता है सब अनुभव करता है।

(१८) यह न समझ लेना चाहिए कि यहाँ प्रकाशित ख्याल वा मन ज्योति हैं, कोई दूसरी अलग आत्म-ज्योति नहीं। वरन् यह समझना चाहिए कि वह जो उदय और अस्त का व्यापार है, वह तो ख्यालों का काम है, किंतु जिसके आश्रय यह व्यापार होता है और जो उनका अनुभव करता है, वह उनसे अलग आत्म-ज्योति है। यद्यपि जिस प्रकार शीशों के उठाने से बिंब का भी दूर होना सर्वतःपाया जाता है, तो भी बिंबित व्यक्ति नाशमान नहीं होता, और दूसरे आईने में जो लगातार सामने होता है प्रतिबिंबित दिखाई देता है; इसी तरह एक ख्याल के अस्त होने में देखनेवाले का प्रतिबिंब अस्त होता-सा प्रतीत होता है, तो भी आत्मा जो देखनेवाला प्रतिबिंबित है, अस्त नहीं होता। और जिस तरह मुख दर्शाने वाला दर्पण मुख के छिपाने का

कारण हो जाता है, उसी तरह समाधि में ख्याल भी ज्ञानी को आत्मा के अनुभव (वा साक्षात्कार) के कारण हो जाते हैं।

(१६) जिस तरह आँख दर्पण की सहायता के बिना अपने आपको नहीं देख सकती, उसी तरह आत्म-ज्योति भी ख्यालों की विद्यमानता के बिना अपने आपको ज्ञाता नहीं अनुभव कर सकती। इसी कारण मन या अंतः करण उस आत्म-ज्योति का प्रकट स्थान वा प्रकट कर्त्ता नियत हुआ है, और इसीलिये वेद की श्रुतियाँ वृत्तियों को आत्म-ज्योति का दर्शाने वाली लिखती हैं, क्योंकि जिस प्रकार आईना मुख का दर्शानेवाला निश्चित होता है, उसी तरह ख्याल भी आत्मा को दर्शानेवाला निश्चय किया गया है।

२०) अब यों समझो कि अंतः करण में उपर्युक्त नियमानुसार जब आत्म-ज्योति का प्रतिबिंब पड़ता है, तो उसी अंतः करण की वृत्तियों के प्रकाशित करने और जानने को ज्ञान नाम करते हैं। विद्या में एक भाग तो यही भीतरी ज्योति है, और दूसरा भाग मन अर्थात् अंतः करण है जो ख्यालों के रूप में तरंगायित होता है। और जब कोई वस्तु इस विद्या में आ जाती है, तो मन का भाग जो ख्याल है उस वस्तु के रूप में तद्रूप होता है, और यह भीतर की ज्योति उसपर प्रकाशमान होती उसे प्रकाशित करती और उसे देखती है।

(२१) देखो, जब कोई वस्तु हमारी आँखों के सामने आती है, तो हमारी मनोमय किरणें दृष्टि की किरणों से मिली हुई आँखों से बाहर निकलती उस वस्तु पर उसी तरह जा पड़ती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी उसपर पड़ती हैं। और फिर जिस तरह सूर्य की किरणें उसका रूप और

करती उसके चारों ओर परिवृत्त होती हैं, उसी तरह ज्ञान में जो काल्पनिक भाग है, वह वस्तु के आकार पर तदाकार हुआ उसको घेरता है और आत्मज्योति उसे अनुभव करती है। इसी को सामान्य लोग देखना बोलते हैं।

(२२) किंतु जब हम किसी वस्तु का ध्यान करते हैं, तो ख्याल जो वास्तव में मन है, हमारे भीतर उसी रूप और आकृति में बन जाता है, और उसमें जो ज्योति वा प्रकाश है, उसका अनुभव या दर्शन करता है, तो ज्ञानी यहाँ जानता है कि मन का भाग ज्ञान में से पृथक् होकर एक वस्तु के रूप में साक्षीभूत हो रहा है ; और आत्म-ज्योति वा प्रकाश अलग होकर उसका साक्षी है।

(२३) जब कि उपर्युक्त नियमानुसार ख्याल या वृत्ति तो दिखाई देनेवाली वस्तु के रूप में है और आत्मा उसका देखनेवाला साक्षी है, तो साधक को चाहिए कि इस विवेक को लाभ करने के लिये पहले अपनी वृत्तियों को किसी वस्तु के रूप पर स्थापित करे। जब वह वृत्तियाँ वस्तु से तद्रूप हो जायँ, तो फिर ध्यान में जो दिखाई देता है, और वह जो देखता है, उन दोनों में विवेक करे, तो आत्मा इस नियम से बिजली के समान अनुभव होगा।

(२४) जब ऐसा अनुभव हो, तो अभ्यास करता रहे, किंतु यह स्मरण रहे कि इस अभ्यास में साक्षी और साक्षीभूत (कल्पना) और साक्ष्य (ज्ञान) तीनों विद्यमान हैं, यद्यपि वह ज्ञान वा कल्पना केवल एक ही वस्तु की होगी, चाहे वह किसी बाह्य वस्तु की कल्पना हो अथवा किसी भीतरी अवस्था का ज्ञान, जैसे अनहद शब्द का सुनना, किंतु त्रिपुटी यहाँ बनी रहती है। कुछ काल इस प्रकार अभ्यास करते-करते ज्ञात वस्तु और उसका ज्ञान

नष्ट होना आरम्भ होगा, यहाँ तक (नष्ट हो जायगा) कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था विद्यमान हो जायगी जहाँ कि वृत्ति का कोई उदय-अस्त नहीं रहता, जिस दशा में मन अर्थात् अंतःकरण शांत हुआ संकल्प-विकल्प नहीं करता, जहाँ आत्माज्योति ऐसे जलते हुए अंगार के समान कि जिसमें धुआँ या लाट या चिनगारी नहीं, स्वतः स्थित रहती है, और ऐसी अवस्था का ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधि से उठने पर होता है, समाधि के समय नहीं होता। मोक्ष का समस्त अवलम्ब इस निर्विकल्प समाधि पर ही है। और इसी समाधि की अवस्था को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं, और इसी साक्षात्कार पर प्रसाद निर्भर है।

(२५) जान लो कि ख्याल जब तक कि वह विद्यमान है, इसी ज्योति का प्रकट करनेवाला रहता है, चाहे वह किसीके भी रूप पर रूपवान् हो। और प्रकृति ने उसे ऐसा बनाया है कि वह प्रत्येक वस्तु के रूप पर बदल जाता है। परन्तु अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जब कि किसी वस्तु की कल्पना वा ख्याल नहीं रहता, अर्थात् अंतःकरण निश्चल (संकल्प-विकल्प-हीन) हो जाता है, जिस प्रकार वायु की गति बंद होने पर जल ठहरा हुआ होता है या अग्नि का अंगारा दहक रहा होता है। इस निर्विकल्प समाधि को वादानुवाद-विहीन अवस्था कहते हैं। यद्यपि मन की तरंगें उस समय बिलकुल बंद होती हैं, किंतु मन उस अवस्था में लय वा लीन नहीं हो जाता जैसे कि सुषुप्ति में होता है। वह अपने अस्तित्वमें स्थित होता है परन्तु वृत्तिहीन अर्थात् शांत होता है।

(२६) किंतु जब वह बुद्धि-विषयक ज्ञान की शिक्षा में गंभीर और सूक्ष्म तत्त्वों के विवेक में अभ्यस्त किया जाता है

और फिर तप व्रत रूपी कर्मों के कारण विषय पदार्थों की प्रीति से निरासक्त किया जाता है, तो ब्रह्मविद्या के विचार का अधिकारी हो जाता है, और ब्रह्मविद्या में आत्मा का विचार होता है, तो फिर सुगमता से निश्चल (संकल्प-विकल्पहीन) होने लग जाता है और आत्म-दर्शन पाता है।

(२७) जब वह निश्चेष्ट होता है, तो उस समय भी वह उस प्रकाश का द्योतक तो रहता है, किंतु स्वयं निश्चेष्ट होने से साक्षीभूत नहीं रहता वरन् आत्मा ठीक आत्मसाक्षात्कार के रूपमें उसमें अनुभव होता है, और इसी को साधारणतया तत्त्ववेत्ता समाधि बोलते हैं।

(२८) अब मालुम हुआ कि मन (ख़्याल) का और आत्म-ज्योति का संबंध पारस्परिक प्रदर्शन का है कि बिना ज्योति के मन और बिना मन के ज्योति का प्रदर्शन नहीं होता, और मन और ज्योति परस्पर प्रकट होकर ज्ञान कहलाता है, तो इसी कारण श्रुतियाँ निश्चय करती हैं कि आत्म ज्योति भौतिक नहीं वरन् चेतन-ज्योति (या ज्ञानप्रकाश) है, क्योंकि ज्ञान में वह काल्पनिक भाग के त्यागने (बाध होने) पर नज़र पाई जाती है।

(२९) और यह ख़्याल (मन) जो अंधकार मयी अंश है, वास्तव में समस्त व्यापार का कारण है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के ज्ञान में भी यही ख़्याल हेतु होता है। इसलिये कि आत्मा तो अपने स्वरूप में अनुभव या साक्षात्कार रूप है, वह जो आत्मा में किसी कारण से एक होता है, जाना जाता है। और हम वर्णन कर चुके हैं कि ख़्याल आत्मा का द्योतक और आत्मा ख़्याल का द्योतक है, इसलिये इन दोनों का पारस्परिक प्रदर्शन है। अतः ख्याल(मन) ही किसी कारणसे साक्षात्कार

का बाधक है और ख़्याल (मन) ही अन्य कारण से साक्षात्कार का हेतु वा साधक है।

(३०) जब यह ख़्याल (मन) किसी वस्तु के रूप पर बनता और उसको परिव्रत करता है, तो वह वस्तु भी ख़्याल (मन) में उसी तरह प्रतिबिंबित होती है जिस तरह आत्मा ख़्याल (मन)में प्रतिबिंबित है। और इस रूप में प्रतिबिंबित वस्तु भी आत्मा से एक होती है, और आत्मा में वह प्रत्यक्ष होती है। इस कारण से भी ख़्याल (मन) साक्षात्कार का साधक वा वसीला होता है।

(३१) जब मूर्छा या सुषुप्ति की दशा में अंतःकरण में तरंगें नहीं उठती (मन लहराने नहीं पाता, या ख़्याल आकार पर नहीं बनता, या किसी वस्तु पर अधिकार करने नहीं पाता , तो ऐसी दशा में भी ख़्याल मन) साक्षात्कार का आवरण होता है। इसलिये ख़्याल(मन)ही वास्तव में समस्त व्यापार का साधक होता है, और ज्ञानेंद्रियाँ तो उसकी एक गम्यस्थान (गुज़रगह) हैं जिनमें से निकलता हुआ विशेष-विशेष व्यापार वह करता है, और ख़्याल (मन ही इस ज्योति के प्रकाश में प्रकाशित हुआ ज्ञान कहलाता है।

(३२) अब यों समझो कि ज्ञान में जो निश्चय और कल्पना की चेष्टा वा क्रिया है,वह तो ख़्याल (मन) का निजी काम है,किन्तु इसमें जो अनुभव है वह ज्योतिका स्वाभाविक काम है ; तो भी (मन) के व्यापार आत्मा में और आत्मा का अनुभव ख़्याल (मन) में आरोपित स्पष्ट होते हैं। इसी कारण अनजान मनुष्य आत्मा को पवित्र और असंग नहीं जान सकता, बरन् ख़्याल के व्यापार का वह आत्मा में भ्रम खाता है। इस का कारण यह है कि जो-जो व्यापार ख़्याल

(मन) करता है, आत्मा में वे दिखाई देते हैं, जैसे कि बादल चलते हैं, तो चंद्रमा चलता दिखाई देता है।

(३३) इसी तरह मन, बुद्धि,इंद्रिय, देह तो चलते हैं, पर आत्मा चलता-सा दिखाई देता है । जब ख्याल (मन) किसी का निश्चय करता है, तो आत्मा निश्चय करता-सा हो जाता है। जब यह ख्याल (मन) किसी की कल्पना करता है तो आत्मा कल्पना करता-सा हो जाता है । जब ख्याल (मन) कुछ दूसरी लीला करता है, तो आत्मा भी वही लीला करता-सा दिखाई देता है।

(३४) इसी कारण श्रुति-भगवती कहती है कि वह ख्याल में ख्याल हुआ दोनों लोकों की सैर करता है; सैर तो नहीं करता, बरन् सैर करता-सा हो जाता है; ध्यान तो नहीं करता, बरन् ध्यान करता-सा हो जाता है; लीला तो नहीं करता, बरन् लीला करता-सा हो जाता।

(३५) जब यह ख्याल उठता है और ज्ञानेंद्रियों तक फैलता है और बाह्य वस्तुओं के तदाकार होता है, तो इसी परमात्मा में जागृति का दोष अध्यारोप होता है। और जब वही ख्याल ज्ञानेंद्रियों तक नहीं फैलता, बरन् ज्ञानेंद्रियों को छोड़ता हुआ मन के भीतर स्वप्न का अभिनय करता है, तो इसी आत्मा में निद्रा का दोष लगता है।

(३६) और जब यह ख्याल इस शरीर से बिलकुल सम्बन्ध त्यागता है और पिता प्राण की गोद में बैठकर इस मकान से निकल जाता है, तो मृत्यु का अध्यारोप वह इसी परमात्मा में लगाता है। और जब फिर यह किसी दूसरी आकृति (देह) में सम्बन्ध पाता है, तो जन्म का अध्यारोप इसी में वह दिखाता है। इसलिये जागना और निद्रा एवं

जन्म और मृत्यु आत्मा में आरोपित वा मान लेने के हैं, वास्तविक नहीं।

(३७) विचित्र बात यह है कि जब ख्याल उठता कुछ करता है और तत्काल दूर होता है, तो उस का प्रभाव (Impressions) मन में रहता है, और फिर उसी प्रभाव के कारण वह दुबारा उठता है और फिर प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह एक विचित्र वृत्त बनाता है, जिस का आरम्भ या अन्त नहीं। और इन्हीं प्रभावों को संसार में पुण्य या पाप बोला करते हैं, क्योंकि जब वह अच्छा सोचता और अच्छा करता है, तो अच्छाई का प्रभाव मन में होता है। जब वह बुराई सोचता और बुरे काम करता है, तो बुराई का प्रभाव उस में उत्पन्न होता है। उस पहले प्रभाव का नाम पुण्य और इन दूसरे प्रभावों का नाम पाप है।

(३८) इस कारण पुण्य और पाप वास्तव में मन के ख्याल या धर्म हैं, और जाग्रत् स्वप्न में और वैसे ही जन्म-मरण में यही पाप-पुण्य भोग के कारण हैं। पुण्यों के कारण उत्तम जन्म और उत्तम भोग उत्पन्न होते हैं; पापों के कारण अधम जन्म और अधम भोग मिलते हैं। बार-बार जाग्रत् और स्वप्न और जन्म-मरण इन्हीं कर्मों के कारण ख्याल या मन में होता है। परन्तु चूँकि ये सब व्यापार उसी ज्योति में होते हैं और उसी के अभिमान से होते हैं, ख्याल की प्रतीति से अनजान मनुष्य अपने आत्मा में पुण्य-पाप का अध्यारोप कर लेता है। वास्तव में वह तो अलग असंग आत्मा है। न तो पुण्य उस में छूत पाते हैं और न पाप उसे काला करते हैं। जैसा दीपक या सूर्य का प्रकाश भी क्या शौचालय (पाखाना) और क्या गंगाजल, इन में

उजेला करता उन्हें प्रकाशित करता है, तो भी वह शौचालय पर प्रकाश करता शौच (गंदा) नहीं और श्रीगंगा-जल पर प्रकाश करता पवित्र नहीं हो जाता।

(३९) इसी तरह जब ख्याल (अन्तःकरण) पुण्य उत्पन्न करता है, तो पुण्य-वान् होता है, जब पाप उत्पन्न करता है, तो पापी होता है। पर भीतरी ज्योति जो ख्याल में चमकती है, न तो पुण्यों से पुण्यवान् होती है न पापों से पापी, बरन् वह तो ख्याल को और पुण्य पाप को और उनके संबन्ध को प्रकाशित करती और उनकी विचित्र-ताओं की साक्षी होती है, और ज्यों की त्यों पवित्र रहती है। इसी कारण से वेद की श्रुतियाँ उसे पवित्र-आत्मा कहती हैं, जिस का उर्दू-अनुवाद रूहुलकुद्स है।

(४०) निदान, वह समस्त गुणों से रहित है, तो भी ख्याल के कारण समस्त गुण अध्यारोप की तरह उस में कल्पित होते हैं। जिस तरह सफ़ेद बिल्लौरका ग्लास जब रक्त वारुणी(मदिरा)से भरा जाता है,तो वह भी रक्त कल्पित होता है, इसी तरह ख्याल के पुण्य और पाप भी यद्यपि ख्याल में हैं, तो भी वह इस ज्योति में कल्पित होते हैं। जिस तरह अबोध बालक भूल कर ग्लास को लाल निश्चय करता है, उसी तरह अनजान मनुष्य भी भूल से पुण्य और पाप अपने आत्मा में देखता है, और ख्याल से मिला हुआ जन्म-मरण संसार भी अपने में देखता है। यही नास्तिकता और बन्धन है।

(४१) किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि उदाहरण में लाली वास्तव में मदिरा का धर्म है, ग्लास में उस का कुछ भी प्रवेश नहीं, बरन् वह तो अपने असल धर्म में उस समय भी श्वेत है। इसी तरह ज्ञानी भी जानता है कि क्या

पाप और क्या पुण्य ख्याल और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो पवित्र, असंग, नित्य मुक्त है। अतः ए भाइयो! हम भी पापियों के समान हैं, पर वास्तव में निष्पाप हैं। सत्कर्मियों की तरह दिखाई देते हैं, पर सत्कर्मी नहीं।

(४२) क्या मन, क्या ख्याल, क्या पाप, क्या पुण्य, सब अंधकारमय हैं, और आत्मा एक ज्योति है जो उन में चमकती है। किन्तु स्पष्ट है कि अंधकार का प्रकाश से क्या सम्बन्ध है, मिथ्या का सत्य में क्या साझा है? परन्तु चमगादड़ जिस तरह सूर्य में अंधकार और दिन में रात देखता है, इसी तरह मूर्ख पुण्य और पाप को भी अपने आत्मा में देखता है, और यही नास्तिकता है। और इसी के कारण वह जन्म-मरण के बन्धन में रहता है। किन्तु वह जो क्या मन क्या ख्याल, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या देह, क्या प्राण और क्या पाप, बरन् सब से अलग, उन का साक्षी या प्रकाश अपने आप को देखता है, सत्यता और सच्चाई पाता है, और इसी सत्यता पर कैवल्य मुक्ति मिलती है, और वह साम्राज्य जो प्रजापति का है और कर्मकांड से मिलता है, इस सच्चे को मुफ्त मिल जाता है। इसी कारण यह प्रभाव में प्रविष्ट है।

(४३) इसका हेतु यह है कि वह इस साक्षात्कार के कारण उस भूल और अज्ञान को दूर करता है जो संसार का मूल है या प्रलय की माता है। जैसा कि एक वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाय, तो यद्यपि कुछ दिन वह हरा रहता है, अंत में अपने आप शुष्क हो जाता है। इसी तरह ज्ञानीजन उस भूल को जो अज्ञान से है, ज्ञान से उड़ाते हैं, और वह चक्र जो कर्मकांड में दिखाया गया है, वास्तव में भ्रम से या

अज्ञान से है, सत्य नहीं; भ्रांतिमय है, यथार्थ नहीं। और वह अज्ञान इसी विशुद्ध आत्माकी पहचान से उड़ता है,कर्मसे नहीं जाता। कर्म से तो पुण्य और पाप उत्पन्न होते हैं, भ्रम नहीं उड़ता। क्योंकि कोठड़ी में जो अँधेरा होता है, किसी आकर्षणी-क्रिया से नहीं निकाला जाता, परंतु दीपक से क्षण-मात्र में उड़ जाता है। इसी तरह ईश्वरीय भ्रम वा अविद्या भी अंधकार है, और जन्म-मरण संसार-चक्र भी भ्रमपूर्ण है, और अंधकार, स्पष्ट है, कि किसी कर्म से दूर नहीं होता, चाहे कर्म अच्छा हो चाहे बुरा, बरन् प्रकाश से उड़ता है। आत्मा तो ज्योति है। उसमें पुण्य और पाप देखना भूल और नास्तिकता है। और यही मूल अविद्या या ईश्वरीय माया है जो प्रलय का कारण है। किंतु इस असंग आत्म-ज्योति की पहचान (अनुभव) ज्ञान है। इसीसे वह भूल और नास्तिकता भी दूर होती है। इसी कारण कैवल्य मुक्ति आत्मज्ञान पर नियत हुई है। यही निर्देश है।

(४४) अब यों समझो कि जिस तरह एक देवदत्त के भीतर मन में वह आभ्यन्तरिक ज्योति प्रतिबिंब की भाँति चमकती है, उसी तरह यज्ञदत्त के मन में भी यही झलक मारती है, और जिस तरह देवदत्त के मन और मस्तिष्क तथा ज्ञानेंद्रियों को प्रकाश करती है, उसी तरह यज्ञदत्त के अंगों को भी आलोकित करती है। और जिस तरह देवदत्त इसी के अभिमान और इसी के उजाले में मानुषी व्यापार करता है, उसी तरह यज्ञदत्तभी इसी के अभिमान और इसी के प्रकाश में अपना व्यापार करता है। क्या देवदत्त, क्या यज्ञदत्त, क्या ब्रह्मदत्त, बल्कि मनुष्यमात्र के भीतर यही एक ज्योति जलती है, और इसी के प्रकाश में उनके व्यापार क्या आध्यात्मिक क्या अधिदैविक, क्या लौकिक, क्या

पारलौकिक सब समाप्त होते हैं।

(४५) यद्यपि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त और देवदत्त सब मनुष्य अपनी शारीरिक दृष्टि से और उन इन्द्रियों के समूह के ख्याल से कि जो कर्त्ता-भोक्ता हैं, अलग-अलग देह रखते हैं, किंतु इस ज्योति (प्रकाश) में सब एक हैं, और यही सब का आत्मा है। और यही नहीं कि केवल मनुष्यों के भीतर ही आत्मा अपना तेज वा प्रतिबिम्ब डालता है, बरन् पशु पक्षी, कीट-पतंग, सबके मनों के भीतर उसी तरह प्रकाशमान है जिस तरह कि मनुष्यों के भीतर चमकता है। इसी लिये यह आत्मा सब में एक है, और सभी आपस में एक हैं।

(४६) यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह ज्योति केवल पशु-पक्षी या मनुष्य के भीतर ही चमकती है, बरन् जिस तरह उनके भीतर चमकती है, उसी तरह देवताओं और पितरों के मनों में भी चमकती है, और उनके द्यौलोक के व्यापार का कारण होती है। और वे सब जो सुरलोक और पितरलोक में हैं, अपने द्यौलोक के व्यापार और उनके फल भोग इसी प्रकाश में पूर्ण करते हैं। इस लिये क्या लौकिक, क्या पारलौकिक, क्या पार्थिव, क्या दिव्य, सब इस में एक हैं।

(४७) अधिक क्या लिखें, प्रजापति के मन में भी यही ज्योति उसी तरह चमकती है, उसी तरह उसके ज्ञानेंद्रियों और उसके सिंहासन को भी प्रकाशित करती है, जिस तरह मनुष्य के मन और मस्तिस्क और इन्द्रियों को प्रकाशित करती है। और जिस तरह मनुष्य के व्यापार इसी ज्योति के प्रकाश में पूर्ण होते हैं, उसी तरह ईश्वर के व्यापार भी इसी प्रदीप में परिपूर्ण होते हैं। और जो मनुष्य की ज्योति है,

वही प्रजापति की ज्योति है; जो मनुष्य का आत्मा है, वही प्रजापति का आत्मा है। इसी की पहचान में ज्ञानी निश्चय कर सकता है कि मैं और प्रजापति एक हूँ।

(४८) यह नहीं गुमान (अनुमान) करना चाहिए कि यदि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त का आत्मा एक है, तो ब्रह्मदत्त के अनुभव यज्ञदत्त के अनुभव क्यों नहीं हो जाते, और देवदत्त के दुख ब्रह्मदत्त के दुख क्यों नहीं हो जाते? वरन् हम सिद्ध कर आए हैं कि यह पवित्र ज्योति ठीक अनुभव स्वरूप है, दुख सुख का भान होना और ज्ञात का विचार ख्याल की गति है। ख्याल में (यह सब गुण) होते अध्यारोप की भाँति इस (ज्योति) में भी कल्पित होते हैं। जिस-जिस ख्याल में ये निश्चय और विचार होते हैं, उसी-उसी ख्याल और दिल में उन्हें यह अनुभव कर लेता है, स्वयं उनसे सम्बन्ध नहीं पाता, वरन् देवदत्त के निश्चय जो देवदत्त के ख्याल के चिह्न हैं, उसी के ख्याल में प्रकाशित करता है, यज्ञदत्त के ख्याल में स्पष्ट नहीं करता; और देवदत्त के निश्चय जो यज्ञदत्त के ख्याल के चिह्न हैं, उसी के ख्याल में प्रकट करता है, देवदत्त के ख्याल में नहीं करता।

(४९) देखो, जब ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त एक कमरे में दीप प्रज्वलित करके अलग-अलग पुस्तकों का अध्ययन करते हैं, तो एक ही दीपक ब्रह्मदत्त की पुस्तक को प्रकाशित करता ब्रह्मदत्त को समझने में सहायता देता है, पर यज्ञदत्त को नहीं; और वही दीपक यज्ञदत्त की पुस्तक को प्रकाशित करता यज्ञदत्त की सहायता करता है, परंतु ब्रह्मदत्त की नहीं। इसी तरह देवदत्त के निश्चय जो देवदत्त के मन में होते हैं, उसी का अहंकार भान करता है, यज्ञदत्त का नहीं, और यज्ञदत्त के निश्चय जो यज्ञदत्त के मन में होते हैं, उसी का

अहंकार भान करता है, देवदत्त का नहीं। यद्यपि ये निश्चय और ज्ञान एक ही आत्मज्योति में समाप्त होते हैं।

(५०) इसी तरह प्रजापति के ज्ञान और विचार (रहस्य) मनुष्य के ज्ञान और विचार नहीं हो जाते, यद्यपि वह भी इसी आत्मज्योति में समाप्त होते हैं; किंतु मनुष्य के ज्ञान प्रजापति के ज्ञान हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रजापति का मन मनुष्यों के मनों से बरन् सब के मनों से वही सम्बन्ध रखता है जो उनका मन उनकी इन्द्रियों से रखता है। जिस तरह आँख का देखना, कान का देखना नहीं हो जाता, और कान का सुनना आँख का सुनना नहीं हो जाता, तो भी आँख का देखा और कान का सुना मन का देखा और सुना हो जाता है। इसी तरह ब्रह्मदत्त का जानना यज्ञदत्त का जानना नहीं हो जाता, और यज्ञदत्त का जानना ब्रह्मदत्त का जानना नहीं हो जाता, किंतु क्या यज्ञदत्त, क्या ब्रह्मदत्त, सब का जानना प्रजापति का जानना हो जाता है।

(५१) जिस तरह आँख का देखना, कान का सुनना और मन का उन्हें जान लेना एक ही ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, और वह प्रकाश उनसे शुद्ध पवित्र रहता है, इसी तरह ब्रह्मदत्त यज्ञदत्त और देवदत्त का जानना प्रजापति का जानना भी इसी ज्योति वा प्रकाश के द्वारा होता है, तो भी यह प्रकाश प्रजापति की समझ से शुद्ध पवित्र रहता है, बरन् उसका भी गवाह और साक्षी उसी तरह रहता है जिस तरह मनुष्यों की समझ का साक्षी और गवाह रहता है।

(५२) जिस तरह आँख का देखना और कान का सुनना और उनकी देखी सुनी समझों को मन का जान लेना, सब का अध्यारोप इसी प्रकाश में होता है, उसी तरह प्रजापति के ज्ञान और समझों का भी अध्यारोप इस में

होता है। उन आरोपणों में यह अपराधी या क़ैदी नहीं हो जाता। इसी हेतु से वह पूर्ण स्वतंत्र असंग आत्मा, और नित्य मुक्त स्वरूप निश्चय होता है।

(५३) यद्यपि अपने स्वरूप में वह पूर्ण स्वतंत्र, अलग और असंग है, तो भी जब कि वह ख्यालों, मनों और इंद्रियों में चमकता है और उन्हें प्रकाशमान करता है, वह भी अपने अंधकार और गुणों से इसे अपराधी बनाते हैं। इस तरह पारस्परिक विद्यमानता के कारण उनके व्यापार आत्मा में कल्पित होते हैं और आत्मा का प्रकाश उनमें कल्पित होता है। बेचारा अनजान इस को न जानता हुआ आत्मा को मनों ख्यालों और इंद्रियों से पृथक नहीं कर सकता। इसलिये उसे देखता हुआ भी नहीं देखता, उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता, उसे जानता हुआ भी नहीं जानता।

(५४) अब यों समझो कि इस प्रकाश में एक अनादि अज्ञान (परदा) रहता है जो अविद्या है। और जब उस में से परदे वा अज्ञान निकलते हैं, तो एक संसार दिखाई देता है। समस्त संसार क्या लोक क्या परलोक इसी के भेद (परदे) हैं। यद्यपि ये परदे बहुत लंबे हैं, तो भी समष्टि रूप से सारे तीन हैं। एक-तो वह परदा है जो इसी को ढाँप लेता है और जिसके कारण यह ज्योति वा प्रकाश छिपा रहता है। दूसरा वह परदा है जिसमें यह छुपा हुआ भी प्रकट हो जाता है। तीसरा वह परदा है जिस से कुछ का कुछ होकर वह दिखाई देता है। उस परदे को जो उसे ढाँप लेता है, तमोगुण बोलते हैं, और उसको जो उसमें निहित कोष को प्रकट करता है सतोगुण कहा करते हैं, वह जो कुछ का कुछ कर दिखलाता है रजोगुण बोलते हैं। और इन

तीनों गुणों की संक्षिप्त अवस्थामें दैवी माया कहते हैं और सर्व-साधारण में इसी परदे वा माया को ईश्वरीय-विधान बोलते हैं, और इसी माया के अध्यारोप से वह ईश्वर शक्तिमान (मायावां) कहलाता है ।

(५५) जब कभी हरएक के कर्म हरएक को भोग देने में तैयार होते हैं, तो इस माया के परदे में क्रिया होती है। और इन परदों (भेदों) की छाँट होती है। सतोगुण की जब पूरी छाँट होती है, तो उसी को हम विद्या बोलते हैं, किंतु दूषित सतोगुण को अविद्या कहा करते हैं। इसलिये कि सतोगुण में वह निहित ज्योति प्रतिबिम्ब रूप से प्रकट होती है, उस प्रकाश की दृष्टि से जो विद्या में पड़ता है और विद्या में उसके कारण जो अभिमान होता है, इसीको ईश्वर कहा करते हैं। और जो प्रकाश अविद्या में पढ़ता है और उसके कारण अविद्यामें अभिमान होता है, उसे जीव बोला करते हैं।

(५६) इसलिये कि विद्या वास्तव में पूर्ण ज्ञान है, और उस अज्ञान से,जो उसे ढाँप लेता है,बिलकुल शुद्ध स्वच्छ होती है, इस आत्मज्योति की पहचान है। इसलिये वह ईश्वर नित्य मुक्त है और सर्वज्ञ भी है। जो कुछ चाहता है, कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञान का मालिक वा स्वामी है।

(५७) किंतु अविद्या वास्तव में दूषित ज्ञान है, क्योंकि तमोगुण से पूरी-पूरी साफ़ नहीं होती, इसलिये वह इस आत्म ज्योति की पहचान नहीं रखती । इसी लिये मनुष्य अविद्या के बंधन में बंधायमान हुआ उल्टा-पुल्टा ध्यान रखता है जो ठीक नहीं है, और वह सर्वज्ञ नहीं होता, वरन् इतना ही कर सकता है जो कि उसके कर्म उसके भोग देने के लिये तैयार होते हैं। इसलिये अशक्त और अज्ञान के बंधन में फँसा हुआ सा होता है।

(५८) और स्पष्ट यह है कि पूर्ण छाँट एक होती है और अपूर्ण छाँट अनेक, इसलिये ईश्वर एक है और जीव अनेक। किंतु अविद्या जो जीव की प्रकाशक है, वास्तव में मनों और प्राणों की आरम्भक है, और परिच्छिन्न मनों और इंद्रियों के जो व्यापार हैं वह जीव में कल्पित हैं, और ख्याल वा मन के कारण जिसकी मूल अविद्या है, उसके कर्मों के भोग के लिये संसार चक्र का उसमें अध्यारोप होता है। जैसा वह करता है वैसा वह पाता है। यही न्याय है, जिस का वह संकेत कर्मकांड में विस्तार पूर्वक हम कर आए हैं।

(५९) कर्म या तो अच्छे होते हैं या बुरे। अच्छे कर्मों के कारण वह देवयान और पितृयान सड़कों के द्वारा ऊर्ध्व-लोकों में जाता है, और द्यौलोक के भोग पाता है। जब वह समाप्त होते हैं, तो कि फिर लौट आता है। इसी तरह कभी ऊपर कभी नीचे चकराता है, जिसे जन्म-मरण संसार चक्र कहते हैं।

(६०) किंतु कर्मों के कारण वह अज्ञान जो अविद्या में है, नहीं छूटता, क्योंकि अविद्या तो विद्या से दूर होती है। जब तक वह विद्या नहीं पाता, चाहे कर्मकांड में वह कुछ भी उन्नति करे, अविद्या नहीं जाती, इसलिये प्रसाद के अभिलाषी इस आत्म ज्योति की पहचान में लगते हैं। जब इसकी पहचान होती है, तो विद्या मिलती है, जिससे अविद्या दूर हो जाती है। और जब अविद्या, जो देह और इंद्रियों की मूल है, दूर होती है, तो उसके अभाव से मृत्यु के पश्चात् वह सब (परदे) दूर हो जाते हैं, और वह विद्या ईश्वर की प्रदर्शक है, इसलिये वह ईश्वर से एक हो जाता है, और द्यौलोक का समस्त साम्राज्य इस पहचान के द्वारा उसे मुफ्त मिलता है।

(६१) तात्पर्य यह कि पवित्र ज्योति स्वरूप आत्मा हर तरह सब से अलग सब रूप है और असंग है, ख्याल वा मन के समान हुआ ध्यान करता-सा और लीला करता सा होता है किंतु वास्तव में न तो वह ध्यान करता है और न लीला करता है। जब निद्रा की दशा में मन वा ख्याल बदलता है, तो सोता सा, जब वह जागृति की दशा में बदलता है, तो जागता सा हो जाता है।

(६२) जब यह मन (अंतः करण) देह से बिलकुल संबंध छोड़ जाता है, तब वह मरता-सा दिखाई देता है। जब यह दूसरे देह में संबंध पाता है, तो वही जन्मता-सा प्रतीत होता है। वास्तव में न तो वह मरता है न जन्मता है, सब इसी ख्याल के भेद हैं, और इसी में व्यापार करते हैं। और सब कल्पित या मनोमय हैं। और उन्हीं कर्मों के भोग के लिये यह (अंतःकरण) प्राणों की तार से बँधा हुआ हृदय कमल में बंदी है, जो पहले जन्म में उसके पांवों की ज़ंजीर होते हैं।

(६२) जब कि कर्मों की ज़ंजीर से प्राणों के तार के कारण वह ख्याल या मन हृदय कमलमें बँधा हुआ है और उस ज्योति का प्रदर्शक है, उसकी दृष्टि से आत्म-ज्योति भी हृदय में बंदी-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह मुक्त है। यही पहचान वास्तवमें भेद की पहचान है। और उस के पाने का स्थान या अवसर यही हृदय या मन है।

चौथा अध्याय।

(१) हमने जो कुछ ऊपर के अध्यायों में लिखा है, कुछ कपोल-कल्पना नहीं वरन् ऋषि-मुनियों के तर्क-वितर्क (वाद) में युक्तियों के साथ सिद्ध हुआ है। क्योंकि स्वयंज्योति

ब्राह्मण * में हम सुनते हैं कि एक बेर याज्ञवल्क्य मुनि योंही राजा जनक के यहाँ जा निकला, तो राजा ने पूछा कि ऐ याज्ञवल्क्य ! मनुष्य की ज्योति क्या है ? उसने कहा कि ऐ राजा ! सूर्य इसकी ज्योति है, क्योंकि उसी के प्रकाश में यह उठता, बाज़ार जाता, अपना व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह सूर्य उससे और उसके व्यापार से अलग असंग रहता है । कहा, ठीक है ।

(२) फिर राजा ने पूछा, जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो उसकी कौन ज्योति होती है ? कहा, ऐ राजा ! चन्द्रमा उसकी ज्योति होती है, क्योंकि चन्द्रमा के प्रकाश में यह उठता, बाज़ार जाता, अपने व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह चन्द्रमा उससे और उसके व्यापार से अलग असंग रहता है । कहा, ठीक है ।

(३) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य अस्त हुआ और चन्द्रमा भी अस्त हुआ हो, तो उसकी ज्योति कौन होती है ? कहा, ऐ राजा ! दीपक उसकी ज्योति होती है । क्योंकि तब दीपक के प्रकाश में वह उठता, बाज़ार जाता, अपने व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह दीपक उससे और उसके व्यापार से अलग असंग रहता है । कहा, ठीक है ।

(४) फिर राजा ने पूछा जहाँ सूर्य भी अस्त हो और चंद्रमा भी अस्त हो और दीपक भी न हो, वहाँ इस की ज्योति क्या है ? कहा, ऐ राजा ! वाणी इस की ज्योति होती है, क्योंकि फिर यह वाणी के प्रकाश में उठता, बाज़ार जाता, अपना व्यापार करता, लौट आता है, और यह वाणी उस से और उस के व्यापार से अलग असंग रहती

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ३

है। देखो, जहाँ कहीं ऐसी अँधेरी रात हो कि जिस में हाथ पसारा भी दिखाई न दे तो जहाँ शब्द सुनता है, वहाँ ही चला जाता है। कहा, ठीक है।

(५) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य भी अस्त हो, चंद्रमा भी अस्त हो, दीपक भी न हो, और वाणी भी न सुनता हो, वहाँ उस की ज्योति क्या होती है? और यह स्पष्ट है कि जब यह स्वप्न में होता है, तो वाणी भी नहीं सुनता। कहा, ऐ राजा! वहाँ उस की आत्मा ज्योति होती है, क्योंकि वह इस आत्म-प्रकाश में उठता, बाज़ार जाता, व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह आत्मा उस से और उस के व्यापार से अलग असंग रहता है, और यह स्पष्ट है कि स्वप्न में भी मनुष्य उसी तरह व्यापार करता है, जैसा जागृति में करता है।

(६) ऐ राजा! सूर्य, चन्द्र, दीपक, वाणी, इस की बाह्य ज्योति हैं, और यह आत्मा उस की आंतरिक ज्योति है। जिस तरह बाह्य व्यापार बाह्य ज्योतियों से वह करता है, उसी तरह आंतरिक व्यापार वह अन्तर-ज्योति में करता है, बरन् बाह्य व्यापार भी बिना इस अन्तर-ज्योति के नहीं होते। बाह्य ज्योतियाँ तो उस की केवल सहायक हैं। और जिस तरह बाह्य ज्योतियाँ मनुष्य से अलग हैं और उस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं, उसी तरह यह आत्म-ज्योति भी मनुष्य से पृथक है और इस के व्यापार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

(७) राजा ने पूछा, महाराज! यह आत्मा कौन-सा है? मुनिजी ने कहा, यह जो ज्ञान-ज्योति ख्याल और इंद्रियों में दिल के भीतर चमकती है, वही अंतर्ज्योति पुरुष है, और यह हृदय में उस तरह केंद्रित है, जिस तरह

दर्पण में मुँह प्रविष्ट होता है। यद्यपि मुँह काँच के भीतर कहा जाता है, परंतु वह वास्तव में उसके भीतर नहीं होता बरन् उससे अलग और असंग होता है, इसी तरह आत्म-ज्योति भी दिल के दर्पण के भीतर झलकती है और फिर दूसरे दर्पणों में जो ख्याल और ज्ञानेंद्रियाँ हैं, क्रमपूर्वक आ जाती है।

(८) मुनिजी ने फिर आपही कहा कि जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता-सा दिखाई देता है, किंतु हिलता नहीं उसी तरह मन की चंचलता से यह ज्योति पुरुष भी हिलता-सा दिखाई देता है, किंतु हिलता नहीं। मन या ख्याल की गतियाँ सब संकल्प विकल्प अर्थात् सोच-विचार रूप हैं, इसलिये आत्मा सोच करनेवालों की तरह होता है, किंतु सोच नहीं करता; ध्यान करता-सा होता है किंतु ध्यान नहीं करता; लीला करता-सा होता है किंतु लीला नहीं करता; बरन् समस्त व्यक्तिगत चेष्टाएँ और अवस्थाएं, जो ख्याल या मन के धर्म हैं, सब आत्म-ज्योति में कल्पित होती हैं।

(६) ऐ राजा! समष्टि रूपसे मनकी दो प्रकार की चेष्टाएं हैं। या तो वह हृदय से फैलता है और मस्तिष्क और इंद्रियों में आ जाता है, उस दशा को सर्व-साधारण जागृति बोलते हैं; या वह संकुचित होता इंद्रियों और मस्तिष्क से लौटता मन के भीतर, जहां वह अपनी जड़ रखता है, चला जाता है, उसे नींद कहा करते हैं। ये जागृत और नींद वास्तव में मनके धर्म हैं, किंतु ज्योति पुरुष न तो फैलता है और न संकुचित होता है, तो भी मनके समान हुआ जागता-सोता निश्चित होता है!

(१०) अब ख्याल या मन जागृत की अवस्था में

बदलता है, तो भान होता कि मैं जागता हूँ। जब यही मन निद्रा की दशा में बदलता है, तो भ्रांति सवार होती है कि मैं सोता हूँ। इस तरह ज्योतिपुरुष मनके समान हुआ जागता सोता-सा होता है। वास्तवमें न वह जागता है, न सोता है, बरन् योंही मनके कारण ये अवस्थायें उसमें कल्पित होती हैं।

(११) ऐ राजा! यह मन पंचभूतों के सतोगुण अंशो से बनाया गया है और अपने कर्मों के भोग के लिये हृदय कमल में क़ैदी हो रहा है। जब जागृति के भोग देने के लिये कर्म तैयार होते हैं,तो वह जाग्रत्की दशामें बदल जाता है;जब स्वप्न के भोग देने को कर्म तैयार होते हैं, तो निद्रा की दशा में बदल जाता है। जब तक वह कर्म समाप्त नहीं होते, इस शरीर से वह संबंध रखता है। यह आत्मज्योति यद्यपि वास्तवमें कर्मोंके बंधन और शारीरिक संबंध से पवित्र है, तो भी यह उनके बंधन में और उनके भोग इसमें निश्चित होते हैं।

(१२) जब ये कर्म समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म भोग देने के लिये तैयार होते हैं, तो यह मन इस शरीर से संबंध छोड़ देता है और नूतन शरीर से जो इन दूसरे कर्मों ने बनाया है, संबंध पा जाता है। इसतरह यह ज्योति पुरुष मनके समान हुआ दोनों लोक में सैर करता है, वास्तव में सैर करने वाला नहीं होता।

(१३) ऐ राजा! अब तू यों समझ कि मनुष्य क्या बाहिर से, क्या भीतर से, जो शरीर और मन और इन्द्रिय हैं, सब कर्मों के बने हुए हैं, और ये कर्म वास्तव में पाप हैं, इस कारण वह भी जो उससे बनाए गए हैं, पाप रूप हैं। और

यह आत्मा उससे असंग होता हुआ भी मन के समान हुआ देह से सम्बन्ध पाकर जन्मता-सा होता है, और पापों से लगा सा दिखाई देता है। और जब मरता-सा हुआ उन्हें छोड़ता है, तो छोड़ता-सा दिखाई देता है।

(१४) इसलिये इस ज्योति पुरुष के दो स्थान होते हैं-एक लोक दूसरा परलोक। इस देह में, जो पाप रूप है, जब तक सम्बन्ध सा पाता है, तो इस लोक में निश्चित होता है; जब इन पापों को छोड़ता है, तो पुण्य रूप पारलौकिक देहों से सम्बन्ध पाकर परलोक में प्रमाणित होता है, किंतु स्वप्न इन दोनों में तीसरा स्थान है, इस मध्य स्थान में आया वह दोनों स्थानों को देखता है।

(१५) स्वप्नावस्था इन दोनों लोकों के बीच में दीवाल-सी है। उसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्य प्रायः इस जाग्रत् के देखे-सुने प्रभावों वा संस्कारों से उसी प्रकार का लोक देखता है जो यहाँ देखा है।

(१६) जब कभी उसके कर्म दूसरे भोग के लिये तैयार होते हैं, तो प्रायः आगामी सूचना के रूप में वे उसकी विद्यमानता स्वप्न में दिखाते हैं। इसी कारण कभी-कभी स्वप्न में विचित्र स्वप्न दिखाई देते हैं जो संसार में देखे या सुने नहीं होते। अतः जैसा वह जाने को तैयार होता है, उन्हीं प्रभाव या संस्कारों को लेकर स्वप्न में दोनों लोकों का परिदर्शन करता है जो पाप रूप और आनन्द रूप हैं। और यही परिदर्शन दोनों स्थानों के लिये यथेष्ट प्रमाण है।

(१७) किंतु जब यह सुषुप्ति में जाता है, तो दोनों स्थानों से निकल जाता है वरन् सब को छोड़ता हुआ भी सब के संस्कार साथ ले जाता है, और दूसरों में अहंता त्याग

कर अपने निजी अहंकार में स्थिर होता है, और उन संस्कारों को समष्टि रूप से एकत्रित देखता हुआ भी उनसे अलग, देखने वाला रहता है। यहाँ यह स्वयं ज्योति होता है।

(१८) देखो वहाँ न तो गाड़ियाँ होती हैं और न गाड़ियों के घोड़े और न उनकी सड़कें, किंतु गाड़ियों और घोड़ों और सड़कों को झटपट उन्हीं संस्कारों से रच लेता है; न वहाँ अभिरुचि होती है, न प्रेम-प्रीति, परन्तु अभिरुचि, प्रेम और प्रीति को भी रच लेता है; न वहाँ बाग़ीचा, न बाग़ीचा में चलती नहरें, और न कोठियाँ होती हैं, किंतु बाग़ीचों और बाग़ीचों में चलती नहरों और कोठियों को रच लेता है। वहाँ यही कर्त्ता-सा होता है।

(१९) किंतु यहाँ भी इस करनी का दोष उन्हीं संस्कारों के कारण होता है, क्योंकि सुषुप्ति में उसका स्वरूप इन संस्कारों से अलग देखनेवाला सिद्ध होता है। इसलिये वह करता हुआ भी नहीं करता, क्योंकि जो गुण स्वाभाविक नहीं होते, वही वस्त्र की तरह उतरते हैं; किंतु वह जो स्वाभाविक गुण होते हैं, कभी नहीं उतरते। चूँकि सब करतूतें दोनों स्थानों या मध्य स्थान में परस्पर विभिन्न होती हैं और सुषुप्ति में वस्त्र की भाँति उससे उतर जाती हैं, इसलिये सब अनात्मा हैं।

(२०) किंतु उसका देखना न तो दोनों स्थानों या मध्य में विभिन्न होता है, न उससे वस्त्र की भाँति उतर जाता है, वरन् केवल उसकी दृष्टि सुषुप्ति में प्रत्यक्ष 'ज्योतिषां ज्योति' ठीक साक्ष्य रूपसे शेष रहती है। यदि वह भी उतर जाती, तो सुषुप्तिकी शहादत (साक्ष्य) कौन देता। इसलिये सिद्ध होता है कि उसका स्वरूप ठीक साक्ष्य स्वरूप, ज्योतियों की ज्योति, अकर्ता, अभोक्ता है, और यही आत्मा है।

(२१) ऐ राजा ! जो धर्म धर्मी से कभी भी अलग न हो, वही उसका स्वरूप है। देखो, दीपक का प्रकाश दीपक से कभी भी उतारा नहीं जाता। इसी कारण से दीपक प्रकाश स्वरूप कहलाता है। आत्मा की दृष्टि भी न तो जाग्रत्, न स्वप्न न सुषुप्ति में उतरती है, इसी कारण हम कह सकते हैं कि आत्मा ठीक सादय स्वरूप, ज्योतियों की ज्योति और असंग है।

(२२) फिर मुनि जी ने कहा, ऐ राजा ! इस विषय में हमारे पास वेद के मंत्र हैं। हम सुनते हैं कि स्वप्न में स्थूल देह को त्यागकर सोता हुआ सोतों को देखता है, और उन्हीं संस्कारों को लेकर फिर स्थानों में आ जाता है। वह जो इन स्थानों में फिरता उनसे अलग है, एक हंस पुरुष है।

(२३) प्राणों से अपने निवासस्थान की रक्षा करता हुआ निवास स्थान से बाहर निकल जाता है, और अमृत को पाता अपनी इच्छा से फिर निवास स्थान में आ जाता है। घर में फिरता एक हंस पुरुष है।

(२४) स्वप्न में यही महान् देव बड़प्पन और खराबी में आया-सा तरह-तरह के रूप करता है, कभी स्त्रियों से प्रीति करता हँसता हुआ लीला करता है, कभी भय देखता है। आह, शोक है कि उसकी लीला को तो स्वप्न में देखते हैं किंतु उसे नहीं देखते।

(२५) चिकित्सक लोग कहते हैं कि सोते को जल्दी नहीं जगाना चाहिए, नहीं तो कोई असाध्यरोग हो जायगा, किंतु यह कारण नहीं जानते कि कदाचित् वह जल्दी से स्थूल देह में न आवे, तो चोले का काम खराब हो जाय। इस प्रकार के वैदिक मंत्रों से स्पष्ट होता है कि वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में फिरता उनसे और उनके व्यापार से

अलग देखने वाला साक्षी पुरुष है। ऐ राजा! इस तरह यहाँ सुषुप्ति में वह स्वयं-ज्योति होता है। तब राजा ने आत्मा की पहचान पाकर कहा, भगवन्! मैं एक हज़ार गाएँ दक्षिणा देता हूँ किंतु मेरी मुक्ति के लिये कुछ अधिक कहिए। राजा को अभी भली भाँति पवित्रात्मा स्पष्ट अनुभव नहीं हुआ, इसलिये फिर अधिक व्याख्या चाहता है।

(२६) मुनिजी ने कहा, देखो, यह आत्मा स्वप्न में भाँति भाँति की लीला करके और पाप-पुण्य देख कर विश्रामावस्था (सुषुप्ति) में जाता है। वहाँ न तो कोई भय है न शोक बरन् अपना निजानंद (विश्राम) पाता है। इसी कारण सुषुप्ति को संस्कृत में संप्रसाद बोलते हैं। क्योंकि यह उसके विश्राम का विशेष स्थान है, यहाँ भली भाँति वह संपन्न और अद्वितीय सिद्ध होता है, बरन् जाना जाता है कि जिस तरह वह दृष्टि स्वरूप है, उसी तरह वह आनन्द स्वरूप भी है। पहले-स्थानों में जो दुःख दर्द और शोक देखता है, मन और ख्यालों के धर्म हैं। यदि उसके अपने धर्म होते, तो यहां किस तरह उससे उतर जाते? जब वह ख्याल और मन के उतरने से साथ ही उतर गए, तो सब वह मन और ख्याल के धर्म हैं, उसके नहीं। जब वह उन स्थानों में मनको और ख्याल को वस्त्र की तरह पहनता है, तो उसके दुःख दर्द और शोक भी उसमें कल्पित होते हैं।

(२७) ऐ राजा! यह पवित्र और आनन्द स्वरूप आत्मा फिर इस विश्रामावस्था से जो संप्रसाद है नियम पूर्वक विधि के अनुसार स्वप्न के लिये निकलता है, और जो कुछ वहाँ देखता है, उससे निर्लिप्त होता है, क्योंकि वह असंग पुरुष है। प्रकाश का अंधकार के साथ क्या संबंध, आनंद का दुख से क्या संबंध, बेपरवाह को भय से क्या

जाता, देखनेवाले को दिखाई देनेवाले से क्या बिगाड़ है, गवाह को मामले से क्या। राजा ने कहा, ठीक है, मैं एक हज़ार गाएँ दक्षिणा में देता हूँ, अभी और कहिए जिस से मुक्ति पाऊँ।

(२८) ऐ राजा! यह पवित्र और आनन्द स्वरूप साक्षी आत्मा इस स्वप्न में भी लीला करता-सा और विलास करता-सा, पुण्य-पाप को देखता हुआ, फिर उसी नियम और विधि से जाग्रत् के लिये निकलता है। जो कुछ वहाँ देखता है, उससे निर्लिप्त निकलता है, क्योंकि वह असंग और विमल पुरुष है। राजा ने कहा, ठीक है, एक हज़ार गाएँ और दक्षिणा में देता हूँ। अभी और कहिए जिससे मैं मुक्ति पाऊँ।

(२९) ए राजा! यह आत्मा पवित्र, सब व्यापारों का साक्षी, स्वयं आनंद स्वरूप, इस जाग्रत में भी लीला करता-सा, विलास करता-सा, पुण्य और पाप को देखता उसी नियम और विधि से फिर स्वप्न में चला जाता है। जो कुछ जाग्रत् में देखता है, उससे भी निर्लिप्त जाता है। जिस तरह जलपक्षी भी पानी में कभी डुबकी मारता है और कभी उड़ जाता है, किंतु पानी से भीग नहीं जाता; इसी तरह यह आत्मा भी तीनों स्थानों में फिरता जो कुछ वहाँ देखता है, उससे मलिन (लिप्त) नहीं होता, वरन् ज्यों का त्यों शुद्ध पवित्र निकलता है।

(३०) फिर कहा, तीनों स्थानों में यह ज्योति पुरुष इस तरह निर्भय हुआ फिरता है जिस तरह एक बड़ा मच्छ अगाध समुद्र में कभी दहिने कभी बाएँ फिरता है। यद्यपि बड़े-बड़े भयानक तूफान उठते हैं, पर उस मच्छ को कुछ भी हानि नहीं दे सकते; न तो वह मच्छ उनसे डरता है

और न उनसे भीगता है। इसी तरह यह आत्मदेव भी जाग्रत् स्वप्न में फिरता है और उनका दर्शक होता है, वहाँ के पुण्य-पाप कुछ भी उस पर प्रभाव नहीं डालते।

(३१) फिर जब यह मच्छ आराम करना चाहता है, तो उस (समुद्र) के नीचे चला जाता है और आराम से सोता है। इसी तरह यह आत्मा भी जाग्रत् और स्वप्न की सैर करके तीसरे स्थान में जो उसका विशेष आनंद है आराम करता है। जहाँ न कुछ स्वप्न देखता है और न कुछ बाहर की खबरें होती हैं।

(३२) फिर कहा, राजा! यह आत्मा एक बलवान् पक्षी (शाहबाज़) है. जैसा वह महान् आकाश में निर्भय उड़ता और सैर करता है और फिर अपने परों को लपेट कर अपने मुख्य घर में जाकर आराम करता है, इसी तरह यह आत्मदेव भी जाग्रत्, स्वप्न में सैर करके क्या मन, क्या ख्याल, क्या इंद्रियाँ सबको, बरन् उससे भी जो बाहर है, लपेट कर अपने विशेष आनंद में, जो संप्रसाद है, आराम करता है; यहाँ न तो कोई काम है और न कोई स्वप्न।

(३३) ऐ राजा! जबकि इस संप्रसाद में वह स्वरूप से बेपरवाह, आनन्दरूप और साक्षात्कार रूप सिद्ध होता है, तो स्वप्न में जो उसे भय, शोक, आनंद और हास विलास होते हैं, वह मन और ख्याल की दृष्टि से कल्पित होते हैं। जैसे मच्छ भी बड़े समुद्र की लहरों में आप्लावित प्रतीत होता है, किंतु मच्छ जानता है कि मुझे यह तूफान क्या कर सकते हैं, क्या नूह का तूफ़ान यदि संसार को संहार करे, तो करे, किंतु छोटी-सी मछली या बतख के बच्चे को क्या भय है; जहाँ तक ऊँचा हो, हो, मछली या बतख का बच्चा तो उसके शिर पर तैरता है।

(३४) संसार और परलोक के हर्ष-शोक या मृत्यु-जीवन के तूफान मन के संबंध में हों तो हों, पर साक्षी चेतन को जो उन्हें देखता है, क्या भय है। वह तो जहाँ मन जाता है और ज्यों-ज्यों हर्ष और शोक में आकार पाता है, उसमें उसी तरह चमकता हुआ तैरता है जैसा कि नूह के तूफ़ान में मच्छ-अवतार तैरता था।

(३५) ए राजा! दुख शोक या हर्ष आनंद तुझे नहीं होते, वरन् तेरे अहंकार को होते हैं, और तेरा अहंकार भी एक उसी ख्याल वा मन की लहर विशेष है। जिस तरह तूफ़ान में भी विशेष तरंग उठती थी जो भगवान् मच्छ अवतार के आकार थी और उसके चारों ओर परिव्रत थी, यदि दूसरी तरंग इस बड़ी तरंग को निम्नतर करें तो करें, यदि उस में बाहुल्यता करें, तो करें, मच्छ को क्या। इसी तरह अहंकार भी तेरे ख्याल की एक बड़ी तरंग है, जो तुझे अभिमान से संबंध विशेष कराने की मुख्य कारण है। यदि दुख रूप तरंगें उसे पीड़ा दें, तो दें, यदि सुखाकार तरंगें उसके अनुकूल हों, तो हों, तुझे क्या।

(३६) ऐ राजा! अपने अहंकार को अनात्म ख्याल की वृत्ति जानकर अपने आत्मबल से जो विवेक कर दिखा दिया है, तू अलग हो। यह दुःख और सुख आत्मा के धर्म नहीं, अहंकार के धर्म हैं; और अहंकार तो वस्त्र की तरह संप्रसाद में तुम से उतर जाता है, फिर क्यों उसे पहन कर उस के हर्ष-शोक को अपने में मानते हो? बुद्धिमान् जानते हैं, यदि वस्त्र लाल है तो हम लाल नहीं हो जाते, यदि वस्त्र काला है, तो हम काले नहीं हो जाते। यदि अहंकार भी दुख शोक पाता है, तो तुझे क्या, यदि पुण्य-पाप से मलिन होता है, तो तुम्हें पुण्यवान् या पापी नहीं करता।

(३७) ऐ राजा ! तू जाग्रत् और स्वप्न में पराए पापों से पापी, पराई भूख-प्यास से भूखा-प्यासा, और पराए जीवन-मृत्यु से जीता-मरता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि पराए पापों से कोई पापी नहीं हो जाता, दूसरों की भूख से अन्य भूखा नहीं हो जाता; और ख्याल के जीने और मरने से आत्मा मरता या जन्मता भी नहीं। यह सब इस में ख्याल और देह के सम्बन्ध के कारण से हैं, और इस का सम्बन्ध निरा भ्रांति पूर्ण है, फिर क्यों उस के धर्मों को अपने में भ्रम से मानते हो?

(३८) ऐ राजा ! जब कि यह आप असंग है, तो ख्याल के कारण इस में पराए धर्म प्रकट होते हैं। और जब स्वप्न में इस को शत्रु और चोर बाँधते और मारते हैं, या कोई हाथी पीछे पड़ता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मारा और गढ़े में गिरा; और ऐसे ही यहाँ जब जाग्रत् के ख्याल देखता है और अविद्या के कारण उन्हें सचमुच जानता है, अन्यथा झूठ मूठ दिखावा ही है। पर यदि वहाँ विचार करे और राजा और देवता की तरह जान लेवे कि जो कुछ यह है वह सब "मैं ही हूँ", तो यही सच है और यही इस का परम धाम है।

(३९) ऐ राजा ! स्वप्न में यदि शत्रु ने बाँध लिया, या चोर ने मारा, या हाथी ने गढ़े में गिरा दिया, तो यह भी भ्रांतिमय प्रतीतियाँ हैं। यदि इस के विरुद्ध ज्ञात हो गया कि यह सब संकल्प मात्र हैं, और मैं इन सब का आत्मा हूँ, और यह अभिनय है, मैं दर्शक हूँ; तो यह भी एक भ्रांतिमय प्रतीति है। तो भी वह पहली प्रतीतियाँ झूठी और दुःख की कारण हैं, और यह दूसरी प्रतीति उस के विरुद्ध ज्ञान और सत्यता पर है और सुख का कारण है। इसी कारण

विद्या इस का परम धाम है और अविद्या इस का महान् नरक है। यद्यपि विद्या और अविद्या भी उस का निजी गुण नहीं हैं, तो भी अविद्या गई, तो फिर परम कल्याण है।

(४०) विद्या और अविद्या से अलग जो उस का स्वरूप है, वह तो संप्रसाद में अपने आप दिन-रात सिद्ध होता है, और यहाँ संप्रसाद में वेदों से भी परे हो जाता है। जब वेदों से परे हो जाता है, तो पापों से भी परे हो जाता है, वरन् निर्भय और बेपरवाह हो जाता है। यही उस का असली स्वरूप है।

(४१) यह न मान लेना चाहिए कि संप्रसाद में न तो वह कुछ देखता है, न सुनता है, बरन् बे खबर होता है, इस लिये वहाँ अविद्या या बे खबरी उस में होती है। क्योंकि जैसे कोई उन्मत (शराबी) अपने प्रेम-पात्र को बग़ल में लिए अति प्रसन्न हुआ न तो कुछ घर की और न बाहर की खबर रखता है, ऐसे ही यह आत्मा भी अपने विशेष विश्राम में जो उस का निजी विश्राम है, न तो अपनी खबर रखता है न अन्य की; तो भी उस की निजी दृष्टि लोप नहीं हो जाती।

(४२) और यही रूप उसका अपना है। क्योंकि सब मनोरथ यहाँ प्राप्त हैं, और यहाँ सिवाय अपने आप के उसे दूसरे की चाह नहीं; और उसका यही रूप बिना लोभ और इच्छा के है। यहाँ पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, संसार संसार नहीं रहता, वेद वेद नहीं रहता, बरन् यहाँ चोर चोर नहीं रहता, खूनी खूनी नहीं रहता, चंडाल चंडाल नहीं रहता, थका थका नहीं रहता, रोगी रोगी नहीं रहता, क्योंकि पुण्यों से जैसे अलेप होता है, वैसा ही पापों से भी अलेप होता है। यहाँ ही यह मनके सारे दुख-शोकों से तिर जाता है, और

यही स्वरूप उस का संसार-समुद्र का तैराने वाला है।

(४३) ऐ राजा! पिता तो वह तब हो, जब वहाँ कोई उस का पुत्र हो; और माता भी तब हो, जब कोई वहाँ उस का बच्चा हो। वहाँ कोई दूसरा नहीं जो उस का पुत्र समझा जाय। इस लिये न तो पिता है न माता है। और इसी तरह कोई संसार नहीं, क्योंकि न तो लोक है न परलोक; और न वहाँ वेद हैं जो लोक और परलोक के फल बतलाएँ। जब वेद नहीं, तो धर्म और अधर्म भी वहाँ नहीं। वरन् क्या चांडाल, क्या ब्राह्मण, क्या हंता क्या हन्य, क्या राजा क्या रंक, सब यहाँ एक होते हैं, और यही रूप उस का कैवल्य वा अद्वितीय है, जिसे पाते अमृत होते हैं।

(४४) जब कि वहाँ सिवाय अपने स्वरूप के कोई दूसरा उस के साथ नहीं, तो अविद्या भी वहां नहीं है। क्योंकि वह भी अन्य है और अन्य की वहाँ गति नहीं। किन्तु वह जो वहाँ देखता नहीं, वह तो देखता हुआ नहीं देखता, क्योंकि उस की दृष्टि का लोप तो संभव नहीं, इस लिये कि वह नित्य है। किन्तु वहाँ उस से भिन्न कोई दूसरा नहीं जिसे देखे।

(४५) फिर चूँकि वहाँ वह सूँघता नहीं, तो वास्तव में सूँघता हुआ नहीं सूँघता, क्योंकि उस की सूँघ का लोप सम्भव नहीं, इस लिये कि वह नित्य है। किन्तु वहाँ उस से कोई भिन्न नहीं जिसे सूँघे।

(४६) फिर चूँकि वहाँ वह आनन्द नहीं लेता, तो वास्तव में आनन्द लेता हुआ नहीं लेता, क्योंकि उस के आनन्द का लोप सम्भव नहीं, इस लिये कि वह नित्य है। किन्तु वहाँ कोई अपने से भिन्न आनन्द नहीं जिसे पावे।

(४७) फिर इस लिये कि वहां कुछ कहता नहीं, तो

वास्तव में कहता हुआ नहीं कहता, क्योंकि उसकी वाणी का लोप संभव नहीं, इसलिये कि वह नित्य है। किन्तु वहाँ उससे पृथक कोई अन्य नहीं जिसके साथ बोले।

(४८) फिर इसलिये कि वहाँ कुछ सुनता नहीं, तो वास्तव में सुनता हुआ नहीं सुनता, क्योंकि उसके सुनने का लोप संभव नहीं, इसलिये कि वह अविनाशी है। किंतु वहाँ उससे पृथक कोई नहीं जिसे सुने।

(४९) फिर इसलिये कि वहाँ कुछ सोचता नहीं, तो वास्तव में सोचता हुआ नहीं सोचता, क्योंकि उसके सोच का लोप संभव नहीं, इसलिये कि वह अविनाशी है। किंतु वहाँ उससे पृथक कोई सोचनीय नहीं जिसे सोचे।

(५०) फिर इसलिये कि वहाँ कुछ छूता नहीं, तो वास्तव में छूता हुआ नहीं छूता क्योंकि उसकी छूतका लोप संभव नहीं, इसलिये कि वह नित्य है। किंतु वहाँ उससे पृथक कोई छूत के योग्य नहीं जिसे छुए।

(५१) फिर इसलिये कि वहाँ कुछ जानता नहीं, तो वास्तव में जानता हुआ नहीं जानता। क्योंकि उसके ज्ञान का लोप संभव नहीं, इसलिये कि वह नित्य है। किंतु वहाँ उससे अलग कोई जानने योग्य नहीं जिसे जाने।

(५२) हे राजन्! वह तो ठीक ज्ञानस्वरूप है, दूसरा कोई ज्ञातव्य नहीं जिसे जाने। वह तो स्वयं नेत्रस्वरूप है, दूसरा कोई दिखाई देनेवाला नहीं जिसे वह देखे। वह तो स्वयं घ्राण-स्वरूप है, दूसरा कोई गंध नहीं जिसे वह सूँघे, वह तो स्वयं रसना स्वरूप है, दूसरा कोई रस नहीं जिसका स्वाद ले। वह तो स्वयं शब्द स्वरूप है, दूसरा कोई सुनाई देने वाला नहीं जिसे सुने। वह तो स्वयं चिंता स्वरूप है, दूसरा कोई चिन्तनीय नहीं जिसका चिंतन करे। वह तो स्वयं स्पर्श स्वरूप है,

दूसरा कोई शीतोष्ण नहीं, जिसे स्पर्श करे।

(५३) जब कि एक अकेला ज्ञान स्वरूप, आनंद स्वरूप, सत स्वरूप रहता है, तो किसे वह जाने? किसे आनंद वाला विचार करे? वह तो क्या इंद्रिय, क्या ख्याल, क्या मन, सब से पार अलग जा रहा है, और पाप-पुण्य भी जो उन्हीं के धर्म हैं, उनसे भी तिर गया है; कहां अविद्या, कहां विद्या, दोनों से पार और दोनों से श्रेष्ठ है। और देख, वह तू ही है, क्योंकि तू निश्चय करता है कि मैं संप्रसाद में था।

(५४) किंतु जहां यह अद्वैत द्वैत की तरह होता है, तो वहां पर दूसरा दूसरों को देखता है, दूसरा दूसरों को सूंघता है, दूसरा दूसरों का स्वाद लेता है, दूसरा दूसरों से बोलता है, दूसरा दूसरों को सुनता है, दूसरा दूसरों को सोचता है, दूसरा दूसरों को छूता है, दूसरा दूसरों को जानता है।

(५५) हे राजन्! जब यह अद्वैत द्वैत होता है, तो आँख और रूप होता देखता सा होता है, और नाक तथा गंध होता सूँघता सा होता है, रसना और स्वाद होता स्वाद लेता सा होता है, वाक् और वाणी होता बोलता सा होता है, कान और शब्द होता सुनता सा होता है, सोच और विचार होता सोचता सा होता है, स्पर्श और शीतोष्णता होता छूता सा होता है ।

(५६) हे राजन्। वह एकत्व और यह अनेकत्व दोनों उस के कमाल (परिपूर्णता) है, किंतु वह एकत्व तो उसका सच्चा कमाल है और यह अनेकत्व असत्य या मिथ्या है। और इस अनेकत्व में या तो अविद्या कारण है या विद्या। जहाँ अविद्या कारण है, वहाँ तो वह परिच्छिन्न, दुखशोक पाता-सा उठता है; जहाँ विद्या कारण है, वहाँ सर्वरूप, ऐश्वर्यवान् उठता है।

(५७) जहाँ परिच्छिन्न उठता है वहाँ अपने कर्मों के फल में बन्धा सा दिखाई है, कहीं मार खाता है, कहीं आनंद करता है, कहीं चाहता है कि मिले, पर नहीं मिलता; कहीं माँगता है कि देखे, पर नहीं देखता; ख्याल होता है कि प्रारब्ध साथ नहीं देती; किंतु जहाँ चाहता है और मिल भी जाता है, तो जाना जाता है कि प्रारब्ध साथ देती है। इस तरह अविद्या और प्रारब्ध और काम में बँधा हुआ संसार चक्र में चकराता है।

(५८) किंतु जहां विद्या के कारण सर्वरूप उठता है, वहां जो चाहता है, पाता है, जिसकी कामना करता है, मिल जाता है। संकल्पसे धरती और आकाश उत्पन्न हो जाते हैं। संकल्प से भोग भोक्ता उठते हैं, और सर्व स्वरूप हुआ सर्व में भोक्ता होता है। किंतु दुखों का आधार (बिछोना) होता है, भोक्ता तो नहीं होता; तो कहा जाता है कि अपने कर्मों का क़ैदी नहीं बरन् सर्वशक्तिमान् है। इस लिये अशक्तता और आवश्यक्ता (न्यूनता) अविद्या के कारण उसमें आरोपित होते हैं, और यह शक्तिमत्ता और कमाल विद्या के कारण आ जाते हैं, किंतु वास्तव में दोनों अपने से अन्य वा भिन्न हैं, और उनमें यही आत्मा अकेला (अद्वैत) है।

(५९) जो कोई अपनी इस एकता को जानता है और इस तरह का विवेक पाता है कि "मैं संप्रसाद में अपनी एकता देखता हूँ, और अनेकता में भी आया दूसरों के धर्मों से धर्म वाला होता हूँ, किंतु उनसे संग नहीं पाता, जैसा कि स्वप्न में दिखलाया गया है;" तो इसी विद्या के कारण यहां तो नियत समय तक दुख पाता हुआ भी नहीं पाता, किंतु मृत्यु के पश्चात् सुख पाता हुआ भी पा जाता है, और कर्म-बंधन से निकल जाता है। इसलिये इस ज्ञान पर यह

दूसरा मिथ्या कमाल मुफ्त में मिल जाता है। यही प्रसाद है और चूँकि यह न्याय से नियत हुआ है, इसलिये न्याय और प्रसाद में झगड़ा नहीं होता।

(६०) हे राजन्, जबकि अपना निजी कमाल संप्रसाद में जान लिया कि "आनंद स्वरूप मैं हूँ," तब जाग्रत् और स्वप्न में ख्याल और प्रारब्ध के कारण यदि कुछ दुखों की प्रतीति भी होती है, तो होते हुए भी नहीं होती। और जबकि मृत्यु के बाद माया के कारण दुःख दर्द तो नहीं बरन् सत्य संकल्प और सत्य काम आदिक मिलते हैं, तो यद्यपि उसके स्वरूप में सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि नहीं, तो भी नहीं हुये मिल जाते हैं, और उस पहली अवस्था को नक़्द मुक्ति और दूसरी को मुफ्त मुक्ति बोलते हैं। नक़्द मुक्ति को जीवन मुक्ति और मुफ्त मुक्ति को कैवल्य मुक्ति कहते हैं। क्योंकि जो केवल ज्ञान से मिलती है, वही कैवल्य है। इसलिये कि कर्मों और तपों की यहाँ आवश्यकता नहीं, इसी कारण से मुफ्त है। और वह पहचान यही है कि "जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में एक अकेला फिरता असंग है, और क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, और क्या सुषुप्ति, सब दूसरे हैं, और एक अकेला दूसरों में आया भी दूसरा नहीं हो जाता।

(६१) बरन् अकेला शुद्ध द्रष्टा, जहाँ द्वैत की गति नहीं, अपने आप संप्रसाद में होता है, और यही उसकी परमगति है, और यही उसका परम कमाल है, और यही उसका परम लोक है, और यही उसका परमानन्द है, और इसी परमानन्द के बिंदुओं (drops) से सब जीवन पाते हैं। क्या च्यूँटी, क्या प्रजापति, इसी परमानन्द के विवरण हैं, जो तेरा अपना आप है।" इस तरह याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को भली भाँति उपदेश किया।

(६२) हे राजन्! यही संप्रसाद रूप तेरा आत्मा जब दो-सा-हुआ च्यूँटी में उठता है, तो च्यूँटी रूप होता च्यूँटी, हाथी में हाथी, मनुष्य में मनुष्य, देवता में देवता, प्रजापति में प्रजापति, और खुदाई में खुदा होता है, और इसी के आनन्द उनके मनों में प्रतिबिंबित होते न्यूनाधिक होते हैं, जैसे एक ही मुख आरसी में छोटा और दर्पण में बड़ा दिखाई देता है, किंतु क्या बड़ा और क्या छोटा, सब के सब एक ही मुख के प्रतिबिंब हैं, इसी तरह क्या च्यूँटी, क्या प्रजापति, सबके आनंद इसी के प्रकाश हैं, यही सबके आनंदों की कान है। जिसे आनंदों की कान अपने आप प्राप्त हो, कब चाहता है कि मैं उसके अल्प प्रकाश की खोज करूँ।

(६३) च्यूँटी में छोटा मन और मलिन ख्याल है; वहाँ, यदि छोटा और दोष-पूर्ण आनंद का प्रकाश है, तो दोष च्यूँटी के मन का है। और प्रजापति में विशाल मन और शुद्ध सतोगुण मात्र है, और उस में यदि पूर्ण आनंद का प्रकाश है, तो प्रजापति के मन का कमाल है; किंतु बिम्ब में जो ठीक आनंद स्वरूप और पूर्णात्मा है, कुछ दोष नहीं, और न कमाल है, वरन् जैसे का जैसा और वैसे का वैसा क्या च्यूँटी और क्या प्रजापति सब में एक अकेला अद्वैत स्वरूप है।

(६४) वह तो प्रत्येक पराये (द्वैत) में एक-सी सज-धज का एक अकेला (अद्वैत) है। उसकी लटक तो प्रत्येक दृश्य में ज्ञानियों को मनोहर दिखाई देती है। जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि जाती है, द्वैत में अद्वैत को देखते हैं, या पराये में अपना देखते हैं। जिनको यह अद्वैतानन्द (या आनन्द स्वरूप, मिलता है, फिर वह दूसरे के आनंद (या द्वैतानन्द) की चाह नहीं करते। क्या वैकुंठ क्या देवलोक सब के आनंद अन्य के हैं। कौन बुद्धिमान् है कि दूसरे की

कामना करे, क्योंकि दूसरा अनंतकाल तक अपने पास नहीं रहता, किंतु अद्वैत तो एक है और एक से एक प्रथक नहीं होता। वही परमानंद है, और वही अनंत है, और वह तुझे सदैव प्राप्त है।

(६५) दूसरों में जो आनंद है, वे प्रकट होने के स्थानों की अपेक्षा से न्यूनाधिक होकर अनुभूत होते हैं, पूर्ण नहीं होते। जैसे * एक मनुष्य का जो मुख्य आनंद है, वह वही है जो एक नव-युवक, विद्वान्, बुद्धिमान, स्वस्थ और समस्त संसार के चक्रवर्ती राजा का आनंद है।

(६६) किंतु यदि मनुष्य के इस विशेष आनंद को सौगुना किया जाय, तो एक अग्निष्वात्ता पितरों का विशेष आनंद होता है। और उसका सौगुना जित लोकके पितरोंका विशेष आनंद है। और उनका सौगुना गंधर्वोंका विशेप आनंद है, और उनका सौगुना एक बनावटी देवता अर्थात् कर्म देव का आनंद होता है, और उसका सौगुना एक आजन्म देवता का विशेष आनंद है, और उसका सौगुना एक प्रजापति का विशेष आनंद है; और उसका सौगुना एक ब्रह्मलोक का विशेष आनंद है, जिससे बढ़कर कोई विशेष आनंद नहीं।

(६७) हे राजन्! इन विशेष आनंदों में भी बंधन है। मनुष्यों का आनंद यद्यपि पितरों में सम्मिलित है, किंतु मनुष्य पितरों का आनंद नहीं पा सकते। और पितरों का आनंद यद्यपि जितलोक के पितरों में सम्मिलित है, किंतु बनावटी पितर उनका आनंद नहीं पा सकते। इसी तरह प्रजापति और ब्रह्मलोक तक यही हाल है कि नीचे की श्रेणी

* देखो बृहदारणयकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ मंत्र ३३ और यही वर्णन तैत्तिरी उप-निषद् ब्रह्मावल्ली आठवें अनुवाक में भी है।

का आनंद तो ऊपर की श्रेणी में प्राप्त है परंतु ऊपर का आनंद निचली श्रेणी-वालों को नहीं, यद्यपि उसकी कामना और अभिलाषा करते हैं। सुतरां सबसे ऊपर के लोक में जो कुछ चाहो, मिल जाता है, इसी कारण बड़ा है।

(६८) तो भी उसमें पहले इच्छा है और फिर पाता है। जब मिला तो आनंद है, जब न मिला, तो यही दुख है। किंतु अभिलाषा में तत्काल नहीं पाया जाता, बरन् दूसरे क्षण में मिलता है, तो पहले क्षण में दुख और दूसरे में आनंद है। यद्यपि प्रत्येक क्षणमें आनँद प्राप्ति के कारण दुख दूर होता है, तो भी दुखशोक से रहित नहीं।

(६९) उसका कारण यह है कि जब कामना होती है, तो उस कामना के कारण इस आनंद-रूप आत्मा में एक जुदा दुख होता है। परंतु जब अभिलाषित पदार्थ मिल जाता है, तो कामना शांत हो जाती है और वही अपना ठीक आत्मानंद प्रकट होता है। अज्ञान मनुष्य समझता है कि यह आनंद मुझे कामना किए हुए पदार्थ से मिला, किंतु आनंद तो प्रथम ही प्राप्त था, कामना के कारण दुख में छुप गया था। जब अभिलाषित पदार्थ मिला, तो जुदा दुख जाता रहा जिस में अपना आनंद दुःख सा हो गया था, और अब वही आनन्द प्राप्त-सा ज्ञात होता है। इस प्रकार जो आनंद अभिलाषित पदार्थ से मिलता है, विशेष अर्थात् परिच्छिन्न आनंद है, यद्यपि ब्रह्मलोक में है, किंतु संप्रसाद में जो आनंद है बिना कामना के प्राप्त होता है, इसलिये परिच्छिन्न नहीं किंतु अपरिच्छिन्न वा अनन्त है।

(७०) परन्तु वह जो अपने परमानंद को संप्रसाद में सिद्ध करते और जानते है, वे जाग्रत् और स्वप्न में अभिलाषित पदार्थों को भी अपना आप देखते हुए इसकी

कामना नहीं करते, क्योंकि कामना अपने से भिन्न की होती है, अपने आप की नहीं। जबकि कामना नहीं, तो दुख नहीं। जबकि दुख नहीं, तो आनंद प्रत्येकक्षण में प्राप्त है, किसी क्षण में छिपता नहीं। वही पूर्ण है, वही अपना है, वही नित्य है।

(७१) हे राजन्! तू प्रत्येक विशेष आनंद को इस पूर्ण आनंद से जाँच कर देख ले। छोटे से बड़े तक, मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोक तक, प्रत्येक का आनंद पूर्णानंद के भीतर सम्मिलित है। क्योंकि वह जो कामना करता है और पाता है उसी के समान होता है जो नहीं चाहता और नहीं पाता। जैसे जिसे प्यास है, यदि पानी पाता है, तो उसी के अनुसार होता है कि जिसे प्यास नहीं और पानी नहीं पाता।

(७२) कल्पना करो कि मनुष्यसंसार में चक्रवर्ती राज्य माँगता है; यदि उसे मिले तो उसी के समान है जो उसे नहीं चाहता, बरन् मिले भी तो नहीं लेता। इसी कारण रोम का सम्राट् सिकंदर और भारत का ज्ञानी परमहंस एक समान हैं। वह तो न मिलने में कष्ट मानता है, यह मिलने में बखेड़ा जानता है। इसमें भी समान हैं।

(७३) फिर मनुष्य यद्यपि पितरों के आनंद माँगता है, किंतु नहीं मिलते, और पितर भी कामना करते हैं, पर पाने में उसी के समान हैं जो पितरों के भोग नहीं माँगता और नहीं पाता, बरन् मिल जाँय तो बखेड़ा देखता है। इसलिये भारत का परमहंस और पितृलोक के पितर एक समान हैं।

(७४) इसी तरह क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा तक जो-जो भोग हैं, वह तो उनकी कामना करके पाते हैं और यह परमहंस उनकी कामना नहीं करता और नहीं पाता, बरन् मिल जाय, तो घबराता है। इसलिये क्या प्रजापति और क्या ब्रह्मा, सब भारत के परमहंस के समान हैं।

(७५) इन बातों से ज्ञात होता है कि यह अनन्त आनंद जो आत्मानंद है, अपने आप प्रत्येक को सदैव प्राप्त है; और यही अपना है, किंतु अपने से भिन्न की कामना में, भिन्न वस्तु की प्राप्ति में, प्रत्येक को प्रतीत होता है। और वह जो नहीं पाते दुखी होते हैं। परन्तु वह जो अपने की कामना करता है, अपने से भिन्न की कामना नहीं करता, उसे सदा मिलता है। और वह जो इसे जानता है, विना कामना और इच्छा किए पाता है, नित्य आनंद में है, जिसका आदि या अंत नहीं। इस लिये आत्माकी पहचान वास्तव में परमानंद का कारण है। इसमें कोई कर्म आवश्यक नहीं, कर्म तो भिन्न वस्तु की प्राप्ति में होता है, अपनी में नहीं होता। और यही परमहंस लोग वास्तव में निर्लोभी हैं, अन्यथा च्यूँटी से ले ब्रह्मा तक लालची निश्चित होते हैं। और लालच ही समस्त दुख-शोक का कारण है।

(७६) हे राजन्! तात्पर्य यह है कि जब अपना आप लालच में आता है, तो भिन्न हो जाता है। आप ही कामना वाला है और आपही काम्य वस्तु होता है, और अविद्या के कारण नहीं जानता कि "मैं ही कामनावाला, मैं ही कामना, मैं ही काम्य वस्तु हूँ।" वरन् अपने से भिन्न हुआ भिन्न को माँगता, है और वह कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता। जब मिलता है, तो आनंद होता है, जब नहीं मिलता, तो दुख होता है, और प्रयत्न करता है कि पाये। यही कर्म हैं। इस तरह कर्मों में आकर कर्मों का दास हो जाता है, और कर्मों के बंधन में बंदी हुआ च्यूँटीसे ब्रह्मलोक तक चक्कर लगाता है। वहाँ सत्य संकल्प हुआ जो चाहता है पाता है। किंतु वहां भी लोभ से रहित नहीं है, और लोभ अन्तमें नाशमान् है, इसीलिये उसका भोग अपने से भिन्न और नाशमान है, और

यह जो निजानंद है, नाशमान् नहीं, बरन् नित्य है। ऐसा याज्ञवाल्क्य ने कहा।

(७७) तब राजा ने कहा, भगवन् मैं हज़ार गौएँ और देता हूँ; अभी कुछ और कहिए जिससे मैं मुक्ति पाऊँ। यहाँ याज्ञवल्क्य जी कुछ रुक कर सोचने लगे कि राजा बुद्धिमान् है, मेरा सब ज्ञान चाहता है। इसलिये कि योग्य शिष्य है, इसे देना चाहिए।

(७८) इस रुकने के पश्चात् याज्ञवल्क्य जी ने कहा, हे राजन्! जिस तरह यह अपना आप जाग्रत् स्वप्न में नियम और विधान के अनुसार आता-जाता है, इसी तरह मृत्यु में इस शरीर से निकलता दूसरे शरीर में जीवन के लिये आ जाता है, और संसारी कहलाता है, वास्तव में असंग और असंसारी है।

(७९) जिस तरह स्वप्न और जाग्रत् मन के कारण इस (अपने आप) में आरोपित होते हैं, उसी तरह जन्म और मरण भी मन और प्राण के कारण इसमें कल्पित होते हैं। वास्तव में न तो वह जागता है, न सोता है, और न वह मरता, न जन्म लेता है।

(८०) यदि इस सूक्ष्म रहस्य के मालूम करने की जिज्ञासा है, तो तुझे एक उदाहरण से सहज ही समझ में आ जायगा, वह यह है कि जिस तरह एक यात्री परदेश जाता है, इसी तरह यह भी परलोक को जाता है। जिस तरह यात्री चलता हुआ अपना सामान क्या चक्की, क्या ओखली, क्या मूसल, क्या छलनी, क्या सूत, क्या बर्तन, क्या खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ, सबकी सब अर्थात् संदूक और पिटारियों में बन्द करके एक छकड़े पर लादता है; इसी तरह यह जीवात्मा भी अपनी अगली-पिछली करतूतों, और

अगले-पिछले विचार और उनके साधनों अर्थात् आँख, नाक, कान, रसना और मन सबको बंद करके उदानप्राण-रूप छकड़े में लादता और चल देता है।

(८१) जिस तरह यात्री का लदा हुआ छकड़ा सूर्य, चंद्रमा या दीपक के प्रकाश में रेंगता, चीखता, सड़कों पर चलता है, उसी तरह यह प्राण का छकड़ा भी प्राज्ञ आत्मा के प्रकाश में रेंगता, चीखता, उन्हीं सड़कों पर चलता है जो कर्म-कांड में दिखाई गई हैं, और जिनका रास्ता अग्नि से फटता है। इस छकड़े के चलने के कारण उस आत्मरूप में भी जन्म-मरण संसार कल्पित होता है, वास्तव में तो वह इस गति और छकड़े की रेंग में साक्षी या दीपक है, स्वयं नहीं चलता, वरन् छकड़े की चाल से चलता सा होता है, स्वयं नहीं रेंगता वरन् प्राणों की रेंग के कारण रेंगता सा होता है।

(८२) हे राजन्! यह कब होता है और क्योंकर होता है, आप कान लगाकर सुनिए। जब शरीर रोगों या बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है और खाया पिया उसे कुछ नहीं लगता (और यह तब होता है जब यहां के भोग समाप्त हो जाते हैं), तो उस समय इस शरीर से यह इस तरह संबंध छोड़ता है, जिस तरह एक आम या जामुन का पका हुआ फल टहनी के जोड़ से जुदा होकर गिर जाता है, या नहीं पका तो आँधी और हवा आदि के झकोरे से गिर पड़ता है।

(८३) फिर जब यहाँ के भोग के कर्म समाप्त होते हैं, तो अनेक कारणों के कारण जो यद्यपि ज्ञात हैं किन्तु यहाँ गिने नहीं जाते, बहुत सुगमता से प्रत्येक अंग से सम्बन्ध त्याग देता है। किन्तु पका हुआ आम का फल अपनी टहनी के जोड़ से अलग हो जाने पर फिर दूसरी टहनी से जुड़ नहीं जाता, और यह जीवात्मा तो एक शरीर को छोड़ता

दूसरे शरीर से सम्बन्ध पा जाता है।

(८४) जिस तरह जाग्रत् से स्वप्न में जाता निद्रा के शरीर से सम्बन्ध पा जाता है, उसी तरह इस शरीर से उठता दूसरे शरीर से सम्बन्ध पाता हुआ जीवन के भोग पाता है।

(८५) स्वप्न की अपेक्षा मृत्यु में उस से भी बढ़कर विचित्रताएँ हैं, क्योंकि स्वप्न में तो शरीर को एक तरह से छोड़ता और एक तरह से नहीं छोड़ता, और दूसरे ख्याली शरीर से सम्बन्ध भी पा जाता है। किन्तु मृत्यु में उस का सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। पहला सम्बन्ध उस का जो नये शरीर से होता है, इसी शरीर के सम्बन्ध होते हुए हो जाता है। जब यह सम्बन्ध उस को प्राप्त हो जाता है, तो फिर विधि और नियम से इस शरीर को बिलकुल छोड़ता हुआ एक रूप से दूसरे रूप में नियत सड़कों पर चलता है, नए शरीर से पूर्ण सम्बन्ध पा जाता है, और भोगता-सा, जीवित-सा हो जाता है।

(८६) उस का पहला सम्बन्ध मानों कि उस का संकल्प और आदेश है जिसे भावना कहना चाहिए, दूसरा सम्बन्ध उस का मानों चल देना है। उस पहले सम्बन्ध में जो उस का उठना होता है, उसे उत्क्रांति कहते हैं, और दूसरे संबंध में जो उसका उठना होता है,उसे संस्कृतमें गति बोलते हैं। उत्क्रांति वास्तव में रुख्त है और गति का अनुवाद ख़ेज़ है। इसी कारण प्रलय को उर्दू में रुख्तख़ेज़ बोलते हैं।

(८७) यह सूक्ष्म विषय भी एक उदाहरण से तुम्हें सरल हो जायगा, कान लगाकर सुनिए। जैसा कि एक चक्रवर्ती राजा जब एक देश से दूसरे देश की सैर का संकल्प करता है, तो उसकी इच्छा पाकर दरबारी लोग चिट्ठी-पत्रोंसे वहाँके सूबे-

द्वारों (पदाधिकारियों) को सूचना देते हैं, और फिर वह एक-एक स्थान होता हुआ वहाँ जाता है। इस तरह मृत्यु में भी इस का पहला उठना देवताओं को सूचना देने के समान है और उसका दूसरा उठना सेना के प्रस्थान बाद प्रस्थान के समान है।

(८८) निष्कर्ष इस सारे का वास्तव में यह है कि इन्द्रियां क्या आधिदैविक क्या आध्यात्मिक सब की सब वास्तव में समान सब में सब कुछ कर रही हैं, और इसी (जीवात्मा) की चाकरी में धरती और आकाश होकर और उन में भोग के साधन और भोग तैयार कर रही हैं, और इसी के अल्प भोग के लिये कान नाक आँख में आई हुई विशेष सेवाएँ कर रही हैं, और इन बन्धनों के कारण वही आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक नामों से विभक्त हो रही हैं।

इन्हीं नामों और पदों के विचार से वे स्थान-स्थान पर प्रत्येक वस्तु में इसके भोगके लिये तैयारियाँ कर रही हैं, और आध्यात्मिक इन्द्रियां तो मानो इस शरीर में भोग दे रही हैं। वास्तव में क्या आधिभौतिक और क्या आध्यात्मिक और क्या आधिदैविक एक हैं। जब यह राजा के समान दूसरे देश में जाना-चाहता है, तो यही आध्यात्मिक इन्द्रियाँ जो शरीर में बंदी हैं, खुलती हैं, और आधिभौतिक और आधिदैविक इन्द्रिया से एक हो जाती हैं, और नियत समय पर उसके भोग के लिये शरीर और भोग के साधन और भोग तैयार करती हैं, और अभी तक इस शरीर से भी सम्बन्ध नहीं छोड़ती हैं। इसको वास्तव में उत्क्रांति का पहला उठना हम नाम देते हैं।

(९०) इन इन्द्रियों का पहला उठना ऐसा है जैसा

कि सूर्य से किरणें निकलती हुई धरती तक झटपट पहुँच जाती हैं, और धरती और आकाश में फैलती हुई भी सूर्य से पूर्ववत् संबंध रखती हैं। किंतु कल्पना करो कि सूर्य धरती पर उतर आवे, तो किरणें भी साथ उतर आवें। यह उतरना दूसरे प्रकार का है; वैसा प्राणों की उत्क्रांति और गति का हाल होता है।

(६१) ऐ राजन्! अब यों समझ कि जब यह मनुष्य ऊँचे सांस लेता है, और मृत्यु के लक्षण प्रतीत होते हैं, तो देवता (आधिदैविक इंद्रियाँ) उसकी भावनाको पाते उसी तरह तैयारियाँ और प्रतीक्षाएँ करते हैं जैसा कि देशों के मनसबदार (पदाधिकारी) राजा के पधारने में करते हैं।

(६२ देखो, जब चक्रवर्ती राजा दूसरे देश में जाना चाहता है, तो उस देशके मंसबदार (पदाधिकारी) क्या सरकार, क्या फिनांशल, क्या कमिश्नर साहब बहादुर, क्या डिपटी कमिश्नर बहादुर, वरन् तहसीलदार, कोतवाल, नंबरदार और चौकीदार जगह-जगह सूचित होकर कोठियों और गोदाम का प्रबंध करते हुए प्रतीक्षा करते हैं कि हमारा राजा यह आता है, यह आता है।

(६३) इसी तरह जब यह मनुष्य ऊँचे श्वास लेता है, तो देवता लोग क्या अधिदैविक क्या अधिभौतिक सबके सब उसकी इच्छा के अनुसार सूचित होते हुए क्या शरीर और क्या शरीर के साधन और उसके भोगों और भोगों के साधन नियम और विधान के अनुसार तैयार करते हैं, और प्रतीक्षा करते हुए पुकारते हैं कि अब श्रीमान्, अभी श्रीमान् यहाँ आया चाहते हैं।

(६४) ऐ राजा! ये देवता इच्छाओं के उत्तम ज्ञाता हैं,

और उत्तम काम करनेवाले हैं। तेरे इन कर्मचारियों में भूल संभव है, परंतु उनमें तो भूल भी संभव नहीं, वरन् वह जानते हैं कि श्रीमान्जी को इस प्रकार की कोठी या बँगले की आवश्यकता है, और उस बँगले में इस तरह के भोग की आवश्यकता है, और पहले आते ही वह दूध लेंगे, फिर खाना माँगेंगे। इसलिये दूध की मटकियाँ और खाने के सामान सब तैयार करते हैं। क्या तू नहीं देखता कि जब गर्भ होता है, तो माँ की दुधियाँ (छातियों) में वह किस तरह दूध बनाते हैं?

(६५) इस प्रकार के विचारों से निश्चय हो सकता है कि बराबर इन्द्रियाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-दैविक मनसवों पर विभक्त होकर इसी की सेवा के लिये संसार में फैलती हुई सब में सब कुछ कर रही हैं, और यही उनका द्यौलोक का राजकुमार है, और हर स्थान पर इसी की प्रतीक्षा और इसी के स्वागत की सब प्रतीक्षा करते हैं।

(६६) ऐ राजा! इधर तो आधिदैविक इन्द्रियाँ जहाँ वह जाना चाहता है, वहाँ प्रतीक्षाएँ और तैयारियां कर रही हैं। उधर आध्यात्मिक इन्द्रियों का हाल सुनिए कि वह क्या करती हैं।

(६७) जिस तरह ब्रह्मलोक के बड़े२ मुख्य मुसाहब (पदाधिकारी) राजा के कूच (प्रस्थान) की इच्छा पाते साथ चलने की तैयारियाँ करते हैं, उसी तरह क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सब की सब इन्द्रियाँ, ब्रह्मलोक की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी, जो विशेष मुसाहब हैं, साथ चलने की तैयारियाँ करती हैं, और अपने अपने नियत स्थान छोड़कर दिल में जो उसकी मुख्य राजधानी है, जाकर जमा होती और उसमें एक होती हैं।

(९८) * यह कब होता है और क्योंकर होता है? कान लगाकर सुनिए। जब यह मनुष्य जीर्ण और शीर्ण हुआ अशक्त होजाता है, और अंतिम श्वास ऊँचे-ऊँचे भरता है, तो सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां दिल में एकत्रित हो जाती हैं, और उन सब को वह अपने में पूर्ण मिलाप देता दिल के कानों में बुद्धिमान् रहता है, और बाहर की ओर से बेखबर और मूर्च्छा खाया-सा होजाता है।

(९९) जब यह आँख जाती है, तो बाहर का रूप नहीं देखती। भीतर तो इससे एक होती है, किंतु निकटवाले कहते हैं "नहीं देखता"। नाक भी उससे एक होता है, वह कहते हैं "नहीं सूँघता"। रसना भी इससे एक होती है, वह कहते हैं "नहीं चखता"। वाणी भी इससे एक होती है, वह कहते हैं "नहीं बोलता"। कान भी उससे एक होते हैं, वह कहते हैं "नहीं सुनता"। मन भी एक होता है, वह कहते हैं, "नहीं जानता"।

(१००) जब इस प्रकार यह (जीव) अपने मुसाहबों को दिलमें सम्मिलित करता है, और अपनी करतूतों और विचारों के भारों को बाँधता हुआ प्राण छकड़े पर लादता है, और आप भी इसमें सवार हुआ दिल के कानों में गिलाफ़ के भीतर उस दरवाज़े पर जहाँ से निकलता है, बुद्धिमान् रहता है।

(१०१) बाहर के नज़दीकी तो कहते हैं, अब मूर्च्छा में है, कुछ विचार नहीं रखता, किंतु वह सब विचार क्या अगले क्या पिछले और सब करतूतें क्या अगली और क्या पिछली उपस्थित करता है और देखता है। उनमें जो विचार और करतूतें प्रबल होती हैं, अपने भोग देने के लिये

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ४

नाना रूप दिखाती हैं, और उन्हीं विचारों और करतूतों में विवश हुआ उन्हीं रूपों को वह पसंद करता है।

(१०२) जब वह प्रबल विचार और करतूतों में विवश हुआ उन्हीं योनियों को पसंद करता है, तो उसकी इच्छा उन्हीं योनियों की प्राप्ति की होती है, और यह उसकी बुद्धि का पहला प्रकाश है जो इस देह में सम्बन्ध रखते हुए भी प्रकाशमान होता है। और जब उदान प्राण इस शरीर के भोगों के समाप्त होने के कारण स्वतंत्र होता है, इसी की भावना के अधीन होता है। इसलिये वह भी उसी की भावना के अनुसार प्रकाशमान होता है, और नसों के मार्ग से या आँख या नाक या कान के द्वारा निकलता हुआ जहाँ जाना पसंद करता है, वहाँ सूर्यकी किरण की तरह जाता है, और देवताओं (आधिदैविक इन्द्रियों) को सुचेत करता है; उसी योनि में उसके देह और भोगों के लिये इमारत और साधनों के निर्माण का आरंभ करता है।

(१०३) यह न मान लेना चाहिए कि सब कोई उत्तम योनि का इच्छुक है; निकृष्ट योनियों को कोई भी नहीं चाहता, फिर क्योंकर हो सकता है कि निकृष्ट योनि में जाता है? बरन् जिस तरह चोर जानता है कि चोरी अच्छी नहीं, किंतु अवसर पाकर चोरी करता है, तो उसे वास्तव में पसंद करता है; या व्यभिचारी जानता है कि व्यभिचार अच्छा नहीं, परन्तु जब एकांत और प्रेमपात्र और कामोद्दीपन (शहवत, विषयवासना) पाता है, तो उसे पसंद करता है; इसी तरह क्या उत्तम क्या निकृष्ट योनियाँ अपने कर्मों और निश्चयों के कारण से, जिनके कि वह वश में है, पसंद करता है।

(१०४) देखो, जब मनुष्य जानता है कि चोरी और

व्यभिचार अच्छा नहीं, किंतु लोभ और काम के वश हुआ अवसर पर वही पसंद करता है; इसी तरह यद्यपि मृत्यु से प्रथम निकृष्ट योनियों को पसंद नहीं करता, किंतु मृत्यु में जब यहाँ के भोग समाप्त होते हैं और दूसरे जन्म के भोगों के कर्म उदय होने लगते हैं, तो मनुष्य इन्हीं के वश में हुआ निकृष्ट योनियों को उत्तम योनियों की अपेक्षा पसंद करता है और वैसा ही होजाता है। यही न्याय है।

(१०५) हम बड़े-बड़े धनिकों को देखते हैं कि उत्तम बुद्धि रखते हैं और सत्-असत् का विवेक और शिक्षा भी रखते हैं; जब सुरा पीते हैं, तो मद में चूर होकर जो नहीं करना होता है और जो नहीं चाहिए वह पसन्द करते हैं, जो नहीं योग्य है, वह बोलते हैं; तो बुद्धिमान् जानते हैं कि मद के कारण जो पसन्द करने योग्य नहीं वही पसन्द करते हैं; इसी तरह मृत्यु में इस का हाल है।

(१०६) जबकि मृत्यु में इस की बुद्धि अपने आचरण और कर्मों के अधीन होती है, और प्राण जो महान् देव (उदान प्राण) है, उसकी बुद्धि के अधीन होता है। इसी कारण शास्त्र बुद्धि के आरम्भ ही से सदाचरण के नियम और सत्कर्मों के बन्धन में रखने के लिये व्यवस्था देता है कि मृत्यु पर्यंत शास्त्रीय विश्वास और शास्त्रीय कर्मों में जीविका करे। क्योंकि अन्तिम समयमें बुद्धि कर्मों के अधीन होती है, और सदाचरण बुद्धि के अधीन, इस लिये भाषा-विदों को शास्त्रीय बन्धन में रहना चाहिए। और वह नहीं जानता कि कौन-सा कर्म उत्तम योनि की बुद्धि का हेतु है और कौन-सा कर्म निकृष्ट योनि का कारण है। किन्तु शास्त्रविद् जानता है कि वह जो ईर्षा रखता और लोगों को हानि पहुँचाता है, वास्तव में सर्प और बिच्छू की प्रकृति रखता

है, और मृत्यु में उसकी बुद्धि उसी आकृति के अधीन हुई होती है। इस लिये ईर्षालू और दूसरों को हानि पहुँचाने की प्रकृति रखने वाला सर्प और बिच्छू की योनि पसन्द करेगा। और यह एक अति सूक्ष्म शास्त्र है जिस को सब कोई नहीं जानता।

(१०७) कर्म-कांड में शास्त्र ने इस की छाँट कर दी है, वहाँ से देख लेनी चाहिए। यहाँ हम उस को ब्योरेवार लिखने की आवश्यकता नहीं समझते। चूंकि विषय बहुत बड़ा है, यहाँ उस के लिये स्थान भी नहीं रखते। निदान जब इस तरह यह जीव-आत्मा ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों के साथ मिला हुआ हृदय कमल में बुद्धिमान् हुआ उठता है, तो उसके उठने ही प्राण उठता है, और प्राण के उठते ही समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ उठती हैं, और इस समय में भी वह बुद्धिमान् होता है, जिस-जिस सड़क पर जिस-जिस तरह चलना होता है और जहाँ-जहाँ जाना होता है उस का जानकार होता है। जैसे यात्री भी जब तक पहले गंतव्य स्थान को नहीं जानता और फिर उस मार्ग की सच्ची दशा को नहीं जान लेता, तब तक नहीं चलता। और यही उसकी उत्क्रांति है।

(१०८) हे राजन्! जिस तरह यात्री अपने छकड़े पर अपना सामान लादता है और मार्ग-निवास (पड़ाओं) में निकालकर खाता है, उसी तरह यह जीव-आत्मा भी अपनी बुद्धि और कर्म क्या पहले और क्या पिछले सब साथ ही ले जाता है, और दूसरी योनि में पूर्ण सम्बन्ध पाए जाने पर जब ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय एक होकर खुलते हैं, तो उन्हीं के अनुसार भोग पाता है। और यह महान् देव (उदान प्राण) भोग देने वाला फिर इच्छा के अधीन नहीं होता;

उसके कर्मों के बन्धन में, जो प्रारम्भ में उस की भावना से हुआ है, काम करता है; इस लिये चाहता है कि पाऊँ, पर नहीं मिलता; चाहता है कि पियूँ पर नहीं पाता। इस प्रकार विवश हो जाता है और अपनी भावना में फँसा हुआ अपना ही किया पाता है। यही न्याय है।

(१०९) किन्तु यह जो ईश्वरीय-रसायन (यज्ञ) और कर्म को आचरण में लाते हैं, उन्हें देवयान सड़क पर चलना होता है और देवलोक में जाना होता है, और वे सत्य संकल्प होते हैं। यही पुण्यफल है। और ऐसा जानने वाला वास्तव में द्यौलोक का राजकुमार है। इस लिये मेरे भाइयो! समझो। इस क्षणभंगुर संसार के जीवन के भरोसे पर व्यर्थ बहुमूल्य जीवन को हाथ से न जाने दो। जहाँ तक हो सके, शास्त्र के अनुकूल होकर पुण्य-कर्म में वर्ताव करो, नहीं तो फिर सिवाय शोक के कुछ हाथ न आवेगा।

(११०) निदान जब इस तरह पहले उत्क्रांति होती है, तो फिर अग्निदाह के समय उसका पूर्ण रूप से उठना होता है, और सड़कों पर जैसा कि कर्मकांड में प्रकट किया गया है गति होती है। इस उत्क्रांति और गति का उदाहरण, जिसका हम प्रलय या क़्यामत अर्थ करते हैं, ऐसा है जैसा कि एक जोंक जानवर जहाँ जाना होता है, बढ़कर अपने तन को पसारता है और वांछित तृण पर अगले पैर जमाकर क्रमशः पिछले पैर उठाता पहले तिनके को बिलकुल छोड़ देता है, और क्रमानुसार अभीप्सित (वा अभिलषित) तिनके पर जम जाता है। इसी तरह यह जीव आत्मा भी उत्क्रांति करता है।

(१११) अब यों समझो कि ख्याल (मन) या प्राण जो फैलता है, तो बिना आश्रय नहीं फैलता है। बरन् मन प्राण

के आश्रय में और प्राण तन के आश्रय में फैलता सिमटता है, इसलिये पहली उत्क्रांति में जब देवयान सड़क पर चलना होता है, तो मन और उसके अनुसार प्राण पुरीतका आदि नाड़ियों में फैलता और नाड़ियों से मस्तक के प्राण-प्रयासा-मार्ग (ब्रह्मरंध्र) से निकलता, सूर्य की किरणों के द्वारा सूर्य और देवलोक में देवताओं को सूचित करता उसके लिये इन्द्रियों वाला शरीर और भोग का उपाय करता है, और फिर पँचभूतों की मात्राओं से, जिसमें पानी सब से प्रथम होता है, और हमने कर्मकांड-प्रकरण में उसका अर्थ चिकनाई और तरलता किया है, लिपटा हुआ देवयान-सड़क पर चलता नियत समय में क्रमानुसार जोंक की तरह देवलोक में जाता उन्हीं भौतिक मात्राओं से द्यौ लोक का शरीर बनाता है और यही हाल दूसरी सड़कों का है।

(११२) हे राजन् ! इसका उदाहरण यों है कि जिस तरह एक स्वर्णकार सोने की मात्राओं को लेकर एक रूप से नए रूप में तैयार करता है, कभी मुँदरी से बाला और बाले से मुँदरी। इसी तरह यह जीवात्मा भी उसी भौतिक तरलता से जो रयि कहलाती है, एक देह को छोड़ता हुआ फिर नयी देह बना लेता है।

(११३) इस तरह यह देह छोड़कर पितरों की देह बना लेता है, या गंधर्वों या देवताओं या प्रजापतियों, या ब्रह्मा, या अन्य प्रकार की, जिस योनि में कि जाना होता है, बना लेता है। इस तरह पार्थिव वा मृत्तिकामयी (स्थूल) देह को छोड़ता है, दिव्य देह को धारण करता है, अंधकारमयी को फेंकता है, प्रकाशमयी को पाता है।

(११४) इसलिये निश्चय होता है कि यह सर्वमय है। जब यह जानता है, तो ज्ञानमय होता है; जब यह सोचता है

तो मनोमय होता है, जब यह देखता है, तो चक्षुमय होता है, जब यह सुनता है तो श्रोत्रमय होता है। इसी तरह पृथ्वीमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्म-मय, बरन् सर्वमय जो कुछ 'यह' और 'वह' है, सर्वमय होता है।

(११५) क्योंकि जहाँ जाता है, उसीके अनुसार अपनी देह बना लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि इसकी अलग किन्तु असली तरलता में समस्त संसार की सामग्री विद्य-मान है। जहाँ-जहाँ जिस-जिस लोक में इस तरलता में लिपटता जाता है, वहाँ-वहाँ उसी के अनुसार बर्ताव करता उन्हीं में से एक सा होजाता है। इसलिये यही सब का स्वामी और यही राजकुमार है, और सब कुछ इसी के भोग और भोग के साधन हैं।

(११६) यद्यपि यह सर्वमय होने के कारण सब में सब कुछ कर सकता है, किंतु न्याय के कारण जैसा उसका आचार है, वैसा ही उसका काम होता है। इसलिये श्रुतियाँ कहती हैं "मिथ्याकारी मिथ्यावादी होता है, साधुकारी साधु होता है, पापकारी पापी होता है।" इसलिये उसका यही न्याय है कि पुण्य कर्मों से पुण्यलोक और पाप कर्मों से पाप लोक जाता है। अतः बुद्धिमानों ने उसके कर्मों और बुद्धियों (समझों) को ही उसके भोग और भोग के साधनों में प्रथम रक्खा है।

(११७) किंतु वह, जो बुद्धिमानी में बुद्धिमत्तर हैं, यों कहते हैं कि उत्क्रांति में लोभ प्रथम है। जैसा लोभ होता है, वैसा ही निश्चय करता है, वैसाही फिर कर्म करता है, जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही पाता है। इसलिये पहले

लालच और कामना है, फिर निश्चय, फिर कर्म, फिर फल है। क्योंकि बिना कामना और लालच के जो करता है, खेल होता है, जिसका कोई भी फल नहीं; इसलिये लालच में आया संसारी है।

(११८) हे राजन्! इस विषय हमारे पास वेद का मंत्र है। वह यह है जिसमें यह लालच करता है, कर्मों की सहायता से मृत्यु में उसे पाता है। इसलिये फिर उस लोक से इस लोक में आता है, जिससे कि फिर कर्म करे। इस प्रकार के मंत्रों से जाना जाता है कि संसार का आरंभिक कारण लोभ वा कामना है।

(११९) किंतु वह जो लोभ को उखाड़ता है, उसे संसार नहीं है। जो लालची नहीं, वही संपन्न (बेपरवाह) है। और लालच अंतः करण की एक अवस्था है, आत्मा का धर्म नहीं। बरन् आत्मा तो क्या लोभ, क्या क्रोध, क्या संतोष, सब शारीरिक दशाओं का द्रष्टा है, जिसको हम पहले ज्योतिस्वरूप, असंग सिद्ध कर चुके हैं। वह जो इस विवेक के कारण क्या शरीर क्या शरीर के धर्म, क्या इंद्रियाँ क्या इंद्रियों के धर्म, क्या अंतःकरण क्या अंतःकरण के धर्म, क्या प्राण क्या प्राण के धर्म, सबसे अपने आपको असंग पाता है, वही लालची नहीं। यद्यपि अंतः करण में उसे पाता है, किंतु अपने में नहीं पाता, वही निर्लोभ वा निष्काम है।

(१२०) यदि कोई तपस्या से चाहे कि अंतः करण से लोभ उखाड़ दूँ, तो संभव नहीं कि नदी में से तरंग न उठे। किंतु इस आन्तरिक्ष (आकाश) में, जो नदी बहती है, तरंग नहीं उठती। इसी तरह अंतःकरण में लालच हो भी, तो भी चिदाकाश आत्मा में उसका अस्तित्व नहीं, इस तरह जो

जानता है, वही निर्लोभ होता है, और जो निर्लोभ होता है, वही निष्काम होता है, और जो निष्काम होता है वही आप्तकाम होता है, और जो आप्तकाम है वही आत्मकाम है। और यही प्रसाद में है। न्याय (अद्ल) के बंधन में वह नहीं आता, बरन् प्रसाद (फ़ाज़्ल) में प्रविष्ट होता है।

(१२१) हे राजन् ! इस विवेक के कारण प्रसाद में आया हुआ ज्ञानी पुरुष यद्यपि देह से देह के काम और इंद्रियों से इंद्रियों के काम और प्राणों से प्राणों के काम करता है, किंतु आत्मविवेक के कारण उन्हें अपने में नहीं देखता, बरन् झूठे अनात्मधर्म, स्वप्नवत् आरोपित् देखता है; तो उसके सारे काम काम तो नहीं होते, बरन् कामों के चित्र हो जाते हैं। जैसे चित्र भी आकृति तो रखते हैं, जान वा गुण नहीं रखते; इसी तरह इसके बर्ताव बर्ताव का आकार तो रखते हैं, किंतु बर्ताव नहीं हो जाते। इसी कारण वह करता हुआ अकर्ता है, वह खाता हुआ अखाता है, वह चलता हुआ नहीं चलता।

(१२२) हे राजन् ! ऐसा परमहंस संन्यासी एक भिखारी-सा मालुम तो होता है, किंतु वास्तव में वह सब का सम्राट है; कौड़ी नहीं रखता, किंतु सब माल उसी का है; कँगला-सा मालूम होता है, वास्तव में संपन्न (बेपरवाह) है, क्योंकि उसे कुछ प्रलोभ नहीं है, जो सब दुखों का मूल है।

(१२३) हे राजन् ! जब तक इसका जीवन है, ऐसा दिखाई देता है। किंतु जब इसके भोग यहाँ के समाप्त होते हैं, तो इसके भी ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय मन में उसी तरह जाते हैं जैसे संसारी के जाते हैं। और मन प्राणों में एक होता है। किंतु इसके प्राण उस (संसारी) के समान

नहीं उठते हैं, वरन् ब्रह्म में लीन होते ब्रह्म हो जाते हैं। यही प्रसाद है, और यही मुक्ति है।

(१२४) इस विषय में हमारे पास वेद के मंत्र हैं। वह यह हैं कि जब इसके सब लोभ जो हृदय में हैं इससे अलग हो जाते हैं,तब यह मर्त्य अमृत होता है, और यहाँ ही ब्रह्म पा जाता है। जैसा साँप अपनी केंचुली उतारता है और अपनी बाँबी में फेंकता है, उसके साथ रहता है, किंतु उससे संबंध नहीं रखता; इसी तरह यह ज्ञानी भी अपने वाह्य शरीर को जब विवेक से फेंकता है, तो यद्यपि साथ ही पाता है, परंतु कुछ संबंध नहीं रखता।

(१२५) इसलिये, हे राजन् ! यही ज्ञानी परमहंस शरीर में होता हुआ भी शरीर से अलग होता अमृत, ब्रह्म, प्राणों का भी प्राण, प्रकाशों का भी प्रकाश है। तब राजा ने कहा, मैं हज़ार गौएँ और देता हूँ, और यह न कहा कि कुछ और अधिक कहो, वरन् पूर्ण शांति पाकर चुप हुआ। और धन्यवाद में यह दान दिया।

पाँचवाँ अध्याय।

(१) ऊपर के आख्यान में मालूम हो चुका है कि लोभ वास्तव में संसार का कारण है, और लोभ तप से दब जाता है, उखड़ता नहीं। किंतु आत्मा के विवेक से कि "मैं न तो देह हूँ, न इन्द्रिय, न अंतः करण, वरन् एक स्वयंज्योति प्रकाश हूँ, जिसके उजाले में ये सब व्यापार करते हैं" बिलकुल उखड़ जाता है। क्योंकि जैसा दीपक भी यद्यपि व्यापार और व्यापार करने वालों में वर्ताव का कारण है, किंतु स्वयं व्यापार नहीं करता, इसी तरह

यह आत्मज्योति भी समस्त व्यापार और इन्द्रियों में यद्यपि कारण है किंतु स्वयं व्यापार से लेप नहीं पाती।

(२) यही विवेक जब पक्का होता है तो ऐसे ज्ञानी परमहंस से जो कुछ कार्य हो जाते हैं, उन्हें वह अपने कामों और इंद्रियों में देखता है, अपने में नहीं पाता। यद्यपि उसके कार्य दूसरों को उसी के कार्य दिखाई देते हैं और यह उसी प्रकार का भ्रम होता है जैसा कि बादलों की चाल चंद्रमा में दूसरों को मालूम देती है, परंतु चंद्रमा अपने में वह चाल नहीं देखता।

(३) इसी तरह ज्ञानी परमहंस का भी हाल है कि वह पाप नहीं करता, बरन् पापियों की तरह दिखाई देता है, वह पुण्य नहीं करता बरन् पुण्यात्माओं की तरह दिखाई देता है। वह तो अकर्ता, अभोक्ता है किंतु सब कुछ कर्ता-भोक्ता समझा जाता है। वह जो उसमें पाप देखते हैं, वास्तव में दूसरों के पापों से उसे पापी ठहराते हैं। वह जो उसमें पुण्य का ज्ञान करते हैं, वास्तव में दूसरों के पुण्यों से उसे पुण्यवान् पाते हैं। इस तरह वह अपने से भिन्न के पापों और पुण्यों से पापी और पुण्यवान् होता है, क्योंकि पाप तो उसके अंग और इंद्रियों में हैं, उसमें नहीं; इसी प्रकार पुण्य कार्य उसके अंग और इंद्रियों में हैं, उसमें नहीं। इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि आत्मा धर्म अधर्म दोनों से पृथक् है।

(४) जब यह ज्ञात हुआ कि आत्मा असंग वा धर्म-अधर्म से अलग है, और अनात्म देह और इंद्रियों के कर्म जो उससे पृथक् हैं, उस में कल्पित होते हैं, तो यह न्याय है कि दूसरों के पापों से कोई दण्ड नहीं पाता और दूसरों के पुण्यों से कोई पुरस्कार भी नहीं पा जाता। इस लिये आत्म-

नेष्ठी परमहंस दण्ड और पुरस्कार इन दोनों से परे है, और यही वास्तव में मुक्ति है, और यही जीवन मुक्ति है।

(५) फिर चूँकि लोभ, क्रोध, काम, पवित्रता, वीरता और क्या शारीरिक उत्कर्ष और अपकर्ष, सब मन या अन्तःकरण की दशाएँ और उसी के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। और वह तो मन से अलग, उसी में प्रतिबिम्बित, स्वयं-ज्योति, प्रकाशों का प्रकाश है, जिस के उजाले में मन इन अवस्थाओं से वर्ताव करता है। जब कि मन भी आत्मा से जुदा है, तो उसके धर्म भी आत्मा से जुदा हैं। और लोभ भी मन का धर्म है, तो दूसरे के लालच से वह लालची-सा होता है, किन्तु लालची नहीं है। इस तरह विवेक (आत्म-ज्ञान) से लोभ का मूलोच्छेद होता है। और वह जो तपादि से लोभ को तोड़ते हैं, निस्संदेह कम हो जाता है, बरन् यहाँ तक दब जाता है कि दूसरों को दिखाई भी नहीं देता; तो भी उसकी जड़ जो मन है नहीं उखड़ती है, जब अवसर मिलता है, तो लोभ के रूप में तरंगायित होता है।

(६) इसके विरुद्ध इस ज्ञानी परमहंस में लोभ अन्तःकरण में तो होता है, आत्मा में भान नहीं होता, और उन तपस्वियों की तरह वह बाहर से दबता भी नहीं, बरन् प्रत्यक्ष दिखाई देता है; तौ भी वह जुदा धर्म अन्तःकरण का है, आत्मा का नहीं। यहाँ (ज्ञानियों में) तो लोभ होता हुआ भी नहीं है, परन्तु वहाँ (तपस्वियों में) नहीं होता हुआ भी अवश्य है। इस लिये सामान्य लोगों पर यह विषय विरुद्ध हो जाता है कि लोभी को निर्लोभी और निर्लोभी को लोभी जानते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी को कोई नहीं पहचानता, परन्तु ब्रह्मज्ञानी की गति ब्रह्मज्ञानी जानता है।

(७) अनजान मनुष्य उसको जो प्रयत्न करने से लोभ

दबा लेता है, अच्छा मोक्षार्थी समझते हैं और उसकी सेवा और शुश्रूषा में लगे रहते हैं, किन्तु ज्ञानी में लोभ पाते उसे लालची समझकर ढकेल देते हैं, अच्छा नहीं जानते, वरन् यदि वह अपने सात्त्विकत्व से उन्हें कहता है कि "मैं निर्लोभ हूँ, यह तो देह का धर्म है, कोई दूसरों के पापों से पापी नहीं हो जाता," तो उसे हँसी में उड़ाते हैं और वाचक ज्ञानी ठहराते हैं । इस लिये ज्ञानियों और भक्तों का झगड़ा हो जाता है ।

(८) यदि भाषा जाननेवाला विचार करे तो जान सकता है कि उनका झगड़ा इस प्रकार का है कि जैसे एक स्फटिक मणि (बिल्लूर) का गिलास यदि लाल मदिरा से भरा हो, तो गिलास भी लाल-सा दिखाई देता है, और अनजान और ज्ञानवान् का भी यहाँ झगड़ा हो जाता है । अनजान तो कहता है कि गिलास लाल है और बुद्धिमान् कहता है कि गिलास लाली से निर्लिप्त है,वरन् जुदा लाली से यों ही लाल दिखाई देता है ।

(९) हम ऊपर के अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं कि आत्मा केवल ज्योति है, जिसमें शारीरिक अङ्ग और इन्द्रियाँ व्यवहार करती हैं, यद्यपि उनका व्यवहार आत्मज्योति के बिना नहीं हो सकता, तो भी वह ज्योति उनके व्यवहार में सम्मिलित नहीं हो जाती, वरन् जिस तरह संसार का व्यापार सूर्य या दीपक के प्रकाश में होता है, तो भी सूर्य या दीपक उसका कर्ता नहीं हो जाता, इसी तरह अंतर्ज्योति आत्म ज्योति का हाल है ।

(१० किंतु सूर्य या दीपक तो बाह्य प्रकाश अनात्म-ज्योति हैं, इसलिये उसमें दूसरों का व्यापार भी नहीं होता, और यह प्रकाश आत्म-ज्योति तो उनका अंतर्प्रकाश है,

इसलिये उन (इन्द्रियों) का बर्ताव उस गिलास और मदिरा के अनुसार जो ऊपर वर्णन किया गया है, उस प्रकाश में अनजान को प्रतीत होता है, और उस कुत्ते की तरह जो काँच के महल में जाता अपनी छाया को भौंकता है, व्यर्थ ज्ञानियों से झगड़ता है।

(११) हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघती है, जिह्वा चखती है, वाक् बोलता है, हाथ पकड़ता है, पाँव चलता है, और यह सब व्यापार उनका अन्तर्ज्योति स्वरूप आत्मा के कारण होता है। जैसा कि लेखक भी लेखन-कर्म दीपक में करता है, परन्तु जिस तरह लेखन कर्म का सम्बन्ध दीपक में नहीं होता, उसी तरह क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, क्या जुबान, क्या वाणी, क्या हाथ, क्या पावँ का बर्ताव आत्मा का बर्ताव नहीं हो जाता, बरन् वह तो देखता हुआ नहीं देखता, वह सुनता हुआ नहीं सुनता, वह बोलता हुआ नहीं बोलता, वह पकड़ता हुआ नहीं पकड़ता, वह चलता हुआ नहीं चलता.जैसे कि वह गिलास लाल हुआ भी लाल नहीं होता।

(१२) फिर भूख-प्यास भी प्राणों का गुण है, क्योंकि वही अन्न पचाने वाले हैं। जब देह अपनी गति से ढीला होता (वा पिघलता) है, तो उसके बदले में वह (प्राण) अन्न और जलकी आवश्यकता पाते हैं और उसे खाकर पिघलाहट का बदल करते हैं। यद्यपि यह प्राणों का बर्ताव भी उसी आत्म-ज्योति के प्रकाश में होता है, किंतु उसी तरह वह आत्म ज्योति में प्रवेश नहीं पाते, जैसे मदिरा की लाली गिलास में; बरन् भूख में भी तृप्त और प्यास में भी तृषा रहित है।

(१३) इसी तरह शोक, लोभ, क्रोध, कृपा, काम, पवि-

ज्ञता, खेद, प्रेम, आनन्द, दुख, परिश्रम, शत्रुता, सब दिल की तरंगें हैं, और निस्सन्देह यह भी उसी आंतरिक प्रकाश आत्म-ज्योति के कारण दिल में तरंगें मारते हैं, किंतु दिल की मौजें हैं, कुछ आत्मा में लगावट नहीं पाते। वह तो इन सब का देखने वाला साक्षी है। कर्मकांड में वह जो साक्षी होता है, वह विपक्षी नहीं हो जाता।

(१४) निदान, मनुष्य के अंगों और इन्द्रियों के समस्त व्यापार इस आत्म-ज्योति के प्रकाश में अथवा यों कहो कि साक्ष्य में होते हैं, तो भी वह उनका कर्ता नहीं हो जाता, ज्यों का त्यों पवित्र असंग आत्मा रहता है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में दूसरे के व्यापारों और गुणों को उसमें अध्यारोप-अपवाद द्वारा आत्मज्ञान प्रदान किया।

(१५) जिसमें जो गुण होता है, उससे अलग नहीं होता। जाग्रत में जो जाग्रत के व्यापार हैं, यद्यपि जाग्रत् में वह आत्मा में दिखाई देते हैं, किंतु स्वप्न में जाग्रत के व्यापार तो यहाँ रह जाते हैं और स्वप्न के व्यापार उसमें कल्पित होते हैं। इसी तरह स्वप्न के व्यापार जाग्रत् में नहीं आते। तो ज्ञात हुआ कि जाग्रत और स्वप्न के व्यापार उन अंगों और इन्द्रियों के व्यापार हैं जो सब दिशाओं में आत्मा में काम करते हैं। जैसे गिलास में लाल मदिरा के भरने से गिलास लाल होता है और फिर मदिरा निकाल कर दूध भर दें, तो सफ़ेद दिखाई देता है।

(१६) किंतु जब इस गिलास को मदिरा या दुग्ध से न भरें, बरन् ख़ाली करदें, तो न लाल होता है न सफ़ेद। इसी तरह सुषुप्ति में सारे व्यापारों का आत्मा में अभाव होता है। इससे ज्ञात हुआ कि आत्मा न तो कुछ जाग्रत् में करता है

न कुछ स्वप्न में, बरन् जाग्रत् में अन्य अंगों के व्यापार और स्वप्न में अन्य इन्द्रियों के व्यापारों की उसमें भ्रांति होती है। किंतु देखना उसका स्वाभाविक गुण है, क्योंकि जाग्रत् के व्यापार जाग्रत् में देखता है, और स्वप्न के व्यापार स्वप्न में, और सुषिप्त में सब का अभाव और उनके व्यापार का भी अभाव देखता है, इसलिये मालूम हुआ कि देखना उसका अपना स्वभाव (गुण) है। और यह स्पष्ट है कि वह जो स्वयं नहीं करता, बरन् देखता है, वास्तव में साक्षी है, और साक्षी पर कुछ दोष नहीं आता।

(१७) इस तरह ज्ञानी भी जाग्रत् में आया हुआ जो कुछ अपने अंगों के व्यापार देखता है, उनमें साक्षी होकर रहता है। बुद्धि जब भले और बुरे का विचार करती है, तो अपने अनुसार संकल्प उठता है, और संकल्प के अनु· सार प्रकृति उठती है, और प्रकृति के अधीन अंग हिलते व्यापार करते हैं, और अहंकार उन को अपना काम मानता है, क्योंकि उसका यही गुण है। किंतु जब आत्म-नेष्ठा ज्ञानवान् पुरुष एक-एक के व्यापार और उनके पारस्परिक संबंध केवल देखता है और दर्शक रहता है, तो उनके व्यापार से संस्पर्श नहीं पाता। इसी कारण लोभ भी, जो संसार का मूल है, एक प्रकार का संकल्प है, जो बुद्धि के अधीन है, और ये सब क्या बुद्धि, क्या लोभ, क्या संकल्प, क्या अहंकार, अंतःकरण के धर्म और उसी की तरंगे हैं। इसी तरह इस ज्ञान के कारण लोभ की जड़ उखड़ती है, तप और काय-क्लेश से नहीं। इसी कारण याज्ञवल्क्य ने संकेत किया है कि वह जो लोभ की जड़ उखाड़ते हैं उन्हें संसार नहीं। और लोभ को वही उखाड़ते हैं, जो आत्मा को जानते हैं।

(१८) इस तरह सिद्ध हुआ कि आत्मा के ज्ञान से लोभ उखड़ता है, बल्कि क्या लोभ, क्या अहंकार, क्या क्रोध, क्या नीचता, क्या गौरवता, सबके सब उखड़ जाते हैं। क्योंकि वह तो इन सब के दृश्यों का द्रष्टा होता है, और दर्शक स्वयं दृश्य नहीं हो जाता। इसी पर श्रुतियाँ प्रमाण करती हैं कि "न्याय से निकल कर ऐसा ज्ञानी प्रसाद में प्रविष्ट होता है, पुण्य-पाप उसे तपाते नहीं। न तो वह पुण्यों से बढ़ता है न वह पापों से घटता है। वह ज्यों का त्यों दर्शक रहता है"।

(१९) कुछ अनजान यहाँ यह आपत्ति (शंका) करते हैं कि इस ज्ञान में यद्यपि आत्मा असंग, द्रष्टा और साक्षी रहता है, तथापि जिस तरह अहंकार यहाँ अभिमान करता है, उसी तरह यह अंत में भी दंड पाता है। तो यह आपत्ति उसकी ठीक नहीं। क्योंकि भेद की बात यहाँ यह है कि ऐसा ज्ञानी जब तक जीवित है उस के अंग और इंद्रियाँ चित्रों के समान हो जाते हैं। और मृत्यु में ये सब उसी ज्योति में उसी प्रकार लय हो जाते हैं, और आधिदैविक इन्द्रियाँ उसमें उसी तरह भर जाती हैं, जिस तरह एक जगह की वायु गलती है, तो समस्त वायु वहाँ आ जाती है। इसलिये उसको उत्क्रांति या प्रलय नहीं होती, वरन् ईश्वरीय माया के व्यापार उसमें इसी तरह कल्पित होते हैं जैसे जीवन में यह अध्यात्म-इंद्रियों के व्यापार कल्पित होते हैं। इसलिये जिस तरह यहाँ अपने से भिन्न परिच्छिन्न इंद्रियों के व्यापार से वही 'कर्त्ता' कल्पित होता है, उसी तरह ईश्वर के काम उसके काम हो जाते हैं और यही पारलौकिक विजय है, जो मुफ्त मिलती है। और इसी कारण से यह प्रसाद है, जो न्याय अर्थात् कर्म-मार्ग से

कठिनतापूर्वक मिलता है। यदि उस से मिलता भी है, तो वह दूर हो जाता है।

(२०) क्योंकि जो बनाया जाता है, वह अवश्य नाशमान होता है, और आत्मविद्या में तो जानना है, बनाना नहीं। इसके कारण से जो यह विजय है, अविनाशी है। और न्याय अर्थात् कर्म-मार्ग में बड़ा परिश्रम, बड़ी कठिनता, बड़ी आयु, बड़ी मज़दूरी की आवश्यकता है। और फिर भी अविनाशी नहीं। ज्ञान में तो न कुछ मज़दूरी, न परिश्रम है, वरन् केवल आत्मा का इस प्रकार जानना है। और यही सफलता है, जो न्याय (कर्म मार्ग) के साधन में कठिनता से मिलती है; और साथ ही विरुद्ध उसके अविनाशी है। इसी कारण याज्ञवल्क्य मुनि ने इस पर संकेत किया है कि इस ज्ञानी के प्राण फिर नहीं उठते, वरन् ब्रह्म हो जाते हैं।

(२१) अब हम भाषाविदों को इस रहस्य के प्रकट करने के लिये स्पष्ट कहते हैं कि ये बातें तर्क से भी सिद्ध हैं और वेद से भी सिद्ध हैं। इसलिये हम पहले इस भेद की सत्यता में कारण बतलाते हैं, और फिर वेद की प्रतिज्ञा की श्रुतियों का भी अनुवाद करते हैं जिसमें उनकी आपत्ति (शंका) हमारे शिष्यों में स्थान न पावे।

(२२) इस आपत्ति के उत्तर में यों समझो कि आत्मा का संबंध अंतःकरण में भ्रांतिमय है और उसके प्रतिबिंब का संबंध अंतः करण में सहोत्पत्ति का है। और अंतःकरण का संबंध शरीर से व्यावहारिक है, क्योंकि जब तक उसके व्यवहार हैं, तब तक अंतःकरण और अध्यात्म-इंद्रियों का देह से मिलाप है। जब उसके यहाँ के भोग समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म नूतन भोग देने के लिये तैयार होते हैं,

तो यह इंद्रियाँ इस देह से संबंध तोड़ देती हैं, और दूसरी योनि के देह से संबंधित हो जाती हैं, और वहाँ के भोग पा जाती है।

(२३) किंतु आत्मा का प्रतिबिंब जो अंतःकरण में पड़ता है, उसका संबंध अंतःकरण से व्यावहारिक नहीं,वरन् सहोत्पत्ति का है। क्योंकि जब अंतःकरण उत्पन्न होता है, उसी समय उसमें आत्मा का तेज (प्रतिबिम्ब) टपकता है, जिस तरह शीशे की पालिश के समय पालिश करनेवाले का प्रतिबिंब साथ ही पड़ता है।

(२४) साथ ही इसके प्रति दिन सुषुप्ति में क्या मन और क्या मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। वहाँ न तो लोभ दिखाई देता है, न क्रोध, न काम, न अहंकार, न तू, न मैं, वरन् सब का अभाव और विस्मृति दिखाई देती है। किंतु फिर जाग्रत् या स्वप्न में यह मन और मनोवृत्तियाँ नई उत्पन्न हो जाती हैं, और आत्मा का प्रतिबिंब भी साथ ही उत्पन्न होता, उन्हें प्रकाशित करता है,अहंकार के संबंध से उस में और देह में अहंभाव की भ्रांति पाता है। इस लिये प्रतिबिंब का संबंध अंतःकरण से सहोत्पत्ति सिद्ध होता है।

(२५) चूँकि प्रतिबिंब और बिम्ब में एकता वा अभेदता का सम्बन्ध होता है, इसलिये भ्रांति के कारण यह प्रतिबिम्ब बिम्ब में (जो वास्तव में मनुष्य का अहंभाव है, और वही आत्म शब्द से वेदों में पढ़ा जाता है, और वही ब्रह्म है) भान होता है। यही सम्बन्ध भ्रांति मय कहा जाता है।

(२६) और यह स्पष्ट है कि दर्पण में जो अपना स्वरूप दिखाई देता है, उसमें अभेद-सम्बन्ध होता है, और दर्पण के हिलने से प्रतिबिंब भी हिलता है, और बिम्ब अर्थात् जिसका

प्रतिबिंब है वह ज्यों का त्यों स्थिर रहता है, तो भी बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि मैं या मेरा मुँह नहीं हिलता, वरन् शीशा हिलता है; और अनजान बच्चा ख़याल करता है कि मैं हिलता हूँ। इसी तरह अहंकार और अंतःकरण के बर्ताव से आत्मा का प्रतिबिंब भी बर्ताव करता दिखाई देता है, किंतु ज्ञानी यह निश्चय करता है कि मैं नहीं बर्ताव करता वरन् आराम में हूँ, और मूर्ख दुख की मनोवृत्तियों में दुखी और सुख की मनोवृत्तियों में सुखी का भान करता दुख-सुख पाता है।

(२७) ज्ञान तो भ्रांति को दूर करता है; वह न तो अंतःकरण को दूर करता है और न अंतःकरण की वृत्तियों को, एवं न देह को दूर करता है और न कर्मों को। जब इस प्रकार के ज्ञान से, जो हमने स्पष्ट रीति से लिखा है, भ्रांति दूर होती है, तो क्या अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियाँ सब ज्यों की त्यों चलती हैं, और प्रारब्ध कर्म भी ज्यों के त्यों काम करते और भोग देते हैं। परन्तु ज्ञानी उस बुद्धिमान् की तरह जो शीशे में मुँह देखता है, उनमें बर्ताव देखता हुआ आप ज्यों का त्यों आराम में स्थिर रहता है; और मूढ़ उन्हीं वृत्तियों के साथ एक हुआ आप बर्ताव करतासा होजाता है।

(२८) यहाँ रहस्य की बात एक और यह है कि जब तक यह भ्रांति और अज्ञान है, तब तक यद्यपि सुषुप्ति में अंगों की थकावट के कारण अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तो भी वह अज्ञान में, जो उनका उपादान है, प्रविष्ट होती हैं, और फिर भोग के लिये कर्मों के कारण से जाग्रत् में उठती हैं। पर जब यहाँ के भोग के कर्म समाप्त होते हैं और दूसरी योनि के भोग के कर्म उदय

होते हैं, तो इस देह से व्यावहारिक सम्बन्ध टूट जाता है और दूसरे देह से सम्बन्ध पा जाता है। यही संसार है। इसलिये संसार का मूल लोभ और अज्ञान है।

(२९) किंतु ज्ञानी अपनी वास्तविक पहचान के कारण अज्ञान और लोभ को दूर कर देता है। उसके यहाँ के भोग और अंतःकरण की वृत्तियाँ भी मूढ़ के समान जीवन तक बर्ताव करती हैं, जिस तरह जड़ से काटा हुआ वृक्ष भी कई नियत दिनों तक हरा भरा रहता है। किंतु जब समय आता है, तो जड़ से कटा वृक्ष जैसे अपने आप सूख जाता है, उसी तरह यहाँ के भोग जब समाप्त होते हैं, तो मृत्यु में ज्ञानी के प्राण और मनोवृत्तियाँ आत्मा में लय हो जाती हैं, बाहर नहीं उठतीं, और ईश्वर के प्राण और मनोवृत्तियों में प्रविष्ट हो जाती है।

(३०) वह वृक्ष जो जड़ से नहीं काटा जाता, वरन् ऊपर से छाँट दिया जाता है, तो फिर अंकुर लाता है। इसी तरह आत्मा का काल्पनिक वा अज्ञान-जन्य सम्बन्ध, जो संसार का मूल है, जब दूर नहीं होता, तो भोग के समाप्त होने के कारण यद्यपि छाँट की तरह देह और अंग दूर हो जाते हैं, किंतु मूल से तो वह स्थिर है, इसलिये फिर दूसरी योनि के दह और अंगों की अंकुरता ले आता है, और जन्म पाता है।

(३१) ज्ञानी के देह, अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियाँ तो जड़ से कट जाती हैं, और मृत्यु में यह प्राण आत्मा में लय होजाते हैं, जैसे तपे हुए तवे पर पानी के बूँद जल जाते हैं; फिर दुबारा उसी तरह अंकुर नहीं पाते, जिस तरह जड़ से काटा हुआ वृक्ष फिर अंकुर नहीं लाता। और यही उसकी मुक्ति है।

(३२) ,यहाँ एक और भी शंका उठ आती है। कि जब ज्ञानी की भ्रांति और अज्ञानता ज्ञान से दूर हो जाती हैं, तो जिस तरह मृत्यु में उनका नाश होता है, सुषुप्ति में भी प्रतिदिन नाश होता है। इस तरह तो फिर सुषुप्ति से भी उसे नहीं उठना चाहिए। और ज्ञानी भी मूढ़ की तरह सोता-जागता-सा देखते हैं। और जबकि ज्ञानी की मनोवृत्तियाँ सुषुप्ति में नाश हो जाती हैं और उठती हैं, तो कुछ हेतु नहीं कि मृत्यु के बाद फिर न उठें।

(३३) इसका उत्तर यह है कि निद्रा में ज्ञानेंद्रिय और मन बेकार होते हैं, और अपने गृह विशेष में, जो प्राण हैं, लय होते हैं। अतः आँख आँख में जो प्राण है, बेकार (निष्क्रिया) हुई लय होजाती है; और मन हृदय-कमल के उस आवरणमें जो उसके ऊपर परदेके समान लिपटा है, बेकार हुआ अपने प्राण, हृदय कमल में लय होता है; और इस हृदय-कमलके आवरणको संस्कृतमें पुरीतका नाड़ी बोलते हैं। क्योंकि यह आवरण बारीक नाड़ियों और अंगों से बनाया गया नाड़ी के समान हृदय-कमल पर लिपटता है, और चेतन-आत्माका प्रतिबिंब, हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें बिम्ब से, जो ब्रह्म है, एक हो जाता है। किंतु प्राण, जो जीवन शक्ति हैं, व्यर्थ या नाश नहीं होते, पूर्ववत् काम करते हैं। यही कारण है कि सोता हुआ तो साँस लेता है, मृतक फिर साँस नहीं लेता।

(३४) जबकि नींद में ज्ञानेंद्रिय और अंतःकरण प्राणों में बेकार हुए उसी तरह लय होते हैं जिस तरह सूर्य की किरणें अस्त-काल में सूर्य में लय होती हैं, जाग्रत् या स्वप्न में उसी तरह निकल आती हैं जैसा कि सूर्य के उदय में

फिर किरणें निकल आती हैं। इस कारण से प्राणों के निकलने या लय होने तक मूढ़ और ज्ञानी में जाग्रत् नींद का बर्ताव होता रहता है। जब केवल ज्ञानेंद्रिय बेकार होते हैं, और मन अभी व्यापार करता रहता है, तो स्वप्न होता है; जब क्या ज्ञानेंद्रिय क्या मन दोनों निष्क्रिय और लय होते हैं, तो सुषुप्ति होती है; और जब प्राण निकल जाता है या आत्मा में लय हो जाता है, तो मृत्यु होती है।

(३५) किंतु मूढ़ के प्राणों की जड़ तो अज्ञान और भ्रांति से स्थिर होती है, इसलिये (उस का) प्राण आत्मा में लय नहीं होता, बरन् उठता और निकलता अपने कर्मों के अनुसार भोगों के लिये नूतन शरीर बनाता उससे व्यावहारिक संबंध पा जाता है, जो नया जन्म है। और ज्ञानी के प्राण की जड़ अविद्या और लोभ के तल से उखड़ जाती है, फिर यहाँ के भोगों के समाप्त होने से छिन्न-मूल प्राण उठता या निकलता नहीं, बरन् आत्मा में लय होजाता है और मुक्ति होती है। इसलिये उसके ज्ञानेंद्रिय और मनोवृत्तियाँ नींद में तो फिर निकलतीं हैं, मृत्यु में नहीं निकलतीं।

(३६) जब यह प्राकृतिक सिद्धांत (कुद्रती नियम) ज्ञात हुआ, तो सिद्ध हो सकता है कि ज्ञानी और अज्ञानी के बर्ताव जीवन-भर एक समान होते हैं। जीवन में इतनी ही मुक्ति है कि वह अंतःकरण की दुख-सुख रूप वृतियाँ चलती देखता, अपने में नहीं देखता, बरन् अपने निजी विश्राम में रहता है; और अज्ञानी अपने आत्मा और मनोवृत्तियों के अविवेक के कारण से मन की दुख-सुख रूप वृत्तियों में दुखी और सुखी होता है। यद्यपि जीवन में जैसा अज्ञानी का अहंकार उन (वृत्तियों) के बर्ताव को

अपने में मानता है, वैसा संक्षिप्त रूप से ज्ञानी का अहंकार भी उनका बर्ताव अपने में मानता है। तो भी इसको अहंकार में अहंता का भान है, और उस ज्ञानी को उसमें अहंभाव का भान नहीं, वरन् आत्मा में, जो आनंदस्वरूप है, अहंभाव की धारणा है। और इसी धारणा के कारण वह "मैं ब्रह्म हूँ" निश्चय करता है, और यही आत्म-ज्ञान है, दुख-सुख से संबंध नहीं पाता।

(३७) तो भी अहंकार जब तक है, उन (दुख-सुख रूप वृत्तियों) को अपने में मानता हुआ दुख के दूर करने में और सुख के पाने में बुद्धि-रूप मंत्री द्वारा तद्बीर करता है और संकल्प और प्रकृति से अंगों को हिलाता है। और यहाँ के भोग के कर्म उसके अहंकार बुद्धि, संकल्प, लोभ, प्रकृति और अंगों की गति के कारण होते हैं, और आत्मा तो दीपक की भाँति उनके बर्ताव में प्रकाश और साक्ष्य का प्रसाद देता है। किंतु अज्ञानी अहंकार में अहंभाव की भ्रांत धारणा रखता हुआ स्वयं अभिनय और कर्मी होजाता है; और ज्ञानी अहंकार में अनात्म धारणा और आत्मा में अहंभाव की धारणा रखता है। इस समस्त दृश्य का द्रष्टा और साक्षी रहता है। उनके बर्ताव या कर्मों में संबंध नहीं पाता।

(३८) निःसंदेह दूसरों की दृष्टि में ज्ञानी-अज्ञानी का बर्ताव समान है। उसका कारण यह है कि जैसा इस (अज्ञानी) का अहंकार उन (वृत्तियों) के बर्ताव को अपने में मानता है, ऐसा ही इस (ज्ञानी) का अहंकार भी उन वृत्तियों के बर्ताव को अपने में मानता है, और जिस तरह उसका अहंकार भी अपने लाभ के लिये बुद्धि के द्वारा तद्बीर करता है ऐसा उसका अहंकार भी बुद्धि के द्वारा

शारीरिक लाभ के लिये तदर्थ करता है, और इसी कारण क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी संसार में अन्य के पापों से अपराधी होकर राजा से समान दण्ड पाते हैं, किन्तु अज्ञानी तो परलोक में भी अपनी करतूतों का बदला पाता है, क्योंकि उसका अहंकार तो दूसरे जन्म में फिर उठता है और पहली करनी का बदला पाता है, परन्तु ज्ञानी के प्राण तो यहाँ ही लय हो जाते हैं और अहंकार भी लय होता है, फिर नहीं उठता। इसी कारण उसके अपराध क्षमा होते हैं और अज्ञानी क्षमा नहीं होता।

(३६) संसार के राजा भी जो मूर्ख हैं और इस भेद को नहीं जानते, वह संसार में प्रत्यक्ष पापों के कारण ज्ञानी और अज्ञानी को समान दण्ड देते हैं। किन्तु वह राजे जो इस भेद को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि ज्ञानी से सिवा भूल या प्रमाद और कर्मों के भोग के कारण के ऐसा काम नहीं हो सकता, हलका दण्ड देते हैं, अज्ञानी के बराबर नहीं, जिस से वह प्रमाद में न रहे और संसार का प्रबन्ध खराब न हो जाय। अतएव, मनुस्मृति में तत्त्वविद् ब्राह्मणों का दण्ड देहाध्यासी शूद्रों की अपेक्षा स्वल्प निर्धारित हुआ है।

(४०) क्या भाषाविद् नहीं जान सकता कि जो बुद्धिमान् भूल से पाप करता है, उस को धिक्कारना उतना ही पर्याप्त है जितना कि उस अज्ञानी को फाँसी देना, जो जान कर पाप करता है। वरन् ज्ञानी के अपराध में तो उसे "वाह! धन्य है आप की बुद्धि" का वचन पर्याप्त(काफी) है कि जिस पर सचेत होता उससे बचता है, मूर्खों को तो बार-बार कैद में देते हैं, फिर भी चोरियाँ करते हैं।

(४१) वर्तमान राज्य-विधान के द्वारा जो एक समान दण्ड

पाते हैं और पिछले मनु के विधान पर आक्षेप करते हैं, इस भेद के न जानने के कारण से है। प्रथम तो ज्ञानी पाप में ग्रस्त, नहीं होता और यदि भूल से पाप करता भी है, तो यद्यपि संसार में दण्ड के योग्य है, तथापि परलोक में क्षमा है। बरन् जिस तहर उसके पाप मुआफ़ हैं, उसी तरह उसके पुण्य भी निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि पुण्यों का फलभी तो अहंकार पाता है और वह आत्मा में लय हुआ दुबारा उठता नहीं, फिर फल किस को मिले। इस लिये क्या भली क्या बुरी, जो कुछ उस की करतूतें हैं, उसके निकट सब बिलास (खेल) हैं, और वह सब से मुआफ़ है। और वास्तव में ज्ञानी निष्पाप है। दूसरा तो कोई भी अच्छा (पुण्यी) नहीं, सब के सब अपराधी हैं, क्योंकि पापों का मूल वास्तव में लोभ है और लोभ जड़ से बिना आत्म-ज्ञान के उखड़ता नहीं। और अन्तरिक्ष से धरती पर्यंत लोभ से खाली नहीं। इस लिये सब पापिष्ठ हैं और कोई मुआफ़ नहीं। आत्मा के जानने वाला वास्तव में निरपराध और मुआफ़ है।

(४२) ज्ञानी अपनी करतूतों और पापों से तो मुआफ़ है, प्रसाद (फ़ज़ल) उस पर यह है कि अपने कर्मों और प्राणों से मुक्ति पा कर ईश्वरीय काम उसे मुफ्त मिल जाते हैं। भलाई करनेवालों को मज़दूरी का लाभ (फ़ल) मिलता है, जितना पुण्य करते हैं; उतने ही परलोक के भोग मिलते हैं। किन्तु मज़दूर और गुलाम घर का मालिक नहीं होता और न मज़दूर और गुलाम अनन्त समय तक घर में रहता है, बरन् जब मज़दूरी या चाकरी समाप्त हुई, तो ढकेल कर घरसे निकाल दिया जाता है। इस लिये मूर्ख यदि भलाई और पुण्य बड़े तपों से करता है, तो पितृयान-सड़क पर चलता हुआ नियत समय तक स्वर्गीय भोग पाता है, और स्वामी

की तरह फिर भी स्वेच्छाचारी नहीं होता; और भोगों के समाप्त होने पर ढकेल दिया जाता है।

(४३ ज्ञानी तो वास्तव में घर का स्वामी पूर्ण स्वाधीन है, ईश्वर का भी आत्मा है। क्योंकि जब मृत्यु में उस की एक-एक मनोवृत्तियाँ और प्राण उसके आत्मा में लीन, शोषित या विलीन होते हैं, तो ईश्वर की समस्त मायावृत्तियाँ और प्राण उसके बदले उसी तरह उसमें आ प्रविष्ट होते हैं जैसा कि एक स्थान की वायु की विलीनता में बाहर की वायु बदले में मुफ्त आ जाती है। और उन मायावृत्तियों और प्राण वृत्तियों का महल (अधिष्ठान) हुआ यह ज्ञानी उसी तरह बिम्ब होता है जैसा कि जीवन में अपनी एक-एक मनो-वृत्तियों और प्राणवृत्तियों की दृष्टि से बिम्ब था।

(४४) फिर चूँकि (यतः) प्रति बिम्ब और अन्तःकरण का पारस्परिक सम्बन्ध सहोत्पति का वर्णन कर चुके हैं, जब मायावृत्तियाँ और प्राणवृत्तियाँ और ईश्वर की इस में भरती हैं, तो उसी का प्रति बिंब मायावृत्तियों और प्राण-वृत्तियों में प्रकट हुआ वास्तव में ईश्वर है। और ईश्वर के संल्कप उसी के संकल्प कल्पित हो जाते हैं, और ईश्वर का अहंकार उसी का अहंकार हो जाता है। और जिस तरह यहाँ जीवन में उसके व्यष्टि अहंकार, बुद्धि, संकल्प, शक्तियाँ और अङ्ग काम करते हैं, उसी तरह उस के समष्टि अहंकार, ईश्वरीय विचार वा बुद्धि, अनादि संकल्प और ईश्वरीय शक्तियां उस में वर्ताव करती हैं। और वह अपने स्वरूप में नित्य मुक्त, असंग-आत्मा रहता है; सृष्टा, विधाता, हर्ता-कर्त्ता होता है; और पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।

(४५) इस ज्ञानी की उपमा जीवन मुक्ति और विदेह-मुक्ति में यों है, जैसा कि एक राजपुत्र बड़ा बुद्धिमान् पहले

छोटा-सा राज्य पाकर एक नियम बना देता है और बड़े-बड़े योग्य सुशिक्षित मंसबदार और इलाकेदार नियत करता है, और स्वयं निश्चिन्त होकर आराम करता केवल उनके कामों की देख-भाल करता है, स्वयं कुछ नहीं करता, वरन् आराम करता है; इसी तरह यह ज्ञानी भी पहले इस मानव पद की संक्षिप्त राजधानी में अपने आत्मा को असंग और पवित्र जानता हुआ क्या अहंकार, क्या लोभ, क्या संकल्प, क्या प्रकृति, क्या अंग, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, सब से अलग, असंग, विवेक करके, देह से न्यारा होकर उन का द्रष्टा रहता है।

(४६) उसकी दृष्टि और निरीक्षणता में अहंकार तो एक बड़ा महामंत्री, प्रत्येक काम का ज़िम्मेदार और भलाई-बुराई का कर्त्ता है, और उसे अपने में मानता है, और बुद्धि उसकी मंत्री भले-बुरे की चिंता करती उसे जतलाती है कि इसमें तुझे लाभ है, उसमें तुझे हानि है। और मन उसे प्रलोभन देता है, पुण्य-पाप कुछ नहीं देखता। यही जानता है कि देह की जिस तरह रक्षा हो सके, करनी चाहिए। और चित्त अगले पिछले इतिहासों को याद दिलाता है कि इससे यों हुआ था, उससे यों हुआ था। और चिंता उसमें परिणाम निकालती है कि यदि अब भी यों करोगे तो यही परिणाम निकलेगा।

(४७) इस प्रकार जब वृत्तियों की कौंसिल होकर अहंकार (प्रसिडेंट) महामंत्री के साथ सहमत होता है, तो फिर संकल्प उठता है, और उसके बाद बड़ा जरनैल, प्रकृति, जिसके बन्धन में सब अंग हैं, गति देता है, और हाथ और पाँव उसी तरह काम करते हैं। आँखें यद्यपि देखती हैं, कान यद्यपि बिना संकल्प सुनते हैं, तो भी जब ऊपर की

कौंसिल में निर्णय हो जाता है, कि यह देखने के योग्य है, यह देखना उचित नहीं; या यह सुनना है, यह नहीं सुनना तो फिर यह भी प्रकृति के अधीन उसी तरह बर्ताव करते हैं; और आत्मा, द्यौलोक का राजकुमार, उनको अपने आराम में देखता रहता है। इसी की दृष्टि में यह सब बर्ताव करते हैं।

(४८) जब ये समस्त (अङ्ग) व्यापार में थकावट पा जाते हैं और थके से हो जाते हैं, तो ज्ञानेंद्रिय उपराम (बेकार) होते अपने-अपने गोलक में, जैसे आँख आँख में, नाक नाक में, कान कान में और उसी तरह प्राण में लय हो जाते हैं, जिस तरह सूर्य के अस्त में सूर्य की किरणें लय हो जाती हैं, या अग्नि की ज्वालाएं पानी के कारण अग्नि में लय हो जाती हैं।

(४९) यह प्राण एक बड़ा मंसबदार और इस छोटे-से राज्य का रक्षक है, इन्हें भोजन पहुँचाता और वेतन बाँटता है, क्या जाग्रत् क्या निद्रा सब दशाओं में मृत्यु पर्यंत उनकी नियत आजीविका और वेतन हर समय पहुँचाता रहता है, और दिन-रात नाक-मुँह और रोमकूप के द्वारा श्वास लेता रहता है। किंतु जब यह कर्मेंद्रिय बेकार होते हैं, तो कौंसिल के मेम्बर पूर्ववत् काम करते हैं और उक्त विचित्र दृश्यों और अनुभवों को स्मरण शक्ति के कार्यालय से अहंकार मंत्री के आगे उपस्थित करते हैं, बरन् धरती और आकाश तथा जो कुछ इसमें है, सब का सब दिखाते हैं। यही स्वप्नराज्य है। किंतु जब कौंसिल के मेम्बर भी थकान पाते हैं, तो सब के सब इस हृदय कमल के आवरण में उसी तरह बेकार (निष्क्रिया) और लीन हो जाते हैं जैसे कि कर्म और ज्ञानेंद्रिय। और यह राजकुमार अपने

पिता विश्व-सम्राट की गोद में जो हृदयाकाश रूप सिंहासन पर विराजमान है जा बैठता है, और उससे मेल पाता है।

(५०) इस मिलाप में प्राण पूर्ववत् राजधानी की सेवा करता है और रक्षा रखता है। जब यह अहंकार सहित कौन्सिल के हृदय के आवरण से निकलता फैलता है और मस्तिष्क में आ जाता है, तो क्या ज्ञानेंद्रिय और क्या कर्मेंद्रिय झटपट निकल कर अपने-अपने मकानों में व्यापार के लिये तैयार हुए काम आरम्भ करते हैं। और विश्व-राजकुमार पिता की गोद से, प्रतिबिंब की भाँति, पहले अहंकार में, फिर बुद्धि में, फिर चित्त में, फिर आँख नाक कान में आ कर उनकी सुरक्षा के लिये पिता से मिला हुआ रक्षक होता है। और पूर्ववत् अपने खास आराम में, उनके व्यापार से निश्चिन्त, केवल देखने वाला रहता है। यही जागृति है।

(५१) फिर तो हाथ चलते हैं, पाँव दौड़ते हैं, आँख देखती है, कान सुनते हैं, और कौन्सिल के सभ्यगण मस्तिष्क में सोच-समझ के विचार करते हैं, और सारे सेना वाले उनकी व्यवस्था (आज्ञा) की प्रतीक्षा करते हैं, और पुण्य-पाप का व्यवस्था की जाती है, और उसी के अनुसार कार्य होता है। और भाग्य के विधान के अनुसार जहाँ भाग्य पुरुषार्थ के अनुकूल आता है, भोग मिलते हैं; जहाँ भाग्य साथ नहीं देता, भोग नहीं मिलते। जब भोग मिल जाते हैं, तो अहंकार रूपी सभापति आनंद पाता है। जब नहीं मिलते, तो दुख शोक और खेद पाता है। विश्व-राजकुमार आत्मदेव, जो विवेक से अहंकार से अलग अक्षय सुख में है, उन्हें देखता तो है, किंतु वह न तो उनकी प्रसन्नता से प्रसन्न और न उनके दुख से दुखी होता है, वरन् ज्यों

का त्यों खास आराम में, जो परमानंद है, रहता है, और उनका साक्षी रहता है।

(५२) अहंकार में जब भाग्य के अनुसार और पुरुषार्थ के अनुकूल हो जाने से भोग मिलते हैं, तो उसके साथ एक आनंद की वृत्ति उदय होती है, और राजकुमार (आत्मा) के खास आराम से प्रतिबिंब की भाँति उसमें आनंद भबकता है। इसलिये अहंकार भी आनंदी हो जाता है। लेकिन जब भोग नहीं मिलते तो चिंता के कारण यह वृत्ति स्थिर नहीं रहती, बरन् उस शीशे के सदृश, जो गति करता हो, चंचल और चिंतित रहती है। इसलिये वह आनंद (अंश-आत्मा) उसमें प्रतिबिंबित नहीं होता। इसी कारण अहंकार व्याकुलता और दुख में दुखी हो जाता है। किंतु जब भोग मिलते हैं, तो अहंकार नहीं जानता कि यह भीतर से मेरे मालिक आत्मा के विशेषानंद का रस आता है, बल्कि वह उसी भोग में आनंद पाता भोग की ओर दौड़ता है; और बुद्धि उसे झिड़कती वा धमकाती है कि यह आनंद इस भोग का नहीं, भीतरी आत्मा का है, क्योंकि भोगों में यदि आनंद होता, तो वैराग्यवान् या हृदय के रोगी को भी उनसे आनंद मिलता। इस तरह की लान तान (झिड़क धमकी) से अहंकार भी जानकारी पाता फिर भोगों की ओर कम रुचि करता है, बरन् बुद्धि-रूपी मंत्री के संकेत पर अंतरात्मा में लगता है। तो यह बुद्धि उसे देह के अभिमान से पलट-कर तत्काल आत्माभिमान में लगा देती हैं। और यह तब होता है जब कारोबार (व्यापार) से छुट्टी पाकर एकांत में ध्यान करता है। फिर तो आत्म-अहंकार में देह का अभिमान भी उसके विशेषानंद में सम्मिलित और तद्रूप होता साक्षात्कार में हो जाता है। और यह उसका परमानंद है।

(५३) जब यह इस तरह परमानंद में आनंदी होता है, तो बाहर के आनंद स्वयं तुच्छ हो जाते हैं। केवल आवश्यक वस्त्र और भोजन जिस तरह सुगमता-पूर्वक मिलें, बरन् भिक्षुकपने से प्राप्त करके केवल देह की रक्षा करता है, और शीघ्र निर्जन एकांत को दौड़ता है, और परमानंद की लटक लेता है। न तो उसे धन का लोभ प्रेरता है, न उसे भोगों की विलासिता धोखा देती है, क्योंकि भोगों में तो उसी आत्माराम के बिंदु टपकते हैं। समाधि में तो परमानंद के अनंत आनंद में निमग्न होता है। फिर जब कि भोगों में आनंद उसे तुच्छ हो जाते हैं, और धन सम्पत्ति जो भोगों की साधन है, तुच्छ हो जाती है, और फिर उस पर तुफ़ (हा शोक) करता है, बल्कि कोई देवे, तो हाथ भी नहीं लगाता है। इस तरह जीवन मुक्ति में नक़द परमानंद पाता विचरता है।

(५४) जब इसके शरीर के कर्म यहाँ के समाप्त होते हैं और मृत्यु निकट होती है, तो कुछ परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी तरह जो एक छोटी-सी राजधानी से बड़ी राजधानी का वादा निकट होता है, आनंद मनाता, शरीर के गिरने को ग़नीमत (सर्वोत्तम) समझता है, वरन् जीवन में ही उसे मृतक समझ कर शव के समान घसीटता था, अब तो सर्प की तरह सुगमता से केंचली उतरती है। जब यह देह गिरता है, तो क्या प्राण, क्या अहंकार, क्या मन, क्या बुद्धि, क्या चित्त, सब के सब इस आत्मा-रूप राजकुमार में लय हो जाते हैं, उत्क्रांति नहीं करते। और पिता के समष्टि प्राण और अहंकार और बुद्धि वायु के समान भर जाते हैं, और पिता-पुत्र एक हो जाते हैं, और समष्टि अहंकार में उसी तरह राजकुमार गोद से निकल कर अपने आप को

सर्व-रूप देखता, सब भोगों को पाता है। क्योंकि फिर तो ईश्वर के अहंकार के भोग उसी के भोग कल्पित होते हैं, और ईश्वर के सत्य काम और सत्य संकल्प में प्रकाश पाया हुआ यही सत्य काम और सत्य संकल्प होता है, और पूर्ण बुद्धिमता में गौरव पाया हुआ संसार का प्रबंध कर्त्ता, सृष्टि का सृष्टा, और प्राणियों का भोजनदाता होता है। तात्पर्य यह कि पूर्ण स्वतंत्र वा स्वच्छन्द स्वरूप होता है।

(४५) यद्यपि जीवनमुक्ति में उसके सैन्य जन (इन्द्रिय इत्यादि) भोग पाने में परतंत्र हैं। यहाँ तो उसके कर्म भी उसके व्यष्टि अहंकार के साथ दूर हो जाते हैं, और वह मुक्ति पाया हुआ ईश्वर के संकल्पों में सत्य काम हुआ जो चाहता है, पाता है। वरन् जो ज़मीन पर उसके ख़याल में भी नहीं आते थे, तैयार हैं, जिनका उल्लेख अभी ही ब्रह्मा के वादे में आवेगा। इस तरह ऐसा ज्ञानी स्वर्गीय साम्राज्य को मुफ़्त और उत्तराधिकार में पा जाता है, मज़दूरी और सेवा से नहीं पाता। अतः ऐ भाइयो! हम भी इसी तरह इस संक्षिप्त राजधानी में राज करके परमानंद में सावकाश और विश्राम संपन्न हैं, और इस शव शरीर को शव की भाँति घसीटते फिरते हैं, और उसी अनादि ईश्वरीय (ब्रह्मा के) वादे की प्रतीक्षा में हैं। जब समय आएगा, तो देखो, मुफ़्त में उत्तराधिकार की तरह उसे पा जायँगे। अब हम वैदिक श्रुतियों से उस वादे और विज्ञापन का अनुवाद करते हैं जो इस विषय में ब्रह्मा जी ने अनादि में दिया है, जिससे हमारे शिष्यों को विश्वास हो, यही न समझें कि हम अपनी कपोल कल्पना से घमंड और गुमान में हैं।

छठा अध्याय

(१] सामवेद * की छांदोग्य-शाखा में हम सुनते हैं कि ब्रह्माजी जब शुभ और अशुभ कर्मों के फल नियत और वर्णन कर चुका, तो आरंभ में उसने क्षमा की प्रतिज्ञा और प्रसाद (फ़ज़ल) का विज्ञापन दिया और समस्त देवता और मनुष्यों में घोषणा करा दी कि "वह जो जैसा करता वैसा पाता है" न्याय (कर्मकाण्ड) का मार्ग है, किंतु "वह जो आत्मा को जानता है, (सब कर्म फलों से) मुक्त है, बरन् प्रसाद में प्रविष्ट होता मुफ्त में ब्रह्मलोक पाता है।" और चूंकि प्रारब्ध में न्याय-मार्ग से निश्चय हुआ है कि जो आत्मा को जानता है, उसके प्राण मृत्यु में उठते नहीं बरन् आत्मा में लय हो जाते हैं, और ईश्वरीय प्राण, ईश्वरीय इंद्रियाँ, ईश्वरी अहंकार उसमें वायु के समान भर जाते हैं, इस लिये पहले न्याय-मार्ग का इस प्रसाद से विरोध भी नहीं।

(२) †वह जो विज्ञापन में लिखा गया, और क्या देवताओं और क्या मनुष्यों में (वा देवलोक तथा मनुष्य लोक में) वितरण किया गया, इसका अनुवाद हम नीचे करते हैं कि "ए लोगो! यह जो संसार है, द्यौलोक का एक बड़ा साम्राज्य है। इस में जो मनुष्य का शरीर है, ब्रह्म की एक विशेष राजधानी है जिसका नाम ब्रह्मपुरी है, और उसकी छाती (वा अंतःकरण) के भीतर जो हृदय-कमल मांस का खंड है, ब्रह्म का एक मुख्य बँगला है, और उसके भीतर जो आकाश

* देखो छांदोग्योपनिषद, प्रपाठक आठवाँ, खंड सातवाँ

† यहां से छांदोग्योपनिषद के आठवें प्रपाठक का प्रथम खंड आरम्भ होता है।

है, वास्तव में ब्रह्मका सिंहासन है। उसके भीतर जो अपने आत्म-ब्रह्म की खोज करता है और उसे जानता है, वह प्रसाद में बुलाया जाता है, यही न्याय है। उसकी करतूतें उसके अङ्गों में रह जाती हैं, उसपर लागू नहीं होतीं, क्योंकि वह तो विवेक से अपने आप को उस सिंहासन में सम्मिलित करता एक हो जाता है, और ब्रह्म न्याय की दृष्टि से पुण्य-पाप से रहित है, क्योंकि वह असंग-आत्मा है।

(३) यदि कोई ख़याल करे कि इस ब्रह्मपुरी में छोटा-सा बँगला ब्रह्म का और उसमें छोटा सा आकाश ब्रह्म का सिंहासन है, क्या उस (आकाश) में कुछ है, जो ब्रह्म कहलाता है ? तो उसे समझना चाहिए कि ऐ भाइयों ! जितना यह बाहर का आकाश है उतना ही यह हृदयाकाश है, छोटा नहीं, बरन् हृदय के भीतर आ जाने से छोटा-सा दिखाई देता है। जैसा कि महाकाश में एक कुंभ (मटका) धर दें, तो आकाश कोई टोटूक होकर बाहर-भीतर पृथक नहीं हो जाता, बरन् कुंभ के भीतर आया हुआ छोटा-सा कुंभ का पोलापन और बाहर का आकाश महान् आकाश भासमान होता है। इसी तरह यह आकाश हृदय के भीतर आया हुआ हृदय-कमल की आकृति के अनुसार छोटा-सा दिखाई देता है। वास्तव में समूच्चय का समूच्चय महान् आकाश उसके भीतर है, कोई टुकड़े नहीं होगया।

(४) बल्कि यों समझो कि क्या देवलोक और क्या भूलोक दोनों इसी हृदयाकाश के भीतर एकत्रित हैं, और क्या अग्नि और क्या वायु, दोनों यहाँ बसते हैं, और समस्त भूत और समस्त भावनाएँ इसके भीतर विद्यमान हैं। जिस तरह समस्त स्वप्न-संसार सोते हुये के हृदयाकाश

में होता है, किंतु वह स्वप्न की विचित्रताओं से अपने आपको स्वप्न के संसार का अंश भान करता स्वप्न के धरती और आकाश को अपने से बाहर पाता है ; इसी तरह यहाँ हाल है। अन्यथा वास्तव में क्या देवलोक, क्या भूलोक, क्या अग्नि, क्या वायु, सब के सब भाव वा इएदेव पदार्थ इसी हृदयाकाश के भीतर हैं।

(५) यदि कोई समझना चाहे कि यह ब्रह्मपुर जिसमें सब भूत और भावनाएँ एकत्रित हैं, जब बुढ़ापे को पाता या मृत्यु में दूर हो जाता है, तो कुछ शेष भी रहता है या नहीं ? तो उसे समझना चाहिए कि वह आत्मा, जो इस ब्रह्मपुर में राज करता है, न तो इसके बुढ़ापे से बूढ़ा होता है, और न इसके मरने से वह मरता है। यही सत है। इसी में सब भावनाएँ विद्यमान हैं। यही आत्मा पापों से रहित है। न तो यह पुराना होता है, न यह मरता है, न इसे शोक है, न भूख, न प्यास, बरन् सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। जो चाहता है, करता है, पूर्ण स्वाधीन है।

(६) ऐ लोगो ! जो यहाँ अपने हृदय कमल में इसको नहीं जानते, बरन् बिना इसकी पहचान के मरते हैं और न इसकी महिमा को जान कर जाते हैं कि 'वह सत्य संकल्प सत्य काम पूर्ण स्वाधीन है,' उनका हाल सुनो कि वह यद्यपि समस्त जीवन में शुभ कर्म करते हैं और अपने शुभ कर्मों के फल पाने के लिये ऊपर के लोकों में जाते हैं, किंतु जिस तरह यहाँ भी सम्पन्न मनुष्य राजा और राजपुरुषों के शासन में स्वाधीन होते हैं और राजकर देते हैं, इसी तरह वह भी देवताओं के सेवक और करदाता होते हैं, बरन् जिस जगह जाना चाहते हैं, या जिस-जिस वस्तु की आकांक्षा करते हैं,

बिना देवताओं की इच्छा और आज्ञा के नहीं पाते। इसलिये उनके हाथ में उसी तरह विवश होते हैं जिस तरह प्रजा राजपुरुषों के हाथ में विवश होती है।

(७) देखो, वह क्योंकर स्वाधीन होवें? वह तो यहाँ दासता और अधीनता का विश्वास रखते थे और देह को अपना आप जानते थे, और इस अपने आत्मा-ईश्वर को कहीं आकाशों पर पहचानते थे, यद्यपि शुभ कर्म करते थे। मज़दूरी का हक़ मज़दूर अवश्य पाता है, यही इसका न्याय है। इसलिये वह सोमलोक में संतुष्ट तो होते हैं, किंतु दास घर का मालिक नहीं हो जाता, अंततः सेवक ही होता है; और साथ ही दास अनंत समय तक घर पर नहीं रहता, आखिर ढकेल कर निकाल दिया जाता है। जब उनकी नेकियों (शुभकर्मों) के भोग भी परलोक में समाप्त हो जाते हैं, तो फिर वे मृत्युलोक में गिर जाते हैं।

(८) यहाँ भी जो कर्मों से देशों को विजय करते हैं, अंत में वह उन्हें छोड़ते हैं। इसी तरह वह भी जो कर्मों से केवल सोमलोक को पाते हैं, अंत में उससे गिर जाते हैं। यही दैवी-विधान है। क्योंकि जो बनाया जाता है, वह समय पर टूट जाता है। शुभकर्मों से बनाया गया जो सोमलोक है, वह भी अविनाशी नहीं, और यहाँ के चढ़ने वाले स्वाधीन और मुक्त भी नहीं होते।

(९) किंतु वह जो यहाँ अपने आत्मा को जानते हैं और इसी ब्रह्मपुर में जो हृदयाकाश है, पहचानते हैं, और निश्चय करते हैं कि "मैं ही ब्रह्म हूँ, और मैं ही सब का मालिक हूँ, और मैं ही सत्य संकल्प और सत्य काम हूँ; मेरे में न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उनका फल लगता है; क्या देवलोक, क्या भूलोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्र, क्या सूर्य

क्या तारे, सब के सब मेरे भीतर कल्पित हृदयाकाश में हैं, और यही मेरा सिंहासन है;" और फिर मरते हैं, उन्हीं के लिये सत्यलोक है, वही सत्यकाम और सत्यसंकल्प, सर्व शक्तिमान हो जाते हैं, और समस्त लोकों में कामचार (स्वाधीन वा स्वतंत्र) होते हैं।

(१०) जब चाहते हैं कि हम अपने पिता-पितामह या पूर्वजों से मिलें, तो उनके संकल्प से ही पिता-पितामह सब पूर्वज उठते हैं, और उनसे मिलते हैं, और वह इस पितर लोक से प्राप्त होते गौरवान्वित और सम्मानित होते हैं।

(११) जब माताओं और दादियों को चाहते हैं, तो संकल्प से पलक-मारते (आँख की झपक) में माताएँ और दादियाँ उठती हैं, और उनसे मिलती हैं, और वे इस मातृ-लोक से पूर्णकाम हुए गौरव और प्रतिष्ठा पाये होते हैं।

(१२) जब वे भाइयों और दादियों को चाहते हैं, तो केवल संकल्प से आँख की झपक में भाई और बिरादरी के लोग उठते हैं, और उनसे मिलते हैं, और वे इस तरह भ्रातृ-लोक में कृतकार्य हुए माननीय और आनंदित होते हैं।

(१३) जब वे ससुरों और ससुराल के लोगों से मिलना चाहते हैं, तो केवल संकल्प मात्र से ससुराल के लोग उठते हैं और उनसे मिलते हैं, और वे इस प्रकार श्वशुर-लोक में कृतकार्य हुए संमानित और मुदित होते हैं।

(१४) जब वे अपने मित्रों और सखाओं से विनोद के लिये मिलना चाहते हैं, तो केवल संकल्प-मात्र से मित्र और सुहृद्गण उठते और उनसे मिलते हैं। इस प्रकार वे सखी-लोक में कृत कृत्य हुए प्रमोद करते प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

(१५) जब वे सुगंध की वस्तुएँ जैसे इत्र आदि को चाहते हैं, तो केवल संकल्प मात्र से सुगंध की वस्तुएँ

उठती हैं, और उनमें भोग पाते गंध लोक में कृत-कार्य हुए सम्मानित होते हैं।

(१६) जब वे खान-पान की वस्तुएँ माँगते हैं, तो संकल्प-मात्र से खान-पान की वस्तुएँ उठती हैं, और खान-पान लोक में कृत कार्य हुए सम्मानित और सनानंदित होते हैं।

(१७) जब वे राग-रंग और गीत बाजों के सुनने की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से राग-रंग और गायक और वाद्य (बाजे इत्यादि) उठते हैं, और वे गंधर्व-लोक में सफल काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं।

(१८) जब वे सुंदरी नारियों की इच्छा करते हैं, तो संकल्प मात्र से सुंदरी स्त्रियाँ उठती हैं, और इस तरह वह स्त्री लोक में पूर्ण काम हुए सम्मानित और मुदित होते हैं।

(१६) तात्पर्य यह कि मैं कहाँ तक एक-एक गिनाऊं, जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, केवल संकल्प से पा जाते हैं, और उन्हीं के लोकों से पूर्ण-काम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं। यह प्रसाद (फ़ज़ल) है। न्याय से निकल कर इस प्रसाद में आओ। देर न करो। फिर गया समय हाथ नहीं आता। और यह इसी ब्रह्मपुर में आत्मा की पहचान से होता है। आत्मा ही को ढूंढो, उसी की खोज करो। जो ढूँढता है, वह पाता है, जो खटखटाता है, उसी के लिये खोला जाता है। यही न्याय है, जो प्रसाद के विरुद्ध है।

(२०) अब भी यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प तुम्हारे आत्मा में केंद्रित हैं, लेकिन झूठे आवरण में छिपे हुए हैं। यद्यपि वे सब तुम्हारे हृदयाकाश में विद्यमान हैं, किंतु इस मिथ्या आवरण से छिपे हुए नहीं उठते हैं, बरन् जो-जो पुत्र,

भ्राता, नातेदार, पड़ोसी मर गए हैं, सबके सब तुम्हारे आत्मा (हृदयाकाश) में इसी झूठ आवरण के भीतर छुपे हुए हैं, तुम्हें दर्शन देने के लिये नहीं उठते। मरे हुए तो क्या उठें, बल्कि वह भी जो जीवित और अज्ञात देशोंमें फिरते हैं, नहीं मिलते। किंतु जब तुम आत्मा को, जो सब की कान है, जानते हो, और उसके ध्यान में इस आवरण को खटखटाते हो, तो मृत्यु में यह आवरण उठता है; और ये सब अपने संकल्प से ही उठते हैं और मिल जाते हैं।

(२१) उन मनोरथों को जो तुम्हारे भीतर छुपे हुए हैं नहीं पाते। उसका उदाहरण यों है, जैसा कि कोई कोष तुम्हारे मकान में गड़ा हो और तुम उसे नहीं जानते हो, और उसके ऊपर फिरते हुए भी उसे नहीं पाते। हा शोक! ये सब मनोरथ और स्वतंत्रताएं तुम्हारे आत्मा में हैं, और झूठे आवरण में ढँपी हुई हैं; नित्य सुषुप्ति में जाते, आत्म-ब्रह्म में एक भी होते हो, किंतु आत्मा के अज्ञान के कारण नहीं पाते। उसका कारण यही है कि इस आत्मा को तुम नहीं जानते, बरन् अपने में दासता और पापों के विश्वास की मलिनता से उसका अपमान करते हो। ऐ लोगो! तुम तो झूठ और मिथ्या पर सवार हो, किस तरह इस सत्यसंल्प को पाओगे।

(२२) यह सत्य काम और सत्य संकल्प-आत्मा जो तुम्हारी वास्तविक अहंता है, यही तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, और इसी का नाम 'सत' है। इसलिये नित्य सुषुप्ति में जाता हुआ बुद्धिमान् इस स्वर्ग लोक में प्राप्त होता है। किंतु जब यह संप्रसाद आत्मा इस मिथ्या देह से उठकर अपने ज्योति-रूप परम स्वरूप को पाता है, तो यह वास्तविक आत्मा है और यही अमृत है, यही संपन्न है,

वही ब्रह्म है, उस समय अविद्या का मिथ्या आवरण पूरा-पूरा उठता है।

(२३) यह आत्मा वास्तव में एक चट्टान के अनुसार है जिसपर क्या लोक, क्या परलोक, क्या ऊर्ध्वगति, क्या अधोगति, सब के ख्याली और संकल्प-जन्य आकार इसी में अंकित और कल्पित हैं। इसी कारण उसे सबका सेतु और विधृति बोलते हैं, क्योंकि सबके रूप भ्रम-जन्य लकीरों के अनुसार इसी चट्टान या विधृति में खिंची हैं, और सबका विवेक और सबका अस्तित्व इसी के कारण से है। वह लकीरें जैसे चट्टान या तख्ती पर से मिटाई जाती हैं, मिट जाती हैं, किंतु निराकार चट्टान को न तो रात दिन काटते हैं, न बुढ़ापा, न मौत दूर कर सकते हैं, न कोई उसे शोक, न कोई नेकी, न कोई बदी असर करती है, बरन् सब पाप उससे दूर रह जाते हैं। यही निष्पाप है, यही ब्रह्मलोक है।

(२४) इसी कारण सुषुप्ति में इसी चट्टान में एक हुआ अंधा अंधा नहीं रहता और बंदी बंदी नहीं रहता, दुखिया दुखिया नहीं रहता, क्योंकि अंधापन और बंध और दुख तो देह के लक्षण हैं। जब वह सुषुप्ति में देह को किसी कारण छोड़ता इस चट्टान रूपी सेतु में एक होता है, क्योंकर अंधापन और बंदीपन और दुख को पावे? वह तो क्या अंधापन, क्या बंदीपन, क्या दुख, सब से स्वतन्त्र, नित्य मुक्त है।

(२५) फिर इस हेतु कि इसी विधृति को पाते रातें दिन हो जाती हैं, अँधेरा उजाला हो जाता है, यह नित्य प्रकाश है और यही ब्रह्मलोक है। जो कोई ब्रह्मचर्य से इसी उजाले में चलता है, ठोकर नहीं खाता, बरन् सीधा ब्रह्म-लोक उन्हीं का है जो ब्रह्मचर्य करके अन्वयव्यतिरेक के

नियम से इस उजाले को अंधकार से छाँट करते हैं, और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में एक रस देखते हैं, वही मृत्यु में समस्त लोकों में कामाचार (स्वतंत्र) होते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

(२६) जब इस मनुष्य को संसार से उपरामता होती है और इस आत्मा की पहचान की रुचि होती है, तभी वह ब्रह्मचर्य करता विषयों के आनंद से उपराम होता है और ब्रह्मचर्य से अंतर्शुद्ध होता गुरुदेव से जब इस आत्मा का विवेक पाता है, तो यहाँ जीवन में ही उसे जैसा है, वैसा नज़र पा जाता है, और स्वयं सब उपाधि से रहित हो जाता है, उसे यह सत्य काम आदिक मुफ़्त इस तरह मिल जाते हैं, जिस तरह कोई बाग़ प्राप्त करता है, तो उसकी शीतल छाया मुफ़्त में आ जाती है। यद्यपि वह बाग़ की ख़रीद के समय वसीके में फल, लकड़ी और ज़मीन की मलकियत अपने नाम लिखाता है, छाया का ज़िक्र नहीं करता, तो भी छाया और ठंडी छाँव भी उसे यों ही मुफ़्त रोंगे-छोंगे में आ जाती है।

(२७) इसी तरह आत्मा का इच्छुक भी जब ब्रह्मचर्य करता इसकी चाह करता है, तो संसार में किसी का भी लालच नहीं करता, बरन् क्या पुत्र, क्या धन, क्या लोक, क्या परलोक, सबसे उपराम, सब को तुच्छ, सबको मिथ्या जानता है। एक आत्मा को जानना चाहता है। और जब जानता है और नज़र पा जाता है, तो यहाँ ही परम शांत हुआ इस मृतक शव-रूप शरीर को घसीटता फिरता है, और इसके क्षुद्र दुख-सुख, अहंकार में देखता दुखी-सुखी-सा दिखाई देता है। किंतु इस ज्ञान के वसीके के कारण वही द्यौलोक के राज्य का युवराज होता है, और आजीवन वह उस समय की प्रतीक्षा करता है, जब नियत काल आता है

और यह शव-समान शरीर छूट जाता है, तो फिर अपने ज्योति-स्वरूप में स्थित होता है। फिर नहीं उठता, तो भी माया-वृत्तियों के कारण यह सत्यकाम और सत्य संकल्प तो रोंगे-छोंगे में मुफ़्त कल्पित मिल जाते हैं। वह नहीं चाहता, लेकिन पाता है। वह नहीं माँगता, मगर वही मालिक है, क्योंकि ये सब उसी की परछाईं या छाया हैं। मनुष्य कब प्रबंध करता है कि मेरा छाया मेरे साथ फिरे, किंतु जहां जाता है, छाया साथ होता है।

(२८) इसी तरह विदेह मुक्त भी नित्यमुक्त, त्रिगुणातीत, माया की ओर दृष्टि भी नहीं करता, तो भी माया बेचारी उसी की छाया कहाँ जाय? बिना उसके आश्रय नहीं देखती, उसीकी शरण उसी की आज्ञाकारिता में संसार से ले ब्रह्म-लोक तक वह उसमें कल्पित करती ब्रह्मलोक और सत्यकाम आदिक आरोपित करती है। इस तरह यह द्यौलोक का साम्राज्य ऐसे ज्ञानी को मुफ़्त रोंगे-छोगे में मिल जाता है, जो कर्मकांडियों को मज़दूरी में भी नहीं मिलता। क्योंकि मज़दूर का हक़ मज़दूरी है। जितनी मज़दूरी करता है, उतनी पाता है, अंत में धकेल कर निकाल दिया जाता है। यह ज्ञानी तो घर का और बाग का स्वामी है, अनन्त काल तक घर में और अपनी महिमा में रहता है।

(२९) ऐ लोगों! वह जो आत्मा के इच्छुक हैं और घर-बार छोड़कर ब्रह्मचर्य करते हैं, और उस आत्मा को अपने हृदय में ढूँढ़ते हैं, और इस झूठ दरवाज़े को जिसमें यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प बंद किए गए हैं, खट खटाते हैं। यदि उनको पूर्ण गुरू जो उसकी शिक्षा दे सकता है मिल जाय, और नक़्द स्पष्ट कर दिखावे, तो मुक्ति तो उनका अपना निजी स्वभाव है, और ब्रह्मलोक तथा सत्यकाम

आदिक मुक्त मिल जाते हैं, किंतु वह भी जो ब्रह्मचर्य करते हैं और बिना पहचान के भी इस बात पर विश्वास करते हैं कि "मैं शुद्ध सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्म हूँ, मेरे में ये सब कल्पित हैं" और इसके साथ ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यदि सकुटम्ब हैं, तो कर्मकांड का भी पालन करते हैं। वह भी मृत्यु में देवयान सड़क पर चलते, ब्रह्मलोक को जाते, वहाँ के आनंद उड़ाते हैं, और स्वयं ब्रह्मा से शिक्षा पाते आत्मा को नज़र्द पहचानते हैं, और ब्रह्मा के साथ मुक्त होते हैं।

(३०) * क्योंकि जो यज्ञ है बड़ा है, ऐसा कहते हैं। किंतु ब्रह्मचर्य भी यज्ञ है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से यह आत्मा, जिसकी छाया में सत्यकाम आदि हैं, जाना जाता है। फिर कहते हैं, इष्ट कर्म करने चाहिएँ, किंतु दर्शन (अनुभव) के इच्छुक (जिज्ञासु) को ब्रह्मचर्य ही इष्ट है। क्योंकि इष्ट कर्म वह हैं जिनके करने से उसके असली मनोरथ मिलें। उसका असली अभीष्ट तो आत्मा है और ब्रह्मचर्य से मिल जाता है। इसलिये ब्रह्मचर्य ही इष्ट है।

(३१) फिर कहते हैं कि सत्रायण करना चाहिए, किंतु दर्शन (साक्षात्कार) के इच्छुक (जिज्ञासु) को ब्रह्मचर्य ही सत्रायण है। क्योंकि जो सत्य को पहुँचावे, वही सत्रायण यज्ञ होता है। ब्रह्मचर्य से यह सत्य आत्मा जाना जा सकता है। इसलिये ब्रह्मचर्य ही सत्रायण है। यह दर्शनेच्छुक (ब्रह्मजिज्ञासु) ब्रह्मचर्य करके ही इस सत्य आत्मा को जान लेता है।

(३२) फिर कहते हैं कि मौन अच्छा है। किंतु साक्षा-

* २९ संख्या तक छांदोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के चार खंड समाप्त हुए। अब पाँचवाँ खंड आरंभ हुआ है।

त्कार के जिज्ञासु को ब्रह्मचर्य्य ही मौन है। क्योंकि आत्मा की पहचान करके ब्रह्मचर्य से ही फिर मनन करता है। इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही मौन है।

(३३) फिर कहते हैं कि अनाशकायन यज्ञ अच्छा है। दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अनाशकायन है। क्योंकि जिस यज्ञ से नाश न हो, वह अनाशकायन कहलाता है। ब्रह्मचर्य से वह अविनाशी आत्मा को जानता और पाता है, इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही 'अनाशकायन' है।

(३४) फिर कहते हैं कि अरण्यायन-यज्ञ उत्तम है। किंतु दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही अरण्यायन है। क्योंकि 'अर' द्यौलोक की मदिरा का हौज़ और 'ण्य' सोम सुवन (अमृत का स्रोत) जो ब्रह्मलोक में है, इस यज्ञ के करने से मिलता है जो यहाँ देखा-सुना भी नहीं। पर साक्षात्कार के आकांक्षी को जब ब्रह्मचर्य से आत्मा का साक्षात्कार होता है, तो ब्रह्मलोक और उसके (परं) मदिरा के हौज़ और सोमसुवन (अमृत के सोते) रोंगे-छोंगे में आ जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य ही उसे अरण्यायन है।

(३५) 'अर' और 'ण्य', ये दोनों कुंड या स्रोत ब्रह्मलोक में हैं। 'एरं' एक प्रकार का द्यौलोक का अन्न है जो यहाँ देखा-सुना नहीं। उसकी लकड़ी जो ईश्वरीय वा दिव्य मद देनेवाली है, उसे 'अर' मदिरा बोलते हैं, और वहाँ ही द्यौलोक का अर्थात् दिव्य अश्वत्थ का एक वृक्ष है जो यहाँ संसार में देखा सुना नहीं, उसे सोमसुवन बोलते हैं। उससे जो रस निकलता, स्रोत के रूप में बहता है। वही अमृत है, जिसे खाते देवता अमर होते हैं।

(३६) फिर क्योंकि इसी ब्रह्मलोक में जो यक्षों और

कर्मों से नहीं विजय होता, एक 'पुर' नाम का स्वर्ण का बँगला है, जो यहाँ किसी ने सुना देखा नहीं, और ब्रह्मा ने विशेष लोगों के लिये वहाँ बनाया है, और बड़े-बड़े कर्मकांडियों को भी नहीं मिलता है। किंतु वह जो ब्रह्मचर्य करके आत्मा को जानते हैं,मृत्युमें उसे मुफ्त पा जाते हैं। उन्हीं का वास्तवमें ब्रह्मलोक है। और वही सब लोगोंमें काम-चार अर्थात् स्वतंत्र होते हैं। क्योंकि मृत्युमें ऐसे ज्ञानीके प्राण यहाँ उसकी आत्मामें ही लीन होजाते हैं, और ईश्वर के समस्त प्राण उसमें वायु के समान भर जाते हैं। वह स्वयं ईश्वर, घर का मालिक होजाता है। इसलिये वह सब उसे मुफ्त आ जाते हैं।

(३७) † ऐ लोगो! कान धर सुनो कि जो लोग आत्मा को नहीं भी पहचानते और उस पर निश्चय करते हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ" और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, हम वादा देते हैं कि उनके लिये मृत्यु में ब्रह्मलोक में उत्क्रांति होती है और वह देवयान सड़क पर चलते ब्रह्मलोक में पहुंच जाते हैं। क्योंकि मनुष्य के भीतर जो मांस का टुकड़ा है, जिसे हृदय कमल कहते हैं, उससे बहुत सी सूक्ष्म नाड़ियाँ निकलती हैं और पित, कफ, वात और रक्त से भरी हुई भीतर से चतुर रंग की दिखाई देती हैं।

(३८) क्योंकि कफ का रंग सफ़ेद है, रक्त का लाल, वात का भूरा वा काला, पित्त का पीला। और सब की मिलावट से ये नाड़ियाँ चित महतावी रंग की होजाती हैं। और यह सूर्य भी सफेद, लाल, काली, पीली रंगों की किरणों का सम्मिश्रण है। तिपैहलू शीशे के द्वारा सूर्य की किरणें भी यद्यपि लाल, काली, सफ़ेद, पीली रंग की अलग अलग होकर परीक्षा करनेवाले को मालूम देती हैं, तो भी

† यहाँ से आठवें प्रपाठक का छठा खण्ड आरम्भ होता है।

उसकी किरणें सात रंगों की मिलावट से चित महताबी रूप होकर मनुष्य की नाड़ियों के भीतर भी फैली हुई हैं और उन्हें गरम करती और रंगीन बनाती हैं।

(३९) यह मत समझो कि जब सूर्य अस्त होता है, तो किरणें लय हो जाती है। निस्संदेह प्रत्यक्ष में किरणें सूर्य की लय हो जाती हैं, तो भी उसकी प्राण-शक्ति, जो संसार की जीवनी है, संसार में उसी तरह फैली रहती है, इसलिये हम जो यहाँ मनुष्य की नाड़ियों में सूर्य की किरणें प्रविष्ट हुई विज्ञापन में वर्णन करते हैं, वही किरणें प्राण-शक्ति की हैं जिससे मनुष्य जीवित रहता है। और जब प्राण-शक्ति की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं, सो यहाँ शरीर में भी प्राण-शक्ति बुझ जाती वा लय हो जाती है, और शरीर मृतक हो जाता है, और चिकित्सक चिकित्सा से हाथ उठा लेता है। ऐसी उष्णता की किरणों से रात-दिन नाड़ियाँ गति करती, बाहर की वायु को अपने आहार के लिये खींचती हैं।

(४०) ये प्राण-शक्ति की किरणें जो सूर्य से नाड़ियों में हृदय तक और हृदय से रगों की राह सूर्य तक तार-तार तनी हुई हैं, उसी तरह तानी गई हैं जैसे एक बिजली का तार लाहोर से दिल्ली तक ताना जाता है, और उस बिजली के तार द्वारा आँख की झपक में खबर दी जाती है, और फिर रेल लोहे की पटरियों पर चलती है।

(४१) जब यह आत्मा का श्रद्धालु (निश्चय करनेवाला), जो ब्रह्मचर्य का पालन करता उसी में आचरण करता है और अंत तक उसी में वृद्ध होजाता है, और मृत्यु का समय आता है, तो पहले अपनी इन्द्रियों को दिल में एक करता है, और फिर दिल में उन छिद्रों से जो दिल के कान कहलाते हैं, दाहिने कान के द्वारा देवलोक में चलने को तत्पर होता है,

और अपने निश्चय और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्रह्मलोक के जाने का और ब्रह्मज्योति का संकल्प करता इस बिजली के तार पर सवार होता ठोकर मारता है, और प्राण बिजली की तरह इन तारों से फैलते उस नाड़ी से जो मुख्य करके मस्तिष्क में खोपड़ी (कपाल) तक गई है, फैलता और दरज़ों (छिद्रों) से बाहर निकलता सूर्य की तेज पूर्ण किरणों के द्वारा, जो बिजली के तारों की तरह तनी हैं, पहले सूर्य के स्टेशन में, वहाँ से दूसरे लोकों के स्टेशन में, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में इस तरह जल्दी जा पहुँचता है जैसा कि ब्रह्मलोक के ध्यान में मनोवृत्ति झटपट ब्रह्मलोक में जा पहुँचती है। यही उसकी उत्क्रांति है। और यही ब्रह्मलोक का द्वार है।

(४२) यह कब होता है? जब यह प्राणान्त के समय अचेत होता है, वरन् निकटवर्त्ती लोग जो पास बैठे होते हैं उसे बुलाते हैं और कहते हैं कि "ऐ पिता! तू पहचानता है, मैं तेरा पुत्र हूँ?"; पिता कहता है—"ऐ पुत्र! तू जानता है, मैं तेरा पिता हूँ?"; किंतु वह जब तक इन सूर्य की किरणों के तार पर ठोकर देकर ब्रह्मलोक में अपने संकल्प की खबर नहीं देता, तब तक तो थोड़ी आँखें वह खोलता है; परन्तु जब वह हृदय के भीतर से उठकर प्राण छकड़े पर सवार हो जाता है, जो वास्तव में द्यौलोक की रेलगाड़ी है, और प्राण-शक्ति की बिजली के तारों के द्वारा ब्रह्मलोक में अपने चलने की खबर देता है और पहुँच जाता है, तो फिर आँखें नहीं खोलता।

(४३) जब यह इस तरह हिलाने जुलाने पर भी आँखें न खोले और मृतक के समान पाया जाय, और नाड़ियाँ भी बंद होजायँ, तो जाना जाता है कि अब दिल को, जो उसकी मुख्य राजधानी है, छोड़ दिया है और प्राण-रूप रेलगाड़ी

पर सवार होगया है, अब क्योंकर इस ब्रह्मपुरि में गति हो? क्योंकर आँखें खुलें? घर का मालिक तो रकाब पर पैर रक्खे हुए है, उसकी बला से घर को कोई कुछ करे, जलाओ चाहे तोप दो। और फिर यह ब्रह्मपुरि (अर्थात् देह) मल और विष्ठा का घर होजाता है, और सड़ान्द का खाद रह जाता है। यदि उसको अग्नि में न होम किया जाय, तो उसी प्राण-रूप रेल के चलने से, जो उसकी असली मूर्तियों का तत्त्व-रूप रस साथ ले जाती है, वह फूल जाता और गंदा बदबूदार हो जाता है।

(४४) वह जो उसकी सवारी का हाल जानते हैं, देर नहीं करते, उसे अग्नि में होम कर देते हैं और उसकी असली तरलता (रस) अग्नि में अग्नि और फिर दिन में दिन होती चली जाती है। यही एक लोहे की पटरी प्राण-रूप रेल की है जिसे संस्कृत में देवयान सड़क बोलते हैं, जिसका उल्लेख हम कर्मकांड में कर चुके हैं। और इसी तरह यह स्टेशन-स्टेशन करके सूर्य के स्टेशन में जा पहुँचता है। और फिर स्टेशन पर उससे भेंट करने के लिये देवता आते स्वागत-शुभागमन बोलते हैं, और अग्नि देवता उसके रेल के इंजिन में ड्राइवर होता सूर्य में ले जाता है। और सूर्य में ब्रह्मलोक से ब्रह्मदूत उसके स्वागत के लिये आता और ऊपर के लोकों को ले जाता है। इस तरह यह सूर्य आत्मा के श्रद्धालुओं (निश्चयात्माओं) का ऊपर जाने का पहला बड़ा स्टेशन है और भूर्खों को रोकने वाला है। बिना इस बुद्धि के यहाँ कोई नहीं जाता।

(४५) बरन् वह जो आत्मा की ईश्वरता पर संशयात्मा हैं और शुभकर्म भी करते हैं, उनको टेढ़ी रगों से, क्या आंख, क्या नाक, उत्क्रांति होती है, और अग्नि से उनका

मार्ग सोमलोक को पितृयान सड़क से फटकता है। वह सोमलोक को चले जाते हैं। और वह जो न निश्चयात्मा होते हैं, न शुभकर्म करते हैं, मल-मूत्र के द्वारों से निकलते हैं और अग्नि से अधोमार्ग में चले आते हैं, कीट-पतंग होते मरते-जन्मते हैं।

(४६) किंतु वह जो इस आत्मा का परिचय पाते हैं, चाहे शुभकर्म करें या न करें, कुछ परवाह नहीं, माफ़ है। वह तो जबरदस्त लोग हैं। ज़बर्दस्त लोग तो कहीं नहीं चलते। वहीं ब्रह्मलोक को छीन लेते हैं। इसलिये उनको तार और रेलें कुछ सहायता नहीं देतीं। बरन् वह तो जब समय आता है, अपने प्रताप और बल को दिखाते द्यौलोक के साम्राज्यपर बलात्कार से अधिकार पाते हैं। यहाँ ही हृदयाकाश के भीतर क्या तारें, क्या रेलें, क्या प्राण, सभी फूँक देते हैं, क्योंकि उनके प्राण उनके आत्मा में इस तरह जल जाते हैं जिस तरह पानी की बूंदे तवे पर जल जाती हैं, और बाहर के अधिदैविक प्राण और ईश्वरीय शक्तियाँ बरन् सारी माया उसी तरह उसके बदले खिंची चली आती हैं जिस तरह एक स्थान की वायु के हलका होकर उड़ जाने से देश-देश की हवाएँ वहीं खिंची जाती हैं और उसी जगह को पूरा करती हैं।

(४७) ऐ लोगो ! ऐसे ज्ञानी बलवान् का प्रताप यह है कि वह यहां से जाता नहीं, बरन् नित्य अमर होता है। वह संक्षिप्त साम्राज्य को अपने से निकालता है, द्यौलोक का बड़ा साम्राज्य यों ही परिछाईं की तरह उसमें आ जाता है। यही वास्तव में संपन्न है और यही घर का मालिक है। इसी के सब आज्ञाकारी हैं।

(४८) ऐ लोगो ! हम इस विषय में प्रमाण के लिये वेद

का मंत्र भी देते हैं। लिखा है कि हृदय कमल में एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक नाड़ी है जो मस्तिष्क की खोपड़ी (कपाल) में जा लगी है। उससे उत्क्रांत होता अमृत होता है। दूसरी नाड़ियां टेढ़ी दूसरे छिद्रों में हैं। यह दूसरे लोकों के जाने में उत्क्रांति के मार्ग हैं। किंतु ज़बर्दस्त लोग स्वयं नहीं जाते और न उन के प्राण उत्क्रांत होते हैं। उनके प्राण तो आत्मा में जाते हैं और बाहर के प्राण वहीं भर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा ने आरंभ में सर्व-साधारण में विज्ञापन करके विज्ञापित कर दिया और लोक परलोक अथवा स्वप्न-जागृत में इसी विज्ञापन का ढिंढोरा पिटवा दिया जिसमें किसी को इस प्रसाद (फ़ज़ल) और प्रतिज्ञा से बेखबरी का बहाना न रहे, और ऐसा ही होगया।

(४९) † जब यह विज्ञापन सब में विज्ञापित होगया और घोषणा करने वाले इस बड़े वादे की घोषणा करते थे और सबको न्याय (कर्मकांड मार्ग) से निकालकर प्रसाद (ज्ञानकांड) की ओर बुलाते थे, तो परलोक वा देवलोक (इन्द्रलोक) में एक कोलाहल मचगया। देवता सुरलोक में और असुर राक्षस लोक में सुनते संकल्प करते थे कि चलो हम इस प्रसाद में प्रवृष्ट हों, हम इस प्रसाद में प्रवेश करें। अंत में देवताओं ने मिलकर अपने राजा देवराज इंद्र के पास सभा की और उधर असुरों ने अपने राजा असुर-राज विरोचन के पास सभा की।

(५०) देवताओं ने कहा कि यदि हम प्रसाद में प्रविष्ट हों, तो हमारी जय है, और असुरों ने कहा कि यदि हम इस प्रसाद में प्रविष्ठ हों तो, हमारी विजय है। किंतु इधर

---

† यहाँ तक छांदोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के छः खंड समाप्त होगए अब सातवां खंड आरंभ हुआ।

तो देवराज इंद्र और इधर असुरराज विरोचन तैयार हुए, (इन दोनों ने) कहा, ऐ भाइयो ! तुम अपने-अपने पद और नियम पर राज्य का प्रबंध रक्खो, हम जाते हैं, अपने पिता ब्रह्म से आत्मा की शिक्षा पा आते हैं। और हम तुम सबको यहाँ ही लौट आकर शिक्षा दे देंगे और इसके शिक्षालय जारी कर देंगे, और इसके शिक्षक नियुक्त कर देंगे।

(५१) फिर दोनो देवता और असुर अर्थात् देवराज इंद्र और असुरराज विरोचन ब्रह्माजी के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये गए। किंतु यह ज्ञात रहे कि दोनों परस्पर विरोधी थे, अनुकूल नहीं थे; तो भी इस दृष्टि से कि तीन लोक के राज्य से ब्रह्मविद्या की बड़ाई बड़ी है, अपने बड़े-बड़े भोग छोड़कर ब्रह्मचारियों के रूप में लकड़ियों के बोझे सिर पर उठाए हुए प्रजापति के पास आए और ३२ वर्ष प्रथम शिक्षक की सेवा—शुश्रूषा में ब्रह्मचर्य करते रहे।

हा शोक ! इस ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के लिये देवराज इंद्र और असुरराज विरोचन ने, जो तीन लोक के समान राज-काज का भोग छोड़ दिया और ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया, वर्तमान काल के भाषा जानने वाले छोटे घरों और छोटी जायदाद को भी इसकी चाह के लिये नहीं छोड़ते, और न किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करते और उससे इस बड़े प्रसाद की जिज्ञासा करते हैं।

(५३) जब ये दोनों महाराजा इस तरह ब्रह्मचारी होकर ३२ वर्ष प्रथमाचार्य के निकट रहे, तो प्रजापति ने उन्हें एक दिन अधिकारी समझकर कहा कि किस प्रयोजन के लिये और क्या चाहते हुए तुम यहाँ आ रहे हो ? तो उन्होंने कहा कि जो आपने आत्मा की पहचान का विज्ञापन दिया है और वादा (इकरार) किया है कि उसकी पहचान

से सब मनोरथ मुफ्त मिलते हैं और सब लोकों में कामाचार और पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं, उसी को पूछने और पहचानने के लिये हम आए हैं। कृपा करके हमको वह आत्मा दिखा दो।

(५४) जब ब्रह्मा ने कहा कि मेरी आँख में देखो, जो यहाँ इस समय आँख में बैठा है, वही आत्मा है और यही अमृत है, यही ऐश्वर्यवान् है, यही ब्रह्म है। उन्होंने जो आँख की ओर दृष्टि की, तो एक पुतली पाई जिसके कारण मनुष्य का प्रतिबिंब नेत्र में दिखाई देता है और जिसे आँख की पुतली बोलते हैं।

(५५) प्रजापति का तात्पर्य तो यह था कि जो जाग्रत् के समय आँख में बैठ कर देखता है, वह आत्मा है। क्योंकि देखनेवाला केवल आत्मा है, जो दिखाई देता है वह आत्मा नहीं हुआ करता। किंतु उन्हों ने यह तात्पर्य तो नहीं पाया, उसकी आँख में दृष्टि की, तो आँख की पुतली के दर्पण में अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखा और शरीर को ही आत्मा समझ लिया। यह नहीं ख़याल किया कि जो हृदय-कमल के भीतर हृदयाकाश के सिंहासन पर देखनेवाला कारण-कार्य से रहित (निरुपाधि) आत्मा है, वही नेत्र में प्रतिबिंब की भाँति आया सब को देख रहा है, अन्यथा आँख की क्या शक्ति है जो देखे। यदि आँख देखती होती, तो अंधा भी देखता, वरन् देखनेवाला जो शरीर में दीप्तमान है, वह आत्म-पुरुष है।

(५६) जब उन्होंने इस रहस्य को न समझा, वरन् इसके विरुद्ध अपने शरीर के प्रतिबिंबको जो आँख की पुतली में है, पाया, तो उन्होंने पूछा—"भगवन्! क्या यह जो साफ़ पानियों में और साफ़ शीशे में दिखाई दिया करता है, आत्मा

है?" ब्रह्मा ने कहा है कि यह जो मैंने बताया है, इन सब में है (अर्थात् नेत्र आदि में)।

(५७) ब्रह्माजी का तात्पर्य तो यह था कि यह जो देखने वाली ज्योति है, और जाग्रत में खयाल पर सवार हुई नेत्र में विराजमान होती है, जिस वस्तु को देखना होता है, नेत्रों से विचार और दृष्टि,किरणों की नाई, दिखाई देनेवाली वस्तु पर जा लगते हैं, और उनको यह देखनेवाला आत्मा, ज्योतिषों ज्योति, उसी तरह उन से एक होता प्रकाशित करता है जिस तरह धूप या दिन का उजाला भी दीवाल पर पड़ता उसे प्रकाशित करता है। जब इस तरह साक्षी आत्मा दृश्य पदार्थों पर घेरा करता उससे एक होता है, तो यही वास्तव में देखना कहलाता है।

(५८) किंतु शोक है कि सृष्टि यद्यपि प्रत्येक वस्तु के देखने में पहले इसी आत्म ज्योति के प्रकाश को देखती है, पीछे वस्तुवों को देखती है, तो भी इसे देखते हुए को नहीं देखती। क्योंकि जब किसी से दीवाल की ओर उँगली करके हम पूछते हैं कि यह क्या है? तो वह यही कहता है कि दीवाल है या कोई दूसरी वस्तु है। यह नहीं कहता कि यहाँ एक आत्मप्रकाश है, उस में दीवाल प्रकाशमान दिखाई देती है। परंतु वह जो जानते हैं, पहले आत्मज्योति, फिर दिन का उजाला और तदुपरान्त दीवाल को देखते हैं।

(५९) इसी तरह यह प्रतिबिंब जो जलों में दिखाई देता है, या यह प्रतिबिंब जो शीशे में दृष्टिगोचर होता है, पहले उस में देखनेवाले का प्रकाश, जो आत्मप्रकाश है. दिखाई देता है। फिर दिन का उजाला, फिर प्रतिबिंब दिखाई देता है, अन्यथा अँधे को अँधेरे में भी यह प्रतिबिंब दिखाई देना चाहिए। ब्रह्मा ने तो इस आत्म-प्रकाश को जो

उन प्रतिबिंबों में घेरा करता दिखाई देता है, देखकर कहा कि हाँ यही आत्मा जो मैंने अपनी आँखों में देखनेवाला बतलाया है, इन सभों में एक होता देखता है, वही तुम देखो। किंतु उन्होंने उन्हीं लोगों की तरह जो दीवाल तो देखते हैं, उसके साथ दिन के प्रकाश को देखते हुए भी नहीं देखते, इस देखने वाले आत्मा को न देखा, वरन् यही निश्चय किया कि यही शरीर जिसकी परिछाई आँख या निर्मल जलों या दर्पण में दिखाई देती है, आत्मा है, जो अमृत है। और इसी पर मुक्ति अवलंबित है, और इसी से वह सत्य-संकल्प होता है।

(६०) इस लिये ब्रह्मा ने जान लिया कि यद्यपि ३२ वर्ष उन्होंने मेरे पास ब्रह्मचर्य किया है, किंतु भोगी राजा हैं और बड़े-बड़े पापों की वासना उनके मनों में है जिसके कारण उनकी अंतर्दृष्टि मलिन हो रही है। इसी कारण यह आत्म-ज्योति को देखते हुए भी नहीं देखते और मेरी वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनते, और मेरे तात्पर्य को समझते हुए भी नहीं समझते। उन्हें अभी अधिक ब्रह्मचर्य करना चाहिए। किंतु यदि मैं इस प्रकार कहता हूँ कि तुम अबोध हो, मेरे तात्पर्य को नहीं समझते, तो राजा होने अथवा विद्या की अधिकता के अभिमान से अप्रसन्न होंगे। संभवतः इसी अप्रसन्नता के कारण इनका चित्त आत्मा की जिज्ञासा की ओर से हट जाय। इस लिये इन्हें ऐसे ढँग से कहना चाहिए कि अपने आप अपनी भूल को समझ लें और दुबारा ब्रह्म-चर्य करें।

(६१) शोक! कि प्रथम तो भाषा जाननेवाले इसकी कामना नहीं करते, यदि करते हैं, तो साधुओं का बचन नहीं समझते। और शोक है कि साधु भी उन्हें अयोग्य और निर्बुद्धि कहते हैं। और वह अपने पाश्चात्य विद्या के घमंड

में आकर उन्हें मूर्ख जानेत उन से पूछते नहीं। यही बड़ा आवरण उन के पापों से पड़ा हुआ है। किस प्रकार यह अनुग्रह मिले और किस प्रकार आत्म-दर्शन पावें, जिस पर सब मनोकामनाएँ मुफ्त मिलती हैं और उक्त विज्ञापन की बड़ी प्रतिज्ञा में प्रविष्ट होते हैं।

(६२) इसलिये श्री ब्रह्माजीने उन्हें आदेश किया कि तुम स्वच्छ जलों और स्वच्छ दर्पण में आत्मा को जो मैंने कहा है देखो और देख, कर सोचो, और सोच कर यदि कुछ संदेह रहे, तो मुझे बताओ। उन्होंने इसी तरह किया। स्वच्छ जलों और निर्मल दर्पणोंमें दृष्टि की और कुछ न कहा। तो ब्रह्माजी ने कहा कि तुमने क्या देखा? उन्होंने कहा कि हमने अपने आप को सब प्रकार देखा। क्या शिर क्या मुँह क्या हाथ पावँ बरन् नख से लेकर केश तक भी देखा। यह हमारे आत्मा की ही पूर्ण उपमा है।

(६३) तब ब्रह्माजीने सोचा कि सोचने से भी उन्हें समझ नहीं आई। अभी बड़े-बड़े पाप इनके भीतर हैं, किस प्रकार समझ जायँ। इसलिये आदेश किया कि जिस तरह आप घरों में अच्छे-अच्छे वस्त्र और उत्तम-उत्तम भूषण पहनते हो, पहन कर फिर पानियों और दर्पणों में दृष्टि करो। उन्होंने ऐसा ही किया और पूछा कि तुमने क्या देखा। उन्होंने उत्तर दिया कि भगवन्, जैसे हम उत्तम वस्त्र और उत्तम भूषणों के साथ थे, वैसे ही दिखाई दिये।

(६४) ब्रह्माजीने कहा कि तुम अपने कपड़े और भूषण उत्तार दो और शिर मुँह मुँड़ा दो, और नख तथा रोम भी उत्तार दो, जैसा कि ब्रह्मचारी करते हैं, मूँडे हुए उनमें दृष्टि करो। उन्होंने ऐसा ही किया। पूछा, क्या देखा? उन्होंने उत्तर दिया कि भगवन्, जैसे हम मूँड़े हुए और नाखुन उत्तारे

हुए नग्न थे, वैसे ही दिखाई दिये। इस लिये यह शरीर हमारा आत्मा है। यही अमृत है और यही सम्पन्न है। और यही ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्मा ने उनसे उपहास वा उपालम्भ की भांति कहा कि ऐ बुद्धि के अंधो! यदि यही आत्मा है, तो वह हर किसी को ज्ञात है, फिर क्यों उसकी जिज्ञासा के लिये ब्रह्मचर्य करते हो? सोचो कि यह आत्मा नहीं; किंतु उन्हों ने यह नहीं समझा, बरन् उल्टा ढाढ़स पाया समझ कर चले आए।

(६५) जब वह दूर निकल गए और आनंद के मारे फूले जाते थे, तो श्री ब्रह्माजी ने टेढ़ी दृष्टि से उन्हें देखकर कहा कि यह मुझे मिलते हुए भी नहीं मिलते जाते हैं और आत्माको नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। यही केवल गूढ़ अन्धकार वा अज्ञान में नहीं रहेंगे, बरन् जो मुझसे सुना है, उसी को अपनी जाति में भी सिखावेंगे। और यही स्वर्गीय बचन उनके लिये प्रतिज्ञापत्र होगा। आप तो खाद में हैं, दूसरों को भी खाद में गिरा देंगे जैसा कि अंधा अंधे को ले जाता है, तो खाद में दोनों गिरते हैं। इसी तरह दूसरे भी डबल अज्ञान में फँसेंगे, जिसकी फिर चिकित्सा कठिन है।

(६६) यह न मान लेना चाहिए कि सत्यवक्ता ब्रह्मा ने क्यों कह दिया कि यही जो उन्हों ने समझा है आत्मा है, और यही अमृत है और यही पूर्ण है। बरन् जैसा पिता मुहाविरे में अपने पुत्र को, जो शत्रुओं के पास जाता है और वह बार–बार मना करता है और नहीं मना होता है, तो उसे कहता है कि जा उन्हीं के घर झख मार, और फिर चुप हो जाता है, कुछ नहीं कहता। इसी तरह ब्रह्मा ने भी कह दिया कि यही आत्मा है, यही पूर्ण है, यही

ब्रह्म है, जाओ।

(६७) क्योंकि मुहाविरा जाननेवाले जानते हैं कि सत्यवक्ता पिता का इस वचन में यह तात्पर्य नहीं है कि शत्रुओं के घर जावे और मछली खावे, बरन् बार-बार उपदेश को जो नहीं समझता अपना दुख दिखाता है कि यदि बुद्धिमान् बालक है तो मेरा दुख समझ कर ऐसा नहीं करेगा। इसी तरह श्रीब्रह्मा जी ने भी बार-बार तदबीरें की, किंतु वह न समझे, तो फिर ज़रा शेष जतलाया और उनके पापों के कारण जो भीतर थे, अधिक समझाना निष्प्रयोजन ख्याल किया, और जबतक अपने आप नहीं समझें कि हमारी समझ गलत है उन्हें बेसमझ कहना और ब्रह्मचर्य की आज्ञा देना अच्छा नहीं, क्योंकि त्रिलोकीराज के अहंकार के कारण उलटे सामना करने को उठेंगे।

(६८) चुप इसी लिये होगए कि यदि इनके कोई अच्छे कर्म भी होंगे, तो नियत समयपर अपने आप मेरी बात को फिर सोच करेंगे और जान लेंगे कि जब अच्छे वस्त्र और अच्छे भूषण पहने, तो दर्पण और जलों में छाया भी अच्छे वस्त्र और अच्छे भूषण से पाई, और जब मूँड़ मुड़ाये नख उतारे नग्न हुए, तो छाया भी मूँड़ मुड़ा और नग्न दिखाई दिया। तो जिस तरह छाया में वस्त्र और भूषण भी अपने से अन्य जमा हुए एक होते हैं और फिर उतर भी जाते हैं, इसी तरह नख और रोम भी अपने से भिन्न इस शरीर में आते-जाते हैं। नख और रोम ही वस्त्रों की भांति नहीं उतरते, बरन् सब शरीर और सब आंतरिक मनो वृत्तियाँ और इंद्रियाँ और अहंकार भी भिन्न (दूसरे) की भांति नख और रोम और वस्त्र के समान इस देखनेवाले में पहने गए हैं और उसी तरह उतरते हैं। वह जो देखने वाला

प्रकाश है, क्या बाह्य शरीर क्या अंतर मनुष्य सबसे नग्न है। वही आत्मा है।

(६९) किंतु उन्होंने न तो इस रोष को समझा और न इस विवेक को पाया, वरन् उल्टा शिशुवत् धैर्य पाते हुए घर को चले आए। तो ब्रह्मा जी ने समस्त नहीं, वरन् पीछे कहा कि मुझे मिले भी नहीं मिले जाते हैं। आत्मा को नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। क्योंकि यदि सम्मुख ऐसा कहता, तो अहंकार के कारण दुखित होते और सामना करने को भी उठते, पीछे इसलिये आदेश किया कि जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा का विज्ञापन उन्होंने सुना है, मेरा यह वचन भी चलोचल उनके कान तक पहुँच जायगा और अपनी अज्ञानता का परिचय पाकर फिर ब्रह्मचर्य करेंगे और मेरा वचन समझेंगे।

(७०) हा शोक! जब कि देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन को भी पापों के कारण ब्रह्मलोक के वचन समझ में नहीं आते, तो बेचारा भाषा जानने वाला, जो दिन रात पापों में डूबा है किस प्रकार समझ पावे। कोई पूर्व जन्म का पुण्य यदि उठे, तो शास्त्रिय बंधन में रहे और कर्म उपासना करे, तब वचन का भेद पावे।

(७१) अंततः संक्षेप में यह कि दोनों देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन शिशुवत् धैर्य पाकर घर को लौट गए। उनमें असुरराज विरोचन तो महान् पापों से लिप्त था, इस धैर्य को पाता शीघ्र पग खुशी खुशी उठाता अपनी राज-धानी में आ गया, और असुरों से मिल कर उन्हें इस ब्रह्मवचन की शिक्षा दी कि "यही देह अपना आप है, इसी को अच्छे साबुनों से साफ़ करना चाहिए, इसी की पालना करनी चाहिए और उत्तमोत्तम वस्त्र और भूषण पहनाने

चाहिएँ और अच्छे-अच्छे भोजन लड्डू-मेवा तैयार करने चाहिएँ और इसे देना चाहिएँ। हम भाइयो! मनुष्य हैं और ईश्वर के बंदे (दास) हैं।

(७२) मुझे ब्रह्मा जी ने अच्छे-अच्छे वस्त्र और भूषण पहनाए और मुख देखनेवाले दर्पणों में मुझे दिखलाया जिसमें मैं अपना आत्मा देखूँ और उसे देख-देख प्रसन्न होऊँ। ऐ भाइयो! तुम भी इस आत्मा की इस तरह पूजा करो। अच्छे-अच्छे शृंगार और शीशेदार कमरे बनाओ। उसमें उत्तम वस्त्र पहनो, भूषण धारण करो और शीशों में अपने आत्म-सौंदर्य को देखो। यही हर्ष और सजावट परमानंद है। यही कारण है कि मनुष्य दर्पण में मुख देख कर प्रसन्न होता है।

(७३) यह मत ख़याल करो कि यह मर जाता है, बरन् सो जाता है। कभी तो सोता ही जाग उठता है, कभी ऐसा सोता है कि फिर जल्दी नहीं उठता। बरन् जब ब्रह्मा जी स्वयं आवेंगे, तो एक बड़ा नरसिंहा ज़ोर से फूँकेंगे और सब सोए हुए शरीर अर्थात् मृतक जाग उठेंगे और यही उनकी क़यामत (पुनरुज्जीवन वा मृतोत्थापन) है।

(७४) इसलिये जब यह ऐसा सो जाय, जिसे अनजान मरना कहते हैं, तो उसे फिर से साबुन से स्नान कराना चाहिए और उत्तम वस्त्र और कफ़न पहनाना चाहिए। और भाँति के सुगंधित पुष्पसार इतर आदि उसे मलना चाहिए और उत्तमोत्तम संदूक़ में बंद करके धरती में सुरक्षित रूप से गाड़ना चाहिए, जिससे कोई पशु आदि उसे ख़राब न करदे और प्रतीक्षा करनी चाहिए कि नरसिंहा फूँका जाता है। और यह सब उसकी बड़ ज़ोर की आवाज़ सुनते ही उठेंगे और द्यौलोक के पिता ब्रह्मा जी से मिलेंगे और अपनी

करनियों के अनुसार, जैसा कि पहले पिता ने न्याय (कर्म मार्ग की प्रतिज्ञा में कहा है, स्वर्ग और उत्तम अप्सराएँ पावेंगे और भोग करेंगे, और अविनाशी पिता के पास रहेंगे।

(७५) किंतु वह जो द्यौलोक के पिता की बंदगी और नमाज़ (उपासना) करेगा, उस पर क़यामत में प्रसन्न होगा और वह जो उसकी बंदगी और नमाज़ नहीं करेगा, नाराज़ होजायगा। अनुवादक (लेखक) कहता है, शायद यही शिक्षा विरोचन की पश्चिम में फैली है और इसी द्यौलोक की वाणी के विवरण, जो विरोचन ने समझा, ईश्वरीय पुस्तकें कहलाती हैं, और शायद उनकी भाषा में विरोचन को ही जिबराईल या वही कहते हैं, और जो उसकी शिक्षा के बतलाने वाले संसार में हैं, वही नबी या रसूल कहलाते हैं। ईश्वर इनकी रक्षा करे।

(७६) ऐ प्यारो ! असुरराज विरोचन का तो यह हाल हुआ। अब देवराज इन्द्र का हाल सुनिए कि जब वह शिशुवत् धैर्य पाकर लौट आया, तो ब्रह्मा जी के वाक्य को स्मरण करता हुआ और सोचता हुआ दबे पाँव चला जाता था। किंतु अभी तक देवताओं के पास नहीं गया था कि अपने पुण्य कर्मों के कारण से मार्ग में ही उसे सूझी और डरा कि जब द्यौलोक के पिता ने मुझे वस्त्र पहनाया और शिर मुँड़वा दिया, तो पानी और दर्पण में दिखाया। और जब वस्त्र पहना गया था, तो छाया भी वस्त्र के साथ में थी, और जब शिर मुँड़वाया और नख उतारे, तो छाया में भी न तो वस्त्र था न नख और न लोम। और यह सब कुछ छाया में इसी शरीर की भाँति था। और जिस प्रकार शरीर से नख और रोम पृथक् उतर जाते हैं, उसी तरह इसका अंग-अंग भी कटा हुआ उतर जाता है।

(७७) क्योंकि जब शरीर सुंदर वस्त्र पाता है, तो उसका प्रतिबिंब भी आइने (दर्पण) में उत्तम वस्त्रों वाला दिखाई देता है, और जब यह नख उतारता है, तो छाया भी नख उतरी दृष्टिगोचर होती है। जब यह देह कानी होती है, तो छाया भी कानी होती है। जब यह अंधी होती है, तो वह भी अंधी होती है। जब यह शरीर नाश हो जाता है, तो प्रतिबिंब भी नाश हो जाता है। इस में तो मैं कुछ भोग नहीं देखता।

(७८) इस विचार में आया इन्द्र डरा कि मैं पिता के वचन को नहीं समझा कि उसका तात्पर्य क्या है। क्योंकि विज्ञापन में और शिक्षा में वह यही कहते थे कि "आत्मा अमृत और सम्पन्न है, नित्य जीवित है" यह तो शरीर मरने वाला है, नित्य जीवित और अमृत कैसे हो सकता है? और सम्पन्न भी नहीं है। हर प्रकार इसे भय और आवश्यकताएं हैं। भूख लगतेही भोजन न पाये, तो अशक्त हो जाता है। इसमें तो कुछ भी भोग नहीं।

(७९) इसलिये देवराज इंद्र रास्ते से लौट आया और फिर नए सिरे से ब्रह्मचारी होकर शिर पर लकड़ियों का भार उठाए हुए ब्रह्माजी के पास आया। तब ब्रह्मा ने उससे पूछा कि "ऐ देवराज इन्द्र! तुम तो शांति पाकर विरोचनके साथ गए थे, अब किस प्रयोजनके लिये लौटकर आए हो?"

(८०) तब देवराज इंद्र ने कहा कि भगवन्! जब यह शरीर उत्तम वस्त्रों से होता है, तो प्रतिबिंब भी जो आँख में है, उत्तम वस्त्रों वाला होता है। जब यह उत्तम भूषण पहनता है, तो यह भी भूषण वाला होता है। जब यह शिर मुँह मुँडा, नख कटा होता है, तो यह भी सर मुँह मुँडा होता है; इसके अंधे होने से यह भी अंधा हो जाता है।

इसके लंगड़े होने से यह भी लँगड़ा हो जाता है। बल्कि नाश होने से यह भी नाश हो जाता है। मैं तो इस में कुछ भी भोग नहीं देखता।

(८१) तब ब्रह्माजी ने आदेश किया कि शाबाश देवराज इंद्र! इसी तरह है जैसा तुम ने सोचा। इस आत्मा को न तुमने जाना था, न विरोचन ने। अच्छा हुआ जो तुम लौट आगए हो। इस आत्मा को जिस पर मुफ्त सब कुछ मिलता है, दुबारा तुम्हें सिखाऊंगा। परंतु ३२ वर्ष फिर मेरे पास रहो और ब्रह्मचर्य करो, तब समझ में आवेगा। और यह इस लिये कहा कि ब्रह्मचर्य से जो पापों का लेश है, वह दूर हो जायगा। तब आत्मदर्शन सुगम हो जायगा। और इंद्र ने ऐसा ही किया और ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया।

(८२) जब देवराज इंद्र ने दूसरी बार भी ३२ वर्ष का ब्रह्मचर्य किया तो श्री ब्रह्माजीने उसे योग्य पाकर कहा कि ऐ बेटा! जो जगत् में नेत्र के भीतर विराजमान हुआ दिखाई देता है वही स्वप्न में नेत्र से निकलता हुआ बिना नेत्रों के सब स्वप्न के प्रपंच को देखता है। इसलिये वह जो स्वप्न में आया अपनी महिमा को प्रकट करता है, वह आत्मा है। प्रतिबिंब आत्मा नहीं। और यह अमृत है। यही सम्पन्न या पूर्ण है, यही ब्रह्म है। उसके साक्षात्कार पर नक़्द माल मिलता है और मुफ्त सब मनोरथ पूरे होते हैं। तब इंद्र संतुष्ट होकर फिर लौट गया।

(८३) श्रीब्रह्माजी के वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब जाग्रत् अवस्था होती है, तो वह आँख में बैठ कर देखता है, और जब स्वप्न होता है, तो आँख को भी वस्त्र के समान उतार देता है और नग्न हुआ बिना नेत्र के स्वप्न के राज्य को देखता है। यहाँ बिना आँखों के देखता है, बिना कानों

के सुनता है, बिना पावों के चलता है, बिना हाथों के पकड़ता है। जबकि यहाँ न तो आँख रहती है, न कान न पाँव, न हाथ; इसलिये उसका कोई आकार नहीं, बरन् कारण कार्य (क्यों कब) से रहित है। और फिर इस हेतु कि सब को देखता है, सबको सुनता है, सब को पकड़ता है, और सब से अधिक दौड़ता है, अतएव सर्वशक्तिमान, और ज्योतिषां ज्योति है।

(८४) जिस प्रकार कोई एक वस्त्र के पहनने से वस्त्र-धारी हो जाता है, स्वयं वस्त्र नहीं हो जाता, इसी तरह जाग्रत् में नेत्र के भीतर आने से नेत्रवाला हो जाता है, स्वयं नेत्र नहीं हो जाता। और कानों में आने से कर्णवाला सा हो जाता है, स्वयं कान नहीं हो जाता, बरन् सब शरीर में आने से शरीरवाला-सा हो जाता है, स्वयं शरीर नहीं हो जाता, और अहंकार में आने से अहंकारवाला-सा हो जाता है, स्वयं अहंकार नहीं हो जाता। और जिस तरह वस्त्र सहज में उतर जाते हैं उसी तरह क्या आँख, क्या कान क्या शरीर, क्या अहंकार इस से सहज में उतर जाते हैं, उनमें कोई क़ैद नहीं पाता, इसलिये वह नित्यमुक्त है। क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाय, तो जिस तरह पहने हुए वस्त्र पहनने वाले के शरीर में प्रविष्ट नहीं हो जाते, बरन् शरीर तो जैसा है वैसा ही रहता है, इसी तरह नेत्र, नासिका, कर्ण, शरीर, अहंकार में आया हुआ भी अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों बिना आँख, बिना कान, बिना शरीर और बिना अहंकार होता है। इसी कारण वह परम पवित्र है।

(८५) तो भी साधक नेत्र में आनेवाले को नेत्रवाला जानता है, किंतु वह नेत्रवाला नहीं बरन् नेत्रवाला-सा होता है। कान में आते को कानवाला ख़याल करता है, किंतु वह

कान वाला नहीं, बरन् कानवाला-सा होता है। अहंकार में आते को देखकर अहंकारवाला खयाल करता है, किंतु वह अहंकारवाला-सा होता है। शरीर में आते को वह शरीरवाला-सा खयाल करता है, किंतु वह शरीरवाला-सा होता है। जिस तरह मुँह दिखानेवाले दर्पण में वह मुँह शीशे के भीतर नहीं आ जाता किंतु भीतर आया-सा खयाल होता है; इसी तरह वह आँख, कान, नाक, शरीर और अहंकार में कभी नहीं उतरा, किंतु उनमें उतरा सा खयाल होता है। अतः वह नेत्रों में उतरा नहीं बरन् भाषा जानने वालों के दर्शन के लिये उस में प्रकट हुआ है, जिससे दर्शनाभिलाषी यहाँ उसका दर्शन पावे और प्रसाद में प्रविष्ट हो जाय।

(८६) वह जो इस तरह आँख कान नाक मुँह शरीर में प्रकट होते को भी क्यों रूप से रहित नहीं देख सकता, उसे चाहिए कि जाग्रत् स्वप्न में अन्वय-व्यतिरेक के नियम से उसे पहचान लेवे, क्योंकि जब वह जाग्रत् में आता है, तो आँख नाक मुँह बरन् सारे शरीर के आकार में आता है। किंतु ये रूप उसके अपने नहीं, बरन् भिन्न हैं, क्योंकि जब वह स्वप्न में आता है, तो वे आकृतियाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर जाती हैं और स्वप्न प्रपंच के काल्पनिक रूप उसमें प्रकट हो जाते हैं। और फिर स्वप्न की आकृतियाँ भी उसकी अपनी आकृतियाँ नहीं, सब भिन्न हैं, क्योंकि जब स्वप्न से निकलता जाग्रत् में आता है, तो स्वप्न की आकृतियाँ भी उसी तरह उतर जाती हैं जिस तरह जाग्रत् की उतर जाती हैं। और जो वस्तुएँ जिस वस्तु से पृथक् हो जाती हैं, वह उसका आत्मा नहीं होतीं, बरन् भिन्न अनात्म होती है।

(८७) इसलिये कि जाग्रत् और स्वप्न के आकार सब

भिन्न हैं (क्योंकि जाग्रत् के आकार स्वप्न में और स्वप्न के आकार जाग्रत् में नष्ट होजाते हैं), तो भी देखना उसका न तो जाग्रत् में नष्ट होता है, न स्वप्न में, बरन् स्वप्न से निकल कर जाग्रत् में स्मरण करता है कि मैंने यह-यह स्वप्न देखा है; तो सिद्ध होता है कि जो स्वप्न में देखने वाला था, वही जाग्रत् में जाग्रत् को देख रहा है। और जिसका अभाव नहीं होता, बरन् प्रत्येक अवस्था में जो पूर्ण रहता है, वही आत्मा है। और इस हेतु कि वह कोई आकृति नहीं रखता, वही क्यों कब (कारण कार्य की उपाधि) से रहित है। इसलिये ज्ञात हुआ कि मनुष्य का आत्मा उपाधि-अतीत द्रष्टा है जो साक्षी है, कर्त्ता भोक्ता नहीं। वह जो अपने आप को इस प्रकार जानता है प्रसाद में आ जाता है, क्योंकि साक्षी पर न्याय की दृष्टि से अभियोग नहीं आता, वह परम स्वतंत्र है।

(८८) श्री ब्रह्मा जी ने यही पहले इन्द्र को विरोचन के साथ इस देखनेवाले को आँख में बतलाया है, किंतु जब वह न समझे, तो फिर स्वयं इन्द्र को अन्वय-व्यतिरेक के नियम से उसी को स्वप्न में सिद्ध किया और आँख कान नाक को नफी बाध्य किया, इसलिये इन्द्र शांति पाकर लौट गया। किंतु मार्ग में पूर्ववत् ब्रह्मा के वचन का स्मरण करता और सोचता जाता था, मार्ग में उसे फिर सोच आई और डरा।

(८९) मार्ग में उसने सोचा कि यद्यपि यह शरीर अंधा-काना होता है, स्वप्न में यह देखनेवाला पुरुष अंधा काना नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में वह विना आँख के देखता है, बिना कानों के सुनता है, विना पाँवों के चलता है, विना हाथों के पकड़ता है, इसलिये क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, क्या मुँह, क्या शरीर, सब के नाश से वह नाश नहीं

होता, यह तो सच है। परन्तु स्वप्न में भी उसे मारते से हैं और धकेलते-से हैं, और अप्रिय को देखता भयभीत वा रुष्ट सा होता है बरन् रोता-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता।

(६०) इन्द्र के सोच का परिणाम यह है कि निस्संदेह आत्मा जो जाग्रत् और स्वप्न में आता जाता है, जाग्रत् के शरीर और स्वप्न के रूपों से पृथक, परम शांत, अविनाशी, नित्य है, न तो शरीर के मरने से मर जाता है न किसी आँख आदि के टूट जाने से अंधा काना हो जाता है, क्योंकि अंधापन वास्तव में आँख का टूट जाना है। तो भी स्वप्न में यह विना आँखों के देखता सिद्ध होता है। इसलिये आँख के अंधेपन से वह अंधा नहीं होता, न तो कान के टूट जाने से वह बहरा होता है, न टाँग के कट जाने से वह लँगड़ा होता है, न शरीर मरने से वह मर जाता है, बरन् शरीर के किसी गुणसे भी वह लिप्त नहीं होता, तो भी स्वप्न में भयभीत-सा होता है। हाथी देखता है, तो भागता है, और गढ़े में गिरता है; कोई बलवान् देखता है, तो उससे मार खाता-सा और धकेला जाता-सा होता है। यद्यपि वास्तव में रोता नहीं किंतु रोता और गिड़गिड़ाता-सा होता है, इसीलिये पूर्ण वा सम्पन्न नहीं है।

(६१) यद्यपि स्वप्न में मार नहीं खाता, किंतु मार खाता-सा होता है; धकेला नहीं जाता किंतु धकेला जाता-सा होता है; और रोता नहीं किंतु क्रंदन विलाप करता-सा होता है। यह भी स्वप्न में उसे एक दोष है। वह पूर्ण नहीं। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता। यह सोचकर फिर लकड़ियों का बोझ उठाकर दुबारा ब्रह्मचर्य और पूछने के लिये ब्रह्माजी के पास लौट आया।

(६२) तब प्रजापति ने पूछा, ऐ इन्द्र ! तुम तो आत्मा की पहचान में शांति पाकर गए थे, फिर क्यों लौट आए ? उसने कहा, ऐ भगवन् ! यद्यपि शरीर के अंधे होने से यह स्वप्न आत्मा अंधा नहीं हो जाता, न काना होने से काना होता है, वरन् शरीर के किसी दोष से दूषित नहीं होता, तो भी यह स्वप्नमें मारता और धकेला जाता सा देखा जाता है और अरुचिकर बातों को देखता है, तो डरता है और रोतासा होता है। इसलिये पूर्ण नहीं। मैं इस में भी कुछ भोग नहीं देखता।

(६३) तब ब्रह्मा ने कहा, ऐ इन्द्र ! शाबाश ! अच्छा सोच किया। अच्छा किया तू लौट आया। मैं तुझे फिर इस आत्मा के विषय में सिखाऊंगा। मेरे पास ३२ वर्ष फिर रहो और ब्रह्मचर्य करो, फिर समझ में आ जायगा। अतः इन्द्र फिर ३२ वर्ष यहां रहा। और ब्रह्मचर्य करता रहा।

(६४) जब इन्द्र ने फिर ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य किया तो श्री ब्रह्माजी ने उसे शुद्ध चित्त और जिज्ञासु पाकर कहा, ऐ इन्द्र ! यद्यपि यह स्वप्न आत्मा मार खाता-सा धकेला जाता-सा रोता-सा स्वप्न में होता है, किंतु जिस तरह जाग्रत उसमें भिन्न है, उसी तरह स्वपप्न भी उसमें भिन्न है। पर खाता-सा, धकेला जाता सा और रोता-सा जो वहाँ दिखाई देता है, उसका अपना गुण नहीं, बरन् स्वप्न का गुण है। जब वह स्वप्न से भी निकल कर घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जाता है, जहाँ न तो कुछ स्वपन देखता है, न कुछ याद करता है, न कुछ इच्छा करता है, बरन् पूर्ण आनंद में होता है, वह आत्मा है। यह ही अमृत है, यही पूर्ण है, यही ब्रह्म है। इसी की पहिचान पर प्रसाद निर्भर है। तब इन्द्र फिर शांति पाकर लौट गया।

(६५) रहस्य की बात यहाँ यह है कि पहिली शिक्षा में जो थी ब्रह्माजी ने आत्मा को जाग्रत् के समय आँख में दिखलाया था, तो क्या शरीर, क्या इंद्रिय, क्या मन, क्या अहंकार, सब में सब बाला-सा था, किंतु स्वप्न में फिर दूसरी बार शिक्षा दी तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, बरन् सब शरीर व सब इन्द्रिय उससे बाधित (दूर) होगए थे, केवल मन बुद्धि चित् अहंकार में प्रकट हुआ स्वप्न में लीला करता-सा रह गया था, और इस मन बुद्धि चित् अहंकार के लक्षण उसमें कल्पित होते थे जिससे इन्द्र का मार खाता-सा, धकेला जाता-सा और रोता-सा दिखाई दिया। बरन् भय और डर जो सब मन के धर्म हैं और बलवान् चित्रों को देखकर अहँकार के कारण मार खाता-सा, रोता-सा धकेला जाता सा, सब उसमें मानता था, अब उसे घोर निद्रा में दिखाया और उसी की शिक्षा दी, जहाँ मन बुद्धि चित् अहंकार भी उस से उसी तरह उतर गए जिस तरह स्वप्न में शरीर और इंद्रिय उतर गए थे।

(६६) यहां घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब मन बुद्धि चित् अहंकार भी उतर गए, तो न यहाँ कुछ सोचता है, क्योंकि सोचना मन का धर्म है, न किसी को जानता है, क्योंकि जानना बुद्धि का धर्म है, न यह किसी को याद करता है, क्योंकि अभिमान का निश्चय अहंकार करता है, आत्मा नहीं करता।

(६७) ऐ भाइयो! वह क्योंकर सोचे? क्योंकर जाने? क्योंकर याद करे? किस प्रकार निश्चय करे? वह जो सोच, ज्ञान, स्मरण, निश्चय के कारण थे, भिन्न थे सब के सब यहाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर गए, तो वह समस्त इन्द्रियों की खानि ज्यों का त्यों निरुपाधि रह गया, जहाँ मन

बुद्धि चित्त अहंकार कुछ भी गति नहीं रखते हैं, इसलिये श्रीब्रह्मा ने मन बुद्धि से भी दूर यहाँ दिखलाया और कहा, वह जो घोर निद्रा (सुषुप्ति) में सोया हुआ पूरे आराम में होता है, यह आत्मा है, यही पूर्ण है। इन्द्र शांति पाकर फिर लौट गया।

(९८) मार्ग में जाता उसी तरह उसकी शिक्षा को स्मरण करता और सोचता जाता था। उसे फिर एक दूसरा दोष सूझा और डरा कि निद्रा में निःसंदेह यह न तो मार खाता-सा, न धकेला जाता-सा, न रोता-सा होता है, वरन् आराम में होता है, तो भी वह न तो अपने आप को जानता है न दूसरे को जानता है। यह भी एक मृतक-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी कुछ भोग नहीं देखता। इस कारण फिर तीसरी बार लकड़ियों का बोझ उठाए हुए फिर जिज्ञासा और ब्रह्मचर्य के लिये ब्रह्माजी के पास आया।

(९९) तब श्रीब्रह्माजी ने पूछा—ए देवराज इंद्र! तू तो अपने आत्मा में शान्ति पाकर गया था, अब फिर किस प्रकार लौट आया? तब उसने कहा—भगवन्! निस्संदेह निद्रा में न तो मार खाता-सा, न धकेला जाता-सा, न रोता सा यह आत्मा होता है, वरन् केवल आनंद में होता है, तो भी उसमें यह दोष दिखाई देता है कि न तो वह अपने आपको जानता है न दूसरे को जानता है, तो यह भी एक मुरदा-सा होता है। मैं इस में भी कुछ भोग नहीं देखता।

(१००) तब श्रीब्रह्मा जी ने कहा ऐ इन्द्र! इसी तरह है, जैसा तुमने सोचा है। मैं इसको फिर तुम्हें दिखलाता हूँ। अब तू पाँच वर्ष फिर मेरे पास रह और ब्रह्मचर्य कर। इस हेतु कि अब थोड़ा आवरण रह गया था, अतः ५ वर्ष कहे।

सब मिला कर १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य किया। इसलिये वेदों में प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०१ वर्ष ब्रह्मा के पास ब्रह्मचर्य किया था।

(१०१) जब देवराज इंद्रने फिर ५ वर्ष ब्रह्मचर्य किया, तो श्री ब्रह्माजी ने उसे योग्य जिज्ञासु पाकर कहा—ऐ इंद्र! आंख देखती है, किंतु अपने देखने का निश्चय नहीं करती। इसी तरह कान सुनते हैं किंतु अपने सुनने का निश्चय नहीं करते। जिह्वा चखती है किंतु अपने चखने का निश्चय नहीं करती। क्योंकि क्या आँख का देखना, क्या कान का सुनना, क्या जिह्वा का चखना। सब का निश्चय मन करता है।

(१०२) देखो, कभी-कभी मनुष्य सोच में होता है और उसकी आँखों के सामने चीज़ें निकल जाती हैं, यद्यपि आँख उनको देखती है मगर मन दूसरे सोच में होता है, इसलिये उनके देखने का निश्चय नहीं करता, बरन् यों निश्चय करता है कि मैं सोच में था। मैं ने तो नहीं देखा, मेरी आँखों के सामने निकल गया।

(१०३) फिर जब कोई बात कहता है और सुनने वाले के कान बात सुनते भी हैं, किंतु मन कहीं सोच में होता है, तो फिर तक़ाज़ा करता है कि जो कुछ आपने कहा, मैं ने सुना नहीं, मेरा मन उपस्थित न था, आप दुबारा वर्णन करें। यद्यपि उसके कानमें शब्द पड़ा था और अवश्य सुना जाता था। पर इस हेतु कि कान अपने सुने हुए को निश्चय नहीं करते, बरन् उनके सुने हुए को निश्चय करने वाला मन उसके सुनने में शामिल (प्रवृत्त) न था, इसलिये कान विना निश्चय सुनते हैं और आँख विना निश्चय देखती है।

(१०४) इसी तरह निद्रा में भी आत्मा जो आनन्दस्वरूप है अपने आप को पाता और देखता है परंतु उस समय अपने आनंद का और अपने अहंकार को निश्चय नहीं करता, क्यों

कि निश्चय करना वा भान करना मन का काम है, वह आत्मा उस समय मन से निकल कर अपने परमानंद में विश्राम लाभ करता है, किस प्रकार उसका निश्चय करे ?

(१०५) जिस तरह ऊपर के उदाहरण में कान वास्तव में सुनते तो हैं, आंख वास्तव में देखती तो है, किंतु उसका निश्चय नहीं होता, इसी तरह आत्मा अपने आप को बरन् समस्त प्रयोजनों (मनोर्थों) को यहां देखता और पाता है, परंतु उसका निश्चय नहीं होता।

(१०६) विचार करने से निश्चय हो सकता है कि जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में यह कहना ठीक है कि वास्तव में कानों ने तो सुना, आँखों ने तो देखा, किंतु मन मौजूद न था, इसलिये उनके देखने और सुनने का निश्चय नहीं हुआ, तो भी निश्चय का अभ्यासी मनुष्य यों कहता है कि जो कुछ मेरी आँखों के आगे से गुज़रा मैंने नहीं देखा और जो कुछ तुमने कहा, मैंने नहीं सुना।

(१०७) इसी तरह जब तुम निद्रा में जाते हो और अपने मुख्य आनंद को पाते हो, तो कहते हो कि मैं ने नहीं पाया। हम तुम यों ही निश्चय करते हैं कि मैं आराम से सोया था। तो चूँकि तुम वहाँ मुख्य आनंद पाते निश्चय नहीं पाते हो और उस प्रकृति के कारण जो निश्चय में अभ्यासी हो रही है, कहते हो कि वहाँ कुछ नहीं देखा और मृतक-सा हो गया था, यहाँ कुछ भोग नहीं। किंतु जब वहाँ वस्तुतः अपना मुख्य निजानंद पाते हो और मन में आप निश्चय भी करते हो कि मैं आनंद में सोया था, इसलिये निश्चय भी दिलाते हो कि वहाँ खूब आराम देखा।

(१०८) जिस प्रकार कोई मनुष्य ऐनक लगाने का अभ्यासी हो जाता है, तो जब उसे कोई पत्र पढ़ना होता है,

तो कहता है कि मुझे ऐनक बिना दिखाई नहीं देता। तो यद्यपि वास्तव में वह अंधा नहीं होता, तो भी ऐनक के द्वारा देखने का अभ्यास उसे हो जाता है, इसलिये उसके द्वारा जो कुछ देखता है, निश्चय करता है।

(१०६) यदि विचार किया जाय, तो देखना काम आँख का है, ऐनक का नहीं। क्योंकि अंधे के पक्ष में ऐनक भी क्या कर सकती है। तो भी अभ्यास के कारण जब ऐनक नहीं पाता, तो बिना उसके कहता है कि मैं अंधा सा हूँ, ऐनक मिलेगी, तो पत्र पढ़ा जायगा, और ऐनक को खोजता फिरता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक पहचान, का निश्चय मन से करता है और यही उसका अभ्यास है। किंतु जब मन नहीं होता, तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता, बरन् कहता है, न मैंने देखा न सुना।

(११०) तुम भी मन के निश्चय के अभ्यासी हो। इस लिये सुषुप्ति में अपने आपको जानते-पहचानते और परमानंद को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं (यद्यपि आँख भी देखती है, तो इसी आत्मा के कारण; कान भी सुनते हैं, तो इसी आत्मा के कारण; जिह्वा भी चखती है, तो इसी आत्मा के कारण; मन भी निश्चय करता है, तो इसी आत्मा के कारण), तो क्या यह आत्मा, जो अपना निजी देखना, निजी सुनना, निजी चखना और निजी निश्चय करना रखता है, अंधा बहरा भूठा हो सकता है? कदापि नहीं।

(१११) बरन् उसकी उपमा तो ऐसी है जैसा कि कोई तेज़ गरम पानी में हाथ लगाए और कहे कि पानी गरम है आग गरम नहीं, तो उसके ज्ञान में अंतर है, क्योंकि पानी

में गरमी तो आग के कारण है। अग्नि तो ठीक गरमी स्वरूप है, पानी में गरमी कृत्रिम है, स्वाभाविक नहीं, इसलिये गरम तो है, परंतु ताप रूप नहीं। अग्नि में तो उष्णता कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है, इसी कारण ताप-रूप कहलाती है।

(११२) इसी तरह जब आत्मा आँख में आता है, तो आँख देखती है, जब यह आत्मा उसे छोड़ता है, तो वह नहीं देखती, इसलिये मालुम हुआ कि आँख में स्वाभाविक देखना नहीं बरन् कृत्रिम है। जैसा अग्नि के संयोग से जल उष्ण होता है, उसी तरह आँख भी इस आत्मा के संयोग से देखती है।

(११३) फिर इस हेतु कि जब आत्मा कान में आता है तो कान सुनते हैं, जब आत्मा उनसे अलग हो जाता है, तो फिर नहीं सुनते। इसलिये ज्ञात हुआ कि कान वास्तव में नहीं सुनते बरन् उनमें सुनना आरोपित है जैसा कि अग्नि के संयोग से पानी में उष्णता आरोपित है।

(११४) फिर इस हेतु कि मन भी तब ही निश्चय करता है जब आत्मा उसमें निवास करता है। जब आत्मा उससे भी निकल जाता है, तो फिर मन भी नहीं निश्चय करता। इसलिये ज्ञात हुआ कि मन का निश्चय भी वास्तविक नहीं बरन् कृत्रिम है, जिस तरह पानी की उष्णता अग्नि से आरोपित होती है।

(११५) और ये बातें उसी समय, जब आत्मा इन सब को छोड़कर निद्रा में एकांत होता है, निश्चय होती हैं कि न तो आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न मन निश्चय करता है, किंतु यह ठीक नहीं है कि आत्मा भी उस समय नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं निश्चय करता, बरन् वह तो

दृष्टि स्वरूप, श्रवण स्वरूप और निश्चय (वा तसदीक) स्वरूप है, जिस प्रकार कि अग्नि भी गरमी-रूप है।

(११६) ऐ इंद्र! उक्ति में दो प्रकार के वाक्य होते हैं। यों भी वाक्य होता है कि पानी गरम है, और यों भी बोलते हैं कि आग गरम है, किंतु विवेकी जानता है कि "पानी गरम है," इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि पानी वास्तव में गरम नहीं, वरन् बाह्य गरमी से गरम है; और "आग गरम है", इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि वह अपनी गरमी से गरम है। वरन् सत्य तो यों है कि उसे गरम भी तब कहें, जब बाह्य गरमी उसमें आई हुई हो। उसे तो यों कहना चाहिए कि वह गरम-रूप या ताप स्वरूप है।

(११७) इसी तरह आँख भी जो देखती है तो दूसरे की दृष्टि से देखती है; कान भी सुनते हैं, तो भिन्न श्रवण से सुनते हैं, जिह्वा भी आस्वादन करती है, तो भिन्न स्वाद से स्वाद लेती है; मन भी निश्चय करता है, तो भिन्न निश्चय से निश्चय करता है; किंतु आत्मा तो भिन्न दृष्टि से नहीं देखता, वरन् अपनी दृष्टि से देखता है, इसलिये दृष्टि-रूप वरन् ठीक दृष्टि स्वरूप है।

(११८) फिर इस हेतु कि आत्मा भिन्न श्रवण से नहीं सुनता, वरन् अपने ही श्रवण से सुनता है, इसलिये श्रवण स्वरूप है। इसी तरह आत्मा भिन्न निश्चय से निश्चय नहीं करता, वरन् अपने निश्चय से निश्चय करता है, इस-लिये निश्चय स्वरूप ही है। बहुत क्या कहें, सब शरीर इसी के अस्तित्व से अस्तित्व में हैं। वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् सब भिन्न अस्तित्व से विद्यमान हैं, इसलिये कल्पित और मिथ्या है। किंतु आत्मा तो भिन्न अस्तित्व से अस्तित्व नहीं रखता, वरन् अपने अस्तित्व से

विद्यमान है,इसलिये अस्तित्व-रूप वा ठीक विद्यमान स्वरूप है।

(११९) क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, क्या मन, वरन् सब शरीर अविद्यमान है और मृत हैं; भिन्न अस्तित्व, भिन्न दृष्टि, भिन्न श्रवण, भिन्न आस्वादन, भिन्न निश्चय, भिन्न जीवन से जीवित देखते सुनते चखते निश्चय करते हैं, और वह जो जिसके कारण से ये जीवित, विद्यमान, सुनते, देखते, चखते, निश्चय करते हैं, यही आत्मा है, यही जीवन-स्वरूप, अस्तित्व-स्वरूप, दृष्टि-स्वरूप, श्रवण स्वरूप, रसनास्वरूप, और आनंद स्वरूप है।

(१२०) जबकि वह जीवन स्वरूप है, तो उसी तरह जिस तरह अग्नि को जो गरमी-स्वरूप है,बोल चाल में गरम कह सकते हैं,इसी तरह इस जीवन को भी कह सकते हैं कि निद्रा में वह जीवित है, और इसी तरह जब कि वह दृष्टि स्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आपको देखता है; जबकि वह श्रवण-स्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आप में आपको सुनता है; जबकि वह आनंद-स्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आनंद में आनन्द पाता है।

(१२१) देखो, मिसरी वास्तव में मधुरता-स्वरूप है, क्योंकि जिस जिस वस्तुमें उसे डालते हैं उसी-उसी वस्तु को मधुर कर देती है। परंतु वे सब वस्तुएँ भिन्न मधुरता से मधुर होती हैं, वास्तव में फीकी होती हैं। इसी तरह ये सब शरीर और अंग और इंद्रियां और मन मृतक हैं, उसी के जीवन से जीवित हैं। किंतु यह तो भिन्न जीवन से जीवित नहीं वरन् अपने जीवन से जीवित है, इसलिये जीवन-स्वरूप है। और जिस तरह मिसरी को भी सर्वसाधारण लोग मिठाई बोलते हैं और दूसरी मिठाई को भी मिठाई बोलते हैं, इस तरह हम भी उसे जीवित निश्चय करें,तो हो सकता है।

(१२२) निदान यही आत्मा सत है; क्योंकि अस्तित्व-स्वरूप है; यही आत्मा चित् है, क्योंकि दृष्टि-स्वरूप है; यही आत्मा आनंद है, क्योंकि आनंद-स्वरूप है। इसी कारण से वेदांतियों में इसकी निजी उपमा सच्चिदानंद है। जिस तरह सूर्य की धूप भी रक्त-स्वरूप, श्वेत-स्वरूप, पीत स्वरूप है किंतु इसका प्रमाण त्रिकोण शीशे के द्वारा होता है, इसी तरह इस आत्मा का भी प्रमाण इस शरीर और मनमें होता है, क्योंकि जिस तरह त्रिकोण शीशे में धूप आती हुई अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न रंग दिखाती है, इसी तरह यह चेतन भी आंख में देखता, कान में सुनता, जिह्वा में चखता, मनमें जानता समझता सोचता निश्चय करता सिद्ध होता है।

(१२३) किंतु जिस तरह त्रिकोण शीशा वास्तव में न तो लाल है, न सफ़ेद, न पीला, उसी तरह न आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न जिह्वा स्वाद लेती है, न मन जानता है, न निश्चय करता है, बरन् सब के सब उसके निजी चमत्कारों के द्योतक हैं और प्रत्येक आविष्कार में (दृश्य वा व्यक्ति) में उसके एक-एक चमत्कार का प्रादुर्भाव है, किंतु घोर निद्रा में तो वह आविष्कार से भी पवित्र, अपने समस्त चमत्कारों में अपने ही स्वरूप में स्पष्टतर है। यही ब्रह्म है। यही समस्त मनोरथों (आशयों) की खान है। क्योंकि उसी के चमत्कार प्रत्येक अव्यक्त में आप उसे पूर्ण (व्यक्त) करते हैं।

(१२४) जब यह प्रत्यक्ष (दृश्य) को छोड़ता है, तो वह सब के सब उसके निजी चमत्कारों के प्रतिबिंबों से रिक्त हो जाते हैं, और यह बिंब जिसके निजी चमत्कार हैं, सब चमत्कारों से तद्रूप हुआ एक अद्वितीय, सब चमत्कारों

की खानि स्वरूप, इस घोर निद्रा में होता है। इस हेतु कि सब मनोरथ, सब चमत्कार उसमें एक होते हैं, यही वास्तव में समस्त गुणों और मनोरथों का पुंज है, और यही ब्रह्म है।

(१२५) यह न मान लेना चाहिए कि कोई भिन्न मनोरथ या भिन्न चमत्कार उस में कल्पित होते हैं, कदापि नहीं। वरन् सब चमत्कार, सब संकल्प, उसके निजी हैं; जिस तरह उष्णता और प्रकाश अग्नि में दूसरे के नहीं, वरन् निजी हैं, क्योंकि एक ही अग्नि चक्षु-इन्द्रिय में प्रकाश का निश्चय पाती है, वही अग्नि त्वच-इन्द्रिय में गरमी का निश्चय पाती है, किंतु चक्षु-इन्द्रिय और त्वच-इन्द्रिय की अपेक्षा (उपाधि) के बिना एक ही अग्नि है। गरमी और प्रकाश और अग्नि कोई भिन्न २ कल्पित गुण नहीं।

(१२६) इसी तरह एक ही आत्मा नेत्र में दर्शन, कान में श्रवण, जिह्वा में स्वाद, मनमें निश्चय की शब्दावली से बोला जाता है, किंतु घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब ये प्रत्यक्ष नहीं होते, तो अकेली अग्नि के समान समस्त चमत्कारों का पुंज एकमेवाद्वितीयम्, अपने स्वरूप में प्रकटतर होता है, परंतु जब तक प्राण और मानवी अंतःकरण का मानवी शरीरमें व्यावहारिक संबंध है, प्रारब्ध-भोग-समाप्ति तक उसका आविर्भाव जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में होता-सा दिखाई देता है। वास्तव में यह एक है। जैसा एक मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है, उसी तरह दूसरे शरीरों में चमकता है; और जैसे मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है, उसी तरह मानवी शरीर तो क्या वरन् पितर गंधर्व देवता प्रजापति और ब्रह्म शरीरों में भी चमकता है।

(१२७) किंतु मानवी शरीर में पैत्रिक कर्मों के कारण जितने साधन (करण) एकत्र हुए हैं उसमें से उस के

उतने ही संक्षिप्त चमत्कार प्रकट होते हैं। पितरों के शरीरों में उससे बढ़कर चमत्कारों के साधन (करण) हैं, इसलिये उसके अधिक चमत्कार प्रकट होते हैं। और फिर गंधर्व तथा देवताओं के शरीर उनसे भी अधिक साधन रखते हैं, उनमें उनकी अपेक्षा भी अधिक उसके चमत्कार प्रकट होते हैं। ब्रह्मलोक में सबसे बढ़कर साधन हैं जिससे बढ़कर दूसरों में नहीं। इसलिये ब्रह्म शरीर में सत्य संकल्प, सत्य-काम, सर्वशक्तिमान् उसके-चमत्कार प्रकट होते हैं।

(१२८) यद्यपि मनुष्य से लेकर ब्राह्म तक भिन्न-भिन्न शरीर हैं, किंतु यह आत्मा अकेला समस्तगुणों का पुञ्ज-स्वरूप सब में एक है। इसी कारण उसको इकलौता बोलते हैं। और प्रत्यक्ष में मनुष्य जिस-जिस उपाधि (व्यक्ति) में उसका ज्यों-ज्यों चमत्कार देखता है, उसे उसी उपाधि का कमाल गुमान करता नाना प्रकार के चमत्कार देखता है। और एक लोक को दूसरे लोक से न्यूनाधिक खयाल करता, निकम्मे लोक, निकम्मे भोग में हानि देखता, बड़े लोक, बड़े भोग की कामना करता उसके मिलने के लिये कर्म करता है।

(१२९) लेकिन वह जो बुद्धिमान हैं और इस संक्षिप्त मानवी शरीर में इस इकलौते, समस्त चमत्कारों के पुञ्ज को जानते हैं और उसी में स्थित होते हैं, सब मनोरथों, सब चमत्कारों को पा जाते हैं। क्योंकि वह निश्चय करते हैं कि जब यही आत्मा नेत्र में प्रकट हुआ देखता है तो क्या सुनने वाला नहीं? यदि वह सुनने वाला न होता, तो क्योंकर कानों में आया सुनता। और यदि कानों में सुनता है, तो क्या देखने वाला नहीं? बल्कि है। क्योंकि यदि देखनेवाला न होता, तो क्योंकर आँख में आया देख सकता।

(१३०) निदान क्या आँख क्या कान क्या नाक क्या

मुख क्या शरीर क्या। सब भिन्न-भिन्न रूपों में आया हुआ देखता सुनता सूँघता चखता छूता होता है। यद्यपि छोटे रूप (उपाधि) दूसरे चमत्कारों के आवरण हो जाते हैं, इसलिये एक रूप (उपाधि) में एक ही कमाल उसका प्रकट होता है, दूसरे कमाल प्रकट नहीं होते, तो भी सब कमाल उसके निजी हैं, किसी रूप वा उपाधि में भी दूर नहीं हो जाते। इसलिये जाग्रत् में जब आँख के भीतर होता है तो मानो केवल देखता है और आँख पुरुष कहलाता है, किंतु उसी तरह उसे सब कमाल प्राप्त हैं, और बुद्धिमान् आँख पुरुष में भी उसे उन्हीं कमालों से जो ब्रह्मलोक में विद्यमान् होते हैं, पहचानते हैं, और उसी आँख पुरुष की उपासना करते हैं।

(१३१) फिर इस हेतु कि जब कान में बैठकर सुनता है देखता नहीं, तो मानो प्रत्यक्ष में केवल कान-पुरुष हुआ सुनने का कमाल देखता है, दूसरे कमालों को नहीं देखता, किंतु भीतर में बुद्धिमान् उसे कानों में भी सारे कमालों से पूर्ण पहचानते हैं, और कान पुरुष को भी ब्रह्मरूप जानते उपासना करते हैं। इसी तरह नाक पुरुष, जिह्वापुरुष इत्यादि को भी स्थूलदर्शी ज्ञान-इंद्रिय जानता उसे दूषित खयाल करता है। किंतु सूक्ष्मदर्शी क्या नाक पुरुष, क्या जिह्वापुरुष सब को सब स्थान में कमालों से पूर्ण पहचानते ब्रह्मरूप करके उपासना करते हैं--

(१३२) ऐ इंद्र! यही आत्मा जाग्रत् में आया अपने सब कमालों से यद्यपि एक होता है, तो भी जिस तरह उसके कुछ कमाल जाग्रत् में स्पष्ट होते हैं, उसी तरह भिन्न जाग्रत के दोष अनजान को उस में दिखाई देते हैं। और यह मनुष्य भिन्न दोषों को अपने में अनुमान (मान) करता विवश-सा

हो जाता है, किंतु ज्ञानी दूसरे के दोषों को बिलुप्त (अप्रकट) देखता हुआ और अपने सब कमालों का निश्चय करता हुआ भी विश्वास करता है कि "मैं पूर्ण हूँ," और अनजान मनुष्य उसके निश्चय में व्याकुल होता है।

(१३३) फिर इस हेतु कि यह आत्म-पुरुष जब जाग्रत् से स्वप्न में जाता है, तो स्वप्न के कमाल उस में प्रकट होते हैं, किंतु स्वप्नके भिन्न दोष भी उसमें प्रकट हो आते हैं। यही कारण है कि तुम्हें मार खाता-सा, धकेला जाता-सा भान हुआ था, क्योंकि मार खाता-सा धकेला जाता-सा वहाँ अन्यके ख्यालके लक्षण थे,जो घोर निद्रा (सुषुप्ति में नहीं रहे।

(१३४) फिर उसी तरह जब वह सुषुप्ति में जाता है, तो सुषुप्ति के लक्षण (दूसरे की बेखबरी और अंधकार के) उस में विद्यमान होते हैं, किंतु उस का मुख्य आनन्द जो परमानन्द और निजी कमाल है, स्पष्ट रहता है, इसी कारण जाग कर यह निश्चय करता है कि मैं ऐसा आनंद से सोया कि कुछ भी खबर न रही।

(१३५) इस निश्चय में आनंद का निश्चय तो अपने कमाल का है, और बेखबरी का निश्चय भिन्न निद्रा का है, क्योंकि यदि बेखबरी और अंधकार भी उसके निज के लक्षण होते, तो जाग्रत् में दूर (अभाव) न होते। वह आनंद तो जाग्रत् में भी सिद्ध है, इसलिये ऐ इंद्र! इस भिन्न सुषुप्ति-दोष से तुझे भान हुआ है कि "वहाँ सुषुप्ति में न तो अपने आप को जानता है न दूसरे को,' बरन् मृतक-सा होता है। इस में भी कुछ भोग नहीं देखता।"

(१३६) तुम को चाहिए कि अन्वय व्यतिरेक के नियम से अंधकार और बेखबरी के दोष को भी इसी तरह भिन्न निश्चय करो जिस तरह जाग्रत् में कानापन, अंधापन,

लँगड़ा पन, भिन्न दोष उस में खयाल किए हैं, या स्वप्न में मार खाता-सा, धकेला जाता-सा, खयाल के भिन्न धर्म निश्चय किए हैं। ऐ इंद्र! अधिक विस्तार होता है, संक्षेप में यह शरीर मरने वाला बरन् मृत्यु-रूपही है और समस्त दोषों का पुञ्ज है, जिस तरह यह आत्मा सारे कमालों (चमत्कारों) का पुञ्ज है।

(१३७) जब तक इस को शरीर से कल्पित संबंध है, तब तक इस के कुछ कमाल उस में और उसके समस्त दोष इस में प्रकट होते हैं। इस संबंध के कारण इस समय में भी शरीर उस के स्पष्ट होने का साधन वा उपाधि सा हो रहा है, और जब तक यह इसी उपाधि से प्रकट होता है, तब तक इसी उपाधि के कारण दोष वाला दिखाई देता है। इसलिये श्रुति कहती है कि जब तक यह शरीर वाला है, तब तक प्रिय और अप्रिय दोनों देखता है, नाश नहीं होते।

(१३८) किन्तु जब यह बिना शरीर के होता है, तो उसे प्रिय और अप्रिय दोनों नहीं छूते, बरन् अपने स्वरूप में जो ज्योति-स्वरूप है स्थिर हो जाता है। अब अशरीरी होना उस का दो प्रकार का है, या तो वह केवल विवेक और ज्ञान से अशरीरी होता है, या मृत्यु से।

(१३९) क्योंकि हम लिख आए हैं कि आत्मा का सम्बन्ध अन्तःकरण और शरीर से कल्पित (भ्रान्ति युक्त) है, और शरीर से अन्तःकरण का सम्बन्ध व्यवहारिक है, और उस के प्रतिबिंब का अन्तःकरण से सम्बन्ध सहोदरता का है। जब यह अन्वय-व्यतिरेकके नियम से अपने परम ज्योति-रूप का ज्ञान पाता है, तो इस ज्ञान से भ्रान्ति वाला सम्बन्ध दूर हो जाता है। किन्तु यह ज्ञान व्यवहारिक सम्बन्ध को दूर

नहीं करता, क्योंकि पहचान से तो केवल भ्रांति दूर होती है, कोई विद्यमान वस्तु दूर नहीं होती। यही ईश्वरीय नियम है।

(१४०) जब यह भ्रान्ति युक्त सम्बन्ध इस तरह ज्ञान से दूर हो जाता है, तो इस सम्बन्ध के पराजय से वह अशरीरी होता है। यद्यपि व्यवहारिक सम्बन्ध के कारण इसी शरीर में यावज्जीवन सैर करता है (क्योंकि जब तक व्यवहारिक सम्बन्ध है तब तक वह जीवित है, और फिर चूँकि प्रतिबिंब का अन्तःकरण से सहोदरता का सम्बन्ध है, अतः जब तक अन्तःकरण है तब तक उस का प्रतिबिंब इस में पड़ेगा। इसी प्रतिबिंब के कारण वह इस शरीर में सैर भी करता है), किन्तु प्रतिबिंब की दृष्टि से वह अशरीरी और नित्यमुक्त रहता है।

(१४१) जब यहाँ के भोग समाप्त हो लेते हैं, तो फिर यह व्यवहारिक सम्बन्ध भी दूर हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है। उस समय क्या बाह्य-इंद्रियाँ, क्या अन्तरिंद्रियाँ, क्या अन्तःकरण सब, जो समष्टि-रूप से शरीर कहा जाता है अथवा मनुष्य बोला जाता है, मरणशील हो जाते हैं। उस समय वह दूसरी तरह का अशरीरी हो जाता है। किन्तु हम लिख चुके हैं कि उस में स्वाभाविक ईश्वरीय सम्बन्ध हो जाता है, फिर ईश्वर के अहंकार मन और बुद्धि में इसी का प्रतिबिंब पड़ता, ईश्वर के सत्यकाम और सत्य-संकल्प की सैर करता है।

(१४२) तो भी विवेक और ज्ञान से उस (ईश्वर) के खयाल से जो माया-वृत्तियाँ हैं, कुछ लगावट नहीं पाता। जब यह अन्वय व्यतिरेक के नियम से इस आत्मा में अन्य के दोष (भिन्न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के) देखता है, और

सारे कमाल अपने आत्मा के जानता है, और निश्चय करता है कि " मैं शरीर नहीं बरन् समस्त उपाधि रहित, निर्विकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म ज्योति स्वरूप हूँ " तो उस समय जीवन में ही अपने शरीर से पृथक् प्रथम प्रकार का विदेह हो जाता है। और उसे प्रिय अप्रिय दोनों किसी प्रकार भी स्पर्श करने नहीं पाते । इस लिये इस का नाम उत्तम पुरुष होता है।

(१४३) क्योंकि जब तक भ्रांत-सम्बन्ध था, तब तक जाग्रत् में आया जाग्रत् पुरुष, स्वप्न में आया स्वप्न पुरुष, सुषुप्ति में आया सुषुप्ति पुरुष कहलाता था। जब वह विवेक से विदेह होता है, तो न जाग्रत् पुरुष, न स्वप्न पुरुष, न सुषुप्ति पुरुष, बरन् चतुर्थ पुरुष होता है, जिस को उन्हीं तीन की अपेक्षा से उत्तम पुरुष कहते हैं । क्योंकि सब में यही उत्तम है। और उन तीनों अवस्थाओंके भिन्न दोष विवेक की शक्ति से इस में लगावट नहीं पाते, बरन् क्यों कब से रहित निर्विकार, तेजों का तेज, उन का द्रष्टा रहता है।

(१४४) अब जिस तरह यह उत्तम पुरुष शरीर के भ्रांत-सम्बन्ध को तोड़कर विदेह उठता है, उस का उदाहरण सुनो। जैसा कि वायु और बादल और बिजली और मेघ-गर्जन भी बिना देह के होते हैं, और शीतकालमें इसी देवलोक (आकाश) के साथ एक होते हैं। इसी तरह यह विदेह आत्मा भी पहचान से पहले इस शरीर में प्रविष्ट हुआ देह (शरीर) से एक होता है, बरन् शरीर का ही अपना आप समझता प्राकृतिक अहंकार उस में रखता है, और उस के मरण जन्म को और जो कुछ इस संसार में दुख-दर्द है, सब अपने लक्षण जानता है, और दुखी-सुखी होता है।

(१४५) किन्तु जब बरसात आती है, तो जिस प्रकार

सूर्य के तेज से तपे हुए ये सब इस आकाश से उठते अपने-अपने वास्तविक स्वरुप को पाते हैं, उसी तरह जब पूर्ण गुरु मिलता है, तो ज्ञानाग्नि से यह आत्मा भी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से विवेक पाया हुआ इस देह से उठता अपने परम ज्योति रूप साक्षी स्वरूप में प्राप्त होता है और अपने ही रूप में स्थिर हो जाता है। यही उत्तम पुरुष है।

(१४६) जब यह उत्तम पुरुष इस प्रकार ज्ञान की शक्ति से इस शरीर से उठता है, तो फिर उस का मनुष्य लोक से ब्रह्मलोक तक उजाला होता है, और वहाँ तक उसकी सैर होती है, जैसा कि हमने विज्ञापन में लिखा है कि हँसता हुआ, लीला करता हुआ, स्त्रियों से छेड़ छाड़ करता, कुटुंबियों से मिलता, बिरादरी से बातें करता, परम स्वतन्त्र होता है। फिर इस दूषित शरीर के जो पड़ोसी हैं, उन्हें स्मरण भी नहीं करता।

(१४७) इस बात को यों समझो कि क्या मनुष्य का शरीर, क्या पितरों का शरीर, क्या देवताओं का शरीर, क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा का शरीर, सब के सब शीशों की भाँति होते हैं, और यह उत्तम पुरुष ज्योति की तरह इन सब से पृथक्, दूर, अपने परम ज्योति-स्वरूप में धड़ाधड़ जलता है, किन्तु सब में उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जिस तरह ज्योति शीशों में प्रतिबिंबित होती है। प्रत्येक में अपने कमालों की महिमा दान करता है, और इसी के उजाले में ये सब अपने-अपने विशेष भाग पाते हैं, जो सब इसी के कल्पित भोग ख़याल किए जाते हैं।

(१४८) दूसरा कारण यह है कि शरीर एक गाड़ी के समान है और इंद्रियां घोड़ों के समान हैं जो उस में जुते हुए हैं, और अहंकार अपने समस्त लश्कर के साथ उस में

सवार है, और ये सब इसी उत्तम पुरुष रूप ज्योति के प्रकाश में व्यापार करते हैं।

(१४६) देखो, इस शरीर में जो एक अंग आँख है, उस के भीतर काला दीदा है। उसके भीतर काला तिल है। उस के भीतर एक बारीक छेद है जो दृष्टि स्थान कहलाता है, और उस के भीतर चक्षु इंन्द्रिय है। उस के भीतर यही उत्तम पुरुष चमकता है और उसे देखने वा दृष्टि का कमाल प्रदान करता है, और इस शरीर के दर्शन के लिये उस की आँख होता है।

(१५०) इसी तरह जब यह शरीर चाहता है कि मैं कुछ सूघूँ, तब यही उत्तम पुरुष उस की नाक में चमकता उसे सूंघने का कमाल प्रदान करता है। और उस के सूँघने के लिये नाक पुरुष होता है। और जब यह चाहता है कि मैं कुछ बात चीत करूँ, तो यही उत्तम पुरुष जिह्वा और कंठ में आया हुआ उसे वार्तालाप की बखसीस प्रदान करता है और उस के लिये वाक्-पुरुष होता है कि मैं कुछ सुनूँ, तो यही उत्तम पुरुष कानों म आया हुआ सुनने की बखसीस प्रदान करता है और उस के लिये कान पुरुष होता है।

(१५१) जब यह चाहता है कि मैं कुछ सोचूँ-समझूँ, तो यही उत्तम पुरुष मन के भीतर आया उसे सोच समझ की बखसीस प्रदान करता है, और उसकी सोच-समझ के लिये मन पुरुष होता है। इसी तरह प्रत्येक अंग में उसके काम की बखसीस प्रदान करता है, और उसके लिये वही उत्तम पुरुष होता है। इस तरह सब में सब कुछ करता-सा हुआ भी वास्तव में दाता स्वरूप होता है, आप कुछ भी नहीं करता। जब नहीं करता, तो उसका फल भी नहीं पाता। क्योंकि यह तो कर्त्ता नहीं बल्कि दाता है। ऐसा दाता नहीं

कि अपनी दानव्यता का कुछ बदला चाहता है, कदापि नहीं। बरन् जिस को जो कुछ अभीष्ट होता है मुफ्त बिना माँगे देता है। और ऐसे दाता को परमदानी बोलते हैं। और परमदानी वास्तव में यही उत्तम पुरुष है, दूसरा नहीं।

(१५२) यद्यपि इस मनुष्य में प्रत्येक अंग क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, सब किसी न किसी कारणसे सेवक हैं, और इसके जांच पड़ताल और गति के कारण वा साधन हैं, और इसी उत्तम पुरुष के कुशलेच्छा और बकसीस के पाने वाले हैं, किंतु मन तो इस की दिव्य आँख हो जाता है, क्योंकि जब यह मन अपने व्यवहारिक संबंध के कारण, जो अब तक दूर नहीं हुआ, शरीर के प्रतिकूल या अनूकूल को पाता है, तो प्रतिकूल को दूर करने के लिये और अनु-कूल भोग देने के लिये प्रमाद के कारण सोच करता है, और शरीर में अहंकार के रूप (वा भाव) में बदलता है, और यही उत्तम पुरुष उस में आया मूढ़ पुरुष होता भोग पाता-सा और शरीर की रक्षा करता सा होता है।

(१५३) जब यह मन किसी प्रतिकूल या अनुकूल को नहीं पाता, बरन् छुट्टी पाता है, तो उसके ज्ञान के स्मरण में तरंगायित होता ब्रह्मा से ले च्यूँटी तक और आकाश से ले पृथिवी प्रर्यन्त अहंकार के भाव वा ख्याल में बदलता है और यही उत्तम पुरुष उस में आया हुआ पूर्ण ज्ञानी सा होता है, और ब्रह्मलोक के भोग भी अपने में ही निश्चय करता है, और दुखों को स्मरण भी नहीं करता। इस तरह यही मन उसकी दिव्य आँख हो जाता है।

(१५४) फलतः इस ज्ञानवान की मनो वृत्तियाँ दो प्रकार की हो जाती हैं-या तो काम-काज में प्रमादके कारण शरीरमें अहंकार का भान करता मूढ़ों के समान बर्ताव करता है,

या निवृत्ति अथवा सत्संग प्रमाद जब दूर होता है, तो पूर्व ज्ञानियों वा सिद्धों के समान "मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही सर्वरूप हूँ" स्वयं निश्चय करता और ब्रह्मा के समान अपने शिष्यों को भी इसी विश्वास और ज्ञान की शिक्षा देता है, इसलिये ज्ञानी भी उनका गुरु है, और इसी को संस्कृत में "ब्राह्मण" बोलते हैं, क्योंकि वह जो ब्रह्म का पुत्र या गुरु है, वह ब्राह्मण कहा जाता है।

(१५५) जब कि इसकी देखने की दो आँखें हो जाती हैं (एक आँख तो दुनिया के काम-काज की और दूसरी आँख ब्रह्मलोक के भोगों के निश्चय की), तो उस समय भी मन उसका दैव नेत्र के कारण दिव्यचक्षु कहलाता है, और इसी दिव्य चक्षु से, जो ज्ञान की दृष्टि है, इन सत्यकामों और सत्यसंकल्पोंको जो दूसरों से ढके हुए वा छिपे हुए हैं देखता हुआ हुर्ष उड़ाता है, छिप छिप हुर्षे, छिपाछिप हुर्षे।

(१५६) दूसरे लोग तो इस दिव्य-चक्षु से, जो दैवी आँख है, वंचित हैं इस शरीर और संसार के भोगों के निश्चय की आँख रखते हैं, इसलिये काने हैं। उन भोगों को जो ब्रह्म लोक में हैं निश्चय नहीं करते, वरन् देखते हुए भी नहीं देखते। किंतु एक दृष्टि वालों को चाहिए कि जैसा वह आँख (दिव्य चक्षु) वाला निश्चय करे, उसी के अनुसार विश्वास करे। इस लिये वह जो उसके निश्चय पर विश्वास लाते हैं, और "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा विश्वास पूर्वक निश्चय करते हैं, सत्य में हैं, नास्तिकता और दुर्गति से निकल जाते हैं।

(१५७) जब इनका सम्बन्ध मृत्यु के कारण टूटता है, तो इस ज्ञानी के प्राण तो इसी उत्तम पुरुष में लय हो जाते

हैं, और ईश्वरीय मनोवृत्तियाँ जो वास्तव में मायावृत्तियाँ हैं, अपने आप उसमें आ जाती हैं। फिर तो ईश्वर के अहंकार से अहंताभाव निश्चय करता ऐश्वर्य को मुक्त पाता है। फिर इस शरीर की याद भी नहीं करता। इस लिये सत्यसंकल्प सत्यकाम हो जाता है।

(१५८) जीवनमुक्ति में यद्यपि ब्रह्मलोक के भोग उसी समय ईश्वरी अहंकार से पाता है, किन्तु उसकी मायावृत्तियों से निश्चय नहीं करता, वरन् इसी मानवी मनोवृत्ति से निश्चय करता है। वह भी स्मरण के रुप में नहीं वरन् ज्ञान के रूप में। किन्तु जब व्यावहारिक संबंध छूट जाता है, तो फिर यह परिच्छिन्न अहंकार इत्यादि और शरीर तो जाते रहते हैं और ईश्वर की स्वाभाविक मायावृत्तियां संबंध पा जाती हैं, जिस का उल्लेख अनेक बार किया गया है। फिर तो वह मायावृत्तियों से भोग पाया हुआ उन्हीं का निश्चय करता द्युलोक के राज्य का स्वामी हो जाता है। यही प्राप्तव्य था।

(१५६) आदेश यह हुआ है कि ईश्वर की देह में जो सत्यसंकल्प और सत्यकामों का संबंध है व्यावहारिक नहीं, स्वाभाविक है, जैसा कि छाया का संबंध शरीर से स्वाभाविक है, और यह ईश्वर अपने शुद्ध सतोगुण प्रधान संकल्पों से हर व्यक्ति की मनोवृत्तियों और शरीरों में जो सुख है भोगता है और दुःखों का बिछौना हो जाता है, और विवेक के कारण अपने स्वरूप में स्थित नित्य मुक्त रहता है। यही वेदांतियों का सिद्धान्त है।

(१६०) पूर्ण ज्ञानी भी जीवनमुक्ति में अपने परमज्योति-स्वरूप में स्थित होता है, जो ईश्वर का परमपद है। किन्तु कर्मों के संबंध तक अपनी संक्षिप्त मनोवृत्तियों में सैर करता है। जब वह संबंध टूट जाता है, तो ईश्वर की माया वृत्तियाँ जो

इसी के स्वरूप की छाया हैं, छाया के समान आ जाती हैं, और ईश्वर के संकल्प इसीके संकल्प और ईश्वर के भोग इसीके भोग होते हैं। सबके सुखों का भोक्ता और सब के दुःखों का विछौना हो जाता है।

(१६१) इसकी उपमा यों समझो कि यदि एक घट एक कोठरी के भीतर रख दें, तो घट का जो पोलापन (आकाश) है, वह वास्तव में कोठरी के आकाश में एक है, क्योंकि कोठरी के अन्दाज़ से जो उसके भीतर आकाश बताया जाता है, घट का आकाश भी उसी अन्दाज़ के भीतर एक है। परन्तु कोठरी का अंदाज़ बड़ा है और घट का अंदाज़ छोटा, इस कारण से घट के आकाश के ख्याल से घट का आकाश उसी अंदाज़ का विस्तार देता है और उतनी ही चीज़ें पा सकता है जो घट के अन्दाज़ के अनुसार हों, किंतु कोठरी का आकाश तो कोठरी के अन्दाज़ के अनुसार वस्तुएँ पा सकता है।

(१६२) किंतु जब उस घट को वहीं ही तोड़ दें तो घट का आकाश घट के परिमाण से मुक्त हुआ कोठरी के भीतर जो वस्तुएँ हैं सबका धारण करने वाला होता है। क्योंकि वास्तविक आकाश में तो वह एक था, केवल घट की उपाधि में आया संक्षिप्त वस्तुएँ धारता था। अब उसकी उपाधि जाती रही, इस लिये स्वतंत्र हुआ सब वस्तुओं का अन्तरिक्ष वा आकाश है।

(१६३) इसी तरह आत्मा भी आकाश के समान पहले माया में और फिर अविद्या में आया हुआ ईश्वर और जीव कहलाता है। माया की उपाधि तो सतोगुणी और व्यापक है, इसलिये सब सुख के भोग और सत्यसंकल्प उसके प्रभाव हैं। उसी के भीतर आया आत्मा ईश्वर कहलाता है और अविद्या माया की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त ज्ञान और भोग रखती है, वरन्

दुःख भी देती है और कर्मों के बंधन में भोग देती है, संकल्प के अनुसार नहीं देती। इसलिये वही आत्मा उसके भीतर आया जीव कहलाता है और दुख सुख का भोक्ता संसारी होता है।

(१६४) क्योंकि शास्त्राज्ञा व सिद्धान्त यही है कि अविद्या ज्ञान से नाश हो जाती है, जिस तरह अंधेरा दीपक से नाश हो जाता है। इसलिये पूर्ण ज्ञानी की अविद्या, जो उसके वास्तविक स्वरूप को ढांपती थी, दूर हो जाती है। परन्तु उस का एक भाग जब व्यावहारिक संबंध के कारण इस तरह स्थापित रहता है जिस तरह दीपक के तले अँधेरा रहता है, तो ज्ञानी को यद्यपि निज स्वरूप के अनुभव से जिसकी छाया माया है, आवरण नहीं होता, किन्तु सत्यसंकल्प आदिक मनोरथों में, जो माया के धर्म हैं, व्यावहारिक आवरण के कारण मार्ग नहीं मिलता। जब यह कर्मों का संबंध समाप्त होता है, तो यह आवरण भी मृत्यु में अपने आप जाता रहता है। और माया भी छाया की भांति अपने आप उपस्थित प्राप्त होती है।

(१६५) और यही जीवनमुक्त आत्मा विदेहमुक्त होता हुआ घटाकाश के समान महाकाश में प्राप्त होता है, क्योंकि घट को उपर्युक्त उदाहरण में तोड़ दें तो घटाकाश महाकाश में लीन होगा। इसी तरह जीवनमुक्त को मृत्यु में ईश्वराप्ति होती है, और यही ईश्वराप्ति शुद्धाप्ति है। और इसी ईश्वराप्ति का अनुवाद ईश्वर से मिलाप व अभेदता करते हैं। इस तरह ज्ञान से यह ईश्वरानुभव पाता है और फिर माया में जो कल्पित भोग हैं, उस में भी मुफ्त राह पाता है। इसी कारण ज्ञान प्रसाद का पद है, न्याय (जैसी करनी वैसी भरनी) का नहीं। क्योंकि इसमें केवल आत्मा की पहचान होती है, कुछ कर्म करना नहीं पड़ता।

(१६६) चूंकि अविद्या ज्ञान से दूर होती है कर्म से दूर

नहीं होती, जैसा कि अँधेरा दीपक से सुगमता से दूर हो जाता है, बिना दीपक के अँधेरे को किसी छोटी बड़ी अन्य क्रिया से निकालना चाहें, तो कोठरी के भीतर से नहीं निकल सकता। इसी कारण चाहे कितना ही जप तप यज्ञ करो, अविद्या दूर नहीं होती। जब तक अविद्या दूर नहीं होती, शुभ कर्मों के फल संक्षिप्त भोग स्वर्ग के तो मिलते हैं, पर घर का स्वामी नहीं हो जाता, भोग समाप्त होने पर फिर संसार में गिरता है। इसलिये वह न्याय (करनी भरनी) का पद है और उसमें घोर परिश्रम और मज़दूरी भी करनी पड़ती है।

(१६७) परन्तु वह जो ज्ञान नहीं पाता, वरन् ज्ञानी के बचन पर भरोसा करता हुआ अपने आत्मा पर निश्चय लाता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, यद्यपि उसकी अविद्या दूर नहीं होती, किंतु चूँकि सत्य पर निश्चय करता है और कर्म का भी पालन करता है, अतः मृत्यु में, जैसा कि विज्ञापन में घोषित किया गया है, देवयान सड़क पर चलता सूर्य के मार्ग से ब्रह्मलोक में जाता है और स्वयं ब्रह्मा उसे शिक्षा देता है और उससे ज्ञान पाता उसके साथ मुक्त होता है। इसलिये ऐसे विश्वास का पद बड़ा है।

(१६८) इस तरह ब्रह्मा ने इन्द्र को शिक्षा दी और इन्द्र ने देवलोक में शिक्षा दी, और देवताओं ने इसी तरह अपने आत्मा की उपासना की। इसी कारण उनको समस्त लोक और समस्त मनोरथ जो आच्छादित थे खुलगए और असुरों (शैतानों) पर बिजय पाई। यही नहीं कि वह देवता हैं, इस शिक्षा की योग्यता रखते हैं और वह भोग पा सकते हैं, वरन् अब भी जो कोई इस शिक्षा से इस प्रकार अपने आपको जानता है और आत्मा की पहचान में मरता है, वह भी सत्यकाम सत्यसंकल्प हो जाताहै और समस्त लोकों और समस्त मनोरथों में कामचार होता

हुआ सर्व शक्तिमान होता है। अस्तु, ऐसा ब्रह्मा ने कहा।

(१६६) यही शिक्षा फिर ब्रह्मा ने अपने पुत्र कश्यप को दी और कश्यप ने मनुजी को सिखलाया। और मनुजी ने भारत की प्रजा को सिखाया जो हम तक चली आती है। और इसी शिक्षा को बाबा नगीनासिंह ने उर्दू जानने वालों की शिक्षा के लिये वेद से भाषा में किया। अब जो कोई इस शिक्षा को पूर्णज्ञानी और ब्रह्मदर्शी से सुनता है, मुफ्त में मुक्त होता है, फिर लौटता नहीं, हाँ फिर लौटता नहीं।

सातवां अध्याय।

(१) ऊपर के अध्याय में यह जतलाया गया है कि ब्रह्मलोक में संकल्प से भोग उठते हैं। यह नहीं जतलाया गया कि यह भोग बाहिर के हैं, या भीतर (मन) के। इस लिये अब जतलाया जाता है कि जो भोग संकल्प से ब्रह्मलोक में उठते हैं वे कल्पना मात्र या मानसिक होते हैं, जैसे कि स्वप्न में भोग उठते हैं। यद्यपि इतना अंतर है कि स्वप्न में जो भोग उठते हैं, उनको स्थिरता नहीं होती और साथ ही वे संकल्प के अधीन नहीं, वरन् कर्मों के अधीन होते हैं।

(२) ब्रह्मलोक में भी यद्यपि स्वप्न के अनुसार काल्पनिक भोग उठते हैं, तो भी वह वाह्य वस्तुओं के अनुसार स्थिर हैं, और संकल्प के अधीन हैं, कर्म के अधीन नहीं। और यह हो सकता है कि यदि स्वप्न के भोग भी चिरस्थायी होजायँ तो वे भी बाहिर के समझे जायँ, किंतु उनकी दशा चूंकि ऐसी है कि एक क्षण में हाथी उठता है और दूसरे क्षण में वही हाथी ऊँट हो जाता है, और साथ ही नींद के कारण उनकी पहचान पूरी पहचान

के अनुसार नहीं, और उनका क्रम भी किसी बुद्धिमता के नियम के अनुसार नहीं, इसलिये मनुष्य उसे ख्याली निश्चय करता है। और जाग्रत में इसके विरुद्ध वस्तुएँ स्थिर तथा तरतीबवार (क्रम-श्रृङ्खलित) पाई जाती हैं और स्वप्न की अपेक्षा उनकी पहचान भी पूर्ण होती है, इसलिये उन्हें ख्याली नहीं ख्याल करता।

(३) वास्तव में क्या जाग्रत और क्या स्वप्न, सबके सब भोग काल्पनिक हैं परंतु क्रमपूर्ण और चिरस्थायी होनेके कारण और फिर जाग्रत में वही मिलने से जाग्रत के भोग साधक को ख्याली नहीं ज्ञात होते। स्वप्नके भोग उलटे ख्याली ज्ञात होते हैं, वास्तव में दोनों ख्याली (काल्पनिक) हैं।

(४) जब कि स्वप्नके भोग जाग्रत की अपेक्षा पूर्वोक्त नियम के अनुसार ख्याली ज्ञात होते हैं, उसी नियम से जाग्रत के भोग ब्रह्मलोक के भोगों की अपेक्षा काल्पनिक (भीतर के) प्रतीत होते हैं और ब्रह्मलोक के भोग बाह्य (बहिर के), क्योंकि यहां के (अर्थात् जाग्रतके) भोग यद्यपि स्थिर हैं, तो भी अल्प समय तक स्थिर हैं, कल्प तक स्थिर नहीं, ब्रह्मलोक के भोग तो कल्पों तक स्थिर हैं। क्योंकि ब्राह्म संकल्प की वृत्ति तो एक ही कल्प तक स्थिर रहती है, और मनुष्य के संकल्प की वृत्ति एक क्षण में या दो क्षण में स्थिर रहती है, इसलिये उनके भोगों में वह संबंध है जो संकल्पों में है।

(५) इसके अतिरिक्त ब्रह्मलोक में भोगों का क्रम और यह पहचान कि "यह भोग वही है" यहां के क्रम और पहचान की अपेक्षा पूर्णतर और प्रकाशतर हैं, इसलिये भी यहाँके भोगों की अपेक्षा वहां के भोग बाह्य हैं और यहां के भोग काल्पनिक, क्योंकि सिद्धांत यह है कि ईश्वर का संकल्प जो सृष्टिके आदि में उठता है एक है और प्रलय पर्यंत स्थिर रहता है।

(६) इसका कारण यह है कि उसके संकल्प या तो अपने

ऐश्वर्य के लिये हैं या प्राणियों के भोग के लिये। वह संकल्प जो उसके अपने भोग के लिये हैं वह तो पूर्ण स्वतंत्र हैं, और जो प्राणियों के भोग के लिये हैं वे कर्मों के अधीन हैं. जैसे उन प्राणियोंके कर्म होते हैं, वैसे भोग देने के संकल्प उठते हैं। इसी कारण कर्म-कांड में यह निश्चय है "जैसा करता है वैसा पाता है," और यही उसके सङ्कल्पों का ईश्वरीय नियम है।

(७) जब कल्प हो चुकता है, तो ईश्वर के संकल्प भी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह हमारे सङ्कल्प भी घनसुषुमि में नष्ट हो जाते हैं, परंतु जिस प्रकार घनसुषुप्ति से निकलते समय हमारे सङ्कल्प कर्मों के अधीन उठते हैं और जाग्रत में आते हैं, उसी तरह ईश्वर के सङ्कल्प भी संसार की पुनरुत्पत्ति के लिये कर्मों के अधीन उठते हैं और सृष्टि उत्पन्न करके प्रत्येक प्राणी के भोग के लिये एक एक संकल्प, जो उनके कर्मों के अनुसार उठता है, कल्प तक स्थिर रहता है।

(८) चूंकि वह सत्य संकल्प है, इसलिये बिना यंत्र और बिना कर्म के क्या धरती क्या आकाश. जो कुछ उनमें है, उसी क्रम से जैसा कि श्रुतियाँ वर्णन करती हैं, आँख की झपक में उसमें काल्पनिक (ख्याली) उत्पन्न होजाते हैं जैसा कि मनुष्य के ख्याल में स्वप्न का लोक स्वप्न में उत्पन्न होता है। और यह सब यद्यपि काल्पनिक या ईश्वरीय संकल्पमय हैं, तो भी मनुष्य का ख्याल ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा निकलता ईश्वर की संकल्प-जन्य सृष्टि में लगता हुआ उसी के अधीन आकार पकड़ता उन्हें देखता और भोग पाता है।

(९) इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो जाग्रत में दिखाई देती है दोहरे ख्याल वा संकल्प से उत्पन्न हुई है, एक असलीयत तो उसकी ईश्वर के ख्याल व संकल्प से है, और दूसरी तह उसको प्राणियों के ख्याल वा संकल्प से है। इस कारण स्वप्न से उठते

फिर फिर वही वस्तु देखते हैं और उन्हें अपने से पृथक समझते हैं। किंतु स्वप्न में जो भोग उठते हैं दोहरे ख्याल वा संकल्प से नहीं उठते, वरन् केवल एक उसीके ख्याल से जो सोता है उठते हैं, इसलिये एक तह के हैं, और साथ इसके कर्मों के अधीन हैं, स्वतंत्र नहीं, जब जब स्वप्न में जाता है, तो वही-वही नहीं देखता वरन् नित्य नूतन देखता है, इसलिये जाग्रत में आकर उन्हें ख्याली निश्चय करता है।

(१०) कल्पना करो कि एक धरती है जो सृष्टि के आदि में ईश्वर के ख्याल वा संकल्प से बनाई गई है, किंतु मनुष्य जब उसकी ओर देखता है, तो मानवी ख्याल वा संकल्प भी नेत्र के मार्ग से सूर्य की किरण के समान निकलता, ज़मीन पर पड़ता, उसी के रूपमें रूप पकड़ता, उससे एक हो जाता है, तब ज़मीन दिखाई देतीहै, तो इस कारण यह धरती मनुष्य के लिये ख्यालों की दो तह से बनती है, एक तह तो उसकी ईश्वरीय ख्याल वा संकल्प की है और दूसरी तह उसकी अपनी अर्थात् प्राणी के संक्षिप्त ख्याल वा संकल्प की है।

(११) जब यह अपनी आँखों को बंद करके अपने भीतर ही देखी ज़मीन का ख़याल बाँधता है, तो इस ख़याल में उसी तरह की काल्पनिक भूमि भीतर दिखाई देती है जैसे कि इसने बाहर देखी थी। किंतु ईश्वरीय ख्याल वा संकल्प की भूमि उस ख्याल में प्रविष्ट नहीं होती। इसलिये एक ही तह में काल्पनिक भूमि जीर्ण दृष्टिगोचर होती है, और अस्थिर और क्रमहीन भी होती है।

(१२) इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु जो विद्यमान है, दो प्रकार की उत्पत्ति रखती है, या तो ईश्वरीय उत्पत्ति या मानवी। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की काल्पनिक तह के विश्वास से ईश्वरीय उत्पत्ति कहलाती है, आर वही प्राणियों की तह के

विश्वास से मानवी उत्पत्ति कहलाती है। इस ईश्वरीय उत्पत्ति को ईश्वर-सृष्टि और मानवी उत्पत्ति को जीव-सृष्टि कहते हैं!

(१३) फिर इस हेतु कि जीव-सृष्टि यद्यपि ईश्वर-सृष्टि के अधीन है, तो भी इस (ईश्वर) का संकल्प तो शुद्ध सतोगुण का है और उस (जीव) का संकल्प तमोगुण-रजोगुण मिश्रित सतोगुण का है, इसलिये शुद्ध नहीं। इस (ईश्वर) के संकल्प में जो शुद्ध और स्पष्ट नर सृष्टि होती है, ज्ञान और न्याय से होती है, उस (जीव) के संकल्प में जो तह उत्पन्न होती है, कुछ तो ज्ञान और न्याय से होती है कुछ अज्ञान और अन्याय से। वरन् इस (ईश्वर) की अधीनता से निकलते हुए वह एक नवीन सृष्टि भी उनमें कर लेता है।

(१४) कल्पना करो कि ईश्वर के ख्याल वा संकल्प में, जो संकल्प कि शुद्ध, ज्ञान और न्याययुक्त है, एक स्त्री उठती है जिससे वह अपने कर्मों के अनुसार भोग पावे, और जीवों के ख्याल भी उसके रूप के अनुसार दूसरी तह उस में उत्पन्न करते उसे दूने रूप में स्त्री देखते हैं, जिससे पिता तो लड़की और भाई उसे बहन और पति उसे स्त्री और भाई के लड़के उसे बूआ और देवर के लड़के चची इत्यादि अलग नई सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

(१५) ईश्वर के शुद्ध ख्यालमें तो उस स्त्री की आकृति जैसा कि स्वाभाविक रूप रखती है, उत्पन्न हुई है, लड़कीपन, बहनपन, स्त्री पन, तो कभी उसमें नहीं बनाया गया, तो भी जीवों ने उसमें यह नवीन कल्पना कर ली है, यही इस जीव की ख्याली सृष्टि एक तह है और वे उस तह के अनुसार बर्ताव करते हैं।

(१६) जो सृष्टि ईश्वर के संकल्प की है, वह तो दुख-सुख नहीं देती, वरन् जीव-सृष्टि दुख-सुख का कारण होती है। क्योंकि कल्पना करो कि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त के पुत्र दूर कहीं व्यापार के लिये चले गये, ब्रह्मदत्त का पुत्र तो किसी राज्य

में बड़े मंत्रिपद को पा गया और यज्ञदत्त का पुत्र वहाँ मर गया। एक व्यक्ति जो वहां से आया, तो ब्रह्मदत्त के पुत्र ने संदेशा दिया कि ब्रह्मदत्त को यों कह देना कि तेरा पुत्र जीवित मंत्री है और यज्ञदत्त को यों कह देना कि तेरा पुत्र बहुत दिन हुये मर गया।

(१७) जब यह संदेशा लाने वाला आया, तो उसने संदेशे में भूल की। ब्रह्मदत्त को कह दिया कि तेरा पुत्र मर गया है और यज्ञदत्त को कह दिया कि तेरा पुत्र जीवित मंत्री है। तो ब्रह्मदत्त शोक करने लगा और यज्ञदत्त आनंद के मारे फूला न समाता था, यद्यपि ईश्वर-कृत ब्रह्मदत्त का पुत्र जीवित और राज-मंत्री है और यज्ञदत्त का पुत्र मर गया है।

(१८) देखो, ब्रह्मदत्त का पुत्र ईश्वर सृष्टि यद्यपि जीवित है किन्तु इस संदेशा देने वाले की समझ से उसका मृतपुत्र, जो जीवसृष्टि है, मर गया है। इसलिये आनंद के स्थान में वह दुख में हो गया, और यज्ञदत्त का पुत्र ईश्वर-कृत यद्यपि मर गया, तो भी उसका मृतपुत्र जीवित और मंत्री है, आनंद में फूला नहीं समाता। यदि ईश्वर सृष्टि दुख-सुख का कारण होती, तो यद्यपि संदेशा पहुँचाने में भूल हुई, किन्तु ब्रह्मदत्त को आनंद चाहिये था, यज्ञदत्त को शोक। पर ऐसा नहीं होता, अतः सिद्ध है कि मृत अर्थात् जीवकृत-सृष्टि दुख-सुख का हेतु है, ईश्वर कृत सृष्टि दुख-सुख का हेतु नहीं।

(१९) इसी कारण शास्त्र जीवकृत सृष्टि के दूर करने को प्रेरणा करता है, ईश्वरकृत सृष्टि के दूर करने की नहीं। वह जो इस भेद के जानने वाले हैं, विवेक से मन की वृत्तियों को रोकते और सबमें प्रेम, मोह (आसक्ति) और आनन्द को त्याग कर संन्यास लेते हैं, इस लिये जीवन में भी सुखी रहते हैं। किंतु अज्ञानी इस भेद को नहीं जानता इसलिये अपनी ही रची हुई

सृष्टि में मोह करता हुआ शोक और हर्ष पाता है।

(२०) फलतः समस्त सृष्टि, क्या जाग्रत क्या स्वप्न क्या ब्रह्मलोक, सबही सब काल्पनिक हैं, परन्तु प्रजापति के संकल्प की सृष्टि पहली तह है और कर्मविधान और न्याय से रची हुई है, और उसमें दूसरी तह मनुष्य के संकल्प की है। इसलिये जाग्रत् का संसार तो सत्य ज्ञात होता है और स्वप्न का केवल ख्याल। और फिर इस कारण कि ब्रह्मलोक के भोग केवल प्रजापति के खयाल के हैं, शुद्ध सतोगुण के बनाये गए हैं, और संकल्प से उत्पन्न हुए कल्प तक बने करते हैं और यह संसार कल्प तक नहीं बरन् निश्चत समय तक स्थिर रहता है, इस लिये ब्रह्मलोक के भाग सत हैं और यहां के मिथ्या व असत।

(२१) तो भी क्या ब्रह्मलोक, क्या जाग्रत, क्या स्वप्न सबके सब उचित नहीं। उचित तो यही आत्मा है, और यही सत है, वह सब तो ख्याली कल्पित हैं। यद्यपि इस संसार की अपेक्षा ब्रह्मलोक भी एक दृष्टि से अमृत कहलाता है और शुभकर्मों का फल रूप है, किंतु ये सबके सब इसी आत्मा की छाया या विभूतियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य की छाया असत, मिथ्या ज्ञात है, उसी तरह यह सब आत्मा के आगे छाया की भाँति असत वा मिथ्या हैं।

(२२) भाषाविदों की पूरी समझ के लिये हम यहां इस के विस्तार से लिखते हैं। क्योंकि जब तक उसे यह समझ में न आयेगा कि यह जो कुछ दिखाई देता है, कल्पित है, और जब तक यह 'भासमान' भावातीत नहीं हो जाता, तब तक उसके बंधन से निकलना और छुटकारा पाना कठिन है। क्योंकि यह विचित्र जादू-घर है जो अनहुआ दिखाई देता है और मृगतृष्णा के जल में योंही गोते खाता है।

(२३) इस बड़े रहस्य की पहचान के लिये यों समझो कि दीपक के प्रकाश का निकास वास्तव में दीपक है क्योंकि दीपक से प्रकाश जो निकलता है, उसी की छाया, उसीकी विभूति है। दीपक न हो तो वह कुछ भी नहीं रहता। या धूप वास्तव में सूर्य की एक शान वा विभूति है और सूर्य ही उसका निकास या उद्गम स्थान है। और सूर्य के बिना धूप वास्तव में कुछ सत्यता नहीं रखती।

(२४) संसार भी समष्टि रूप से सब पांच वस्तुएँ हैं। या तो रूप रङ्ग है, या शब्द है, या गन्ध है, या रस है, या स्पर्श है। क्योंकि जिस वस्तु को संसार में लेकर खोज करें, इन्हीं पांच वस्तुओं की बनी हुई होगी और उसके गुणभी तह के भीतर तह प्याज़ के छिलके के समान उन्हीं से निकलेंगे। कल्पना करो कि हम एक काग़ज़ का टुकड़ा हाथ में लेकर पता लगाते हैं कि यह क्या है ? तो उसका उत्तर होगा कि यह काग़ज़ है। हम पूछते हैं कि काग़ज़ तो उसका नाम है। उसकी सत्यता बतलाओ, तो यही उत्तर होगा "देखो इसका रङ्ग लाल है,गंध अच्छी है, स्वाद भी देता है, चीरने से आवाज़ भी देता है, हाथ लगाने से गरम व ठंढा भी मालूम होता है"। और यही गुण कदली वृक्ष के समान छिलके में छिलका तथा तह में तह होकर एक रूप में उत्पन्न हुए हैं जिसका नाम काग़ज़ रख लिया है"।

(२५) स्थाली पोलाक न्याय से अन्य वस्तुएँ भी इन्हीं पाँच गुणों से तह के भीतर तह जमा होकर विद्यमान दिखाई देती हैं। यदि किसी वस्तु में न तो रंग-रूप हो, न गंध हो, न गरम-ठंढा, न स्पर्श, न शब्द, न रस हो, तो उसे कोई भी मौजूद नहीं कह सकता, वरन् उसको आम लोग अभाव (अस्तित्वहीन) कहते हैं। इससे ज्ञात हुआ कि संसार की सत्यता यही पञ्च तन्मात्रा हैं। किंतु किसी में किसी रूप से और किसी में किसी रूप से

न्यूनाधिक, प्रसन्न अप्रसन्न, अनुकूल व नरम होकर जमा हुई हैं। इसलिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक प्रकट होती है। वास्तव में यही पञ्च तन्मात्रा हैं।

(२६) जब ये तन्मात्रा संसार की असलीयत ज्ञात हुईं, तो अब विवेचक के लिये आवश्यक है कि इन तन्मात्रा की जड़ (निकास) का पता लगावे कि वे क्या हैं। बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े गौर से जान सकता है कि रंग-रूप का स्रोत वा निकास वास्तव में नेत्र हैं, क्योंकि बिना आँख के रंग-रूप के प्रमाण कुछ भी नहीं मिलते, बरन् यदि कल्पना करें कि संसार में नेत्र न होते, तो कोई भी तत्ववेत्ता रंग-रूप का प्रमाण न दे सकता। अब भी बिना आँख के कोई रंग रूप का प्रमाण बतलावे, तो नहीं मिलेगा। इससे ज्ञात हुआ कि रंग-रूप का स्रोत वास्तव में नेत्र हैं, और यह सब रूप क्या लाल क्या नीला क्या पीला आँख की छाया और आँख की विभूतियां हैं, जैसे धूप सूर्य की और प्रकाश दीपक की विभूतियाँ हैं।

(२७) जिस प्रकार धूप सूर्य की विभूति और छाया वा किरण है, उसी तरह संसार का रंग-रूप नेत्र की विभूति और छाया वा किरण है। बरन् जिस तरह सूर्य धूप का स्रोत है और उससे धूप उत्पन्न होती है। उसी तरह संसार का रङ्ग-रूप नीला पीला जो कुछ है, सबका स्रोत आंख है। और ये सब आँखों से उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह धूप सूर्य से उत्पन्न होती है।

(२८) फिर इसलिये कि सुगंध-दुर्गंध संसार की दूसरी सत्ता भी नाक की विभूतियां हैं। इसलिये नासिका ही उनका स्रोत है। क्योंकि नाक न हो तो क्या खुशबू (सुगन्ध क्या बदबू (दुर्गन्ध), क्या इत्रयात क्या सड़ांद कुछ भी विद्यमान न हो बरन् ये सब नाक की किरणें नाक रूप हैं जैसे सूर्य

की किरणें सूर्य रूप हैं।

(२९) इसी तरह प्रत्येक प्रकार के शब्द क्या मृदंग, क्या मजीरा, क्या ढोलक, क्या बाँसुरी सबके सब कानों की विभूतियां हैं, अतः कान ही उनका स्रोत है। क्योंकि कान न हो, तो ये शब्द कुछ भी सत्ता नहीं रखते, सिवाय कानों के उनके होने में कुछ भी प्रमाण नहीं है, जैसा कि धूप के होने में सूर्य के सिवाय और कोई कारण नहीं ज्ञात होता। इसलिये सब शब्द अच्छे या बुरे कानों की विभूतियाँ कर्ण रूप हैं. और यही उनका स्रोत है।

(३० फिर इस हेतु कि समस्त स्वाद क्या मीठे क्या कड़ुवे, क्या खट्टे क्या तेज़, सब जिह्वा की विभूतियां हैं और जिह्वा ही उनका स्रोत है। यदि जिह्वा न हो, तो उनमें से एक भी न हो, वरन् जिह्वा के होते ही वह सब होते हैं, अन्यथा नहीं मिलते। जैसे प्रकाश भी दीपक के होते ही मिलता है बिना दीपक के नहीं मिलता। इसलिये जिह्वा ही उनका स्रोत है और यह जिह्वा की विभूतियाँ जिह्वा रूप ही हैं।

(३१) इसी तरह सब स्पर्श क्या गरम क्या ठंडा, सब के सब त्वचा और मांस-त्वक् की विभूतियाँ हैं, अतः त्वचा और मांस-त्वक् उनका स्रोत है, क्योंकि यदि मांस-त्वक् न हो, तो यह भी न हो, वरन् यह सब तभी मिलते हैं जब यह मांस-त्वक् ज्ञान का यंत्र होता है जिस तरह धूप भी तभी मिलती है जब सूर्य होता है। किंतु जब सूर्य नहीं होता, तो धूप भी नहीं पाई जाती। इस तरह गरम-ठंडी दशा भी तभी मिलती है जब मांस-त्वक् यंत्र ज्ञान का होता है। और जब यह नहीं होता तो यह भी नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि क्या गरम क्या ठंडा सब मांस-त्वक् की विभूतियाँ हैं और मांस-त्वक् के रूप हैं।

(३२) जब ज्ञात हुआ कि संसार की सत्यता मिश्रित पञ्च तन्मात्रा (रङ्ग, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श) से बनी है और ये पञ्च तन्मात्रा आँख कान जिह्वा नाक और त्वक् की विभूतियाँ वही रूप हैं और यही उनकी सत्यता है, तो सिद्ध हुआ कि बाहिर में वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् पंच विधि इंद्रियाँ ही मनुष्य की विद्यमान हैं, और मनुष्य के अतिरिक्त संसार कुछ भी सत्यता नहीं रखता, वरन् मनुष्य ही संसार का स्रोत है और मनुष्य ही संसार का रूप होकर फैला है जैसा कि सूर्य धूप होकर फैला है।

(३३) अब हम इन में भी विचार करते हैं कि ये पंच इन्द्रियाँ जो संसार की स्रोत हैं वास्तव में विद्यमान हैं या कि यह भी कोई दूसरा स्रोत अपना रखती हैं, तो थोड़े गौर से परिज्ञात हो सकता है कि यह भी वास्तव में विद्यमान नहीं हैं। इनका स्रोत भी मन है।

(३४) क्योंकि जब मन होता है, तब यह पंचविध ज्ञानेन्द्रिय भी होते हैं, जब मन नहीं होता, तो ये भी नहीं होते। देखो जब नींद होती है, तो ये सब ज्ञानेन्द्रिय मनमें उसी तरह लय हो जाते हैं जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं। जब संसार के पञ्चविध तन्मात्रा क्या रंग क्या शब्द क्या रस क्या गंध क्या स्पर्श नींद के समय इंद्रियों में लय हो जाते हैं और ज्ञानेन्द्रिय मनमें, तो ज्ञात हुआ कि सब संसार का स्रोत वास्तव में मन है और मनही फैलकर इन्द्रिय और विषय रूप होकर संसार हो जाता है, सिवाय मनके कुछ भी विद्यमान नहीं।

(३५) जबकि सारा संसार मनही का फैलाव है और मनही की फैलावट वास्तव में ख्याल वा संकल्प है, तो सिद्ध हुआ कि संसार ख्याली वा सँकल्पजन्य है, सिवाय स्वप्न और कल्पना के

संसार वास्तव में कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता, बरन् मन ही इन्द्रिय और विषय होकर संसार बन जाता है, और उस मन ही के परफेर में मनुष्य फँसा हुआ बर्ताव करता है। इसके विचित्र स्वभाव बुद्धिमान् मनुष्य को स्वप्न में भली भाँति निश्चित होते हैं कि वहां न तो रंग-रूप, न शब्द, न रस न गंध न स्पर्श कुछभी बहिर्भूत नहीं होते।

(३६) किंतु यह मन झटपट क्या शब्द, क्या रंग, क्या रस क्या गंध, क्या स्पर्श सब क्षण में रच लेता है और उसके ज्ञानेन्द्रिय क्या आँख, क्या नाक, क्या कान क्या जिह्वा, क्या त्वक बरन् सारा शरीर भी यही मन बन जाता है और फिर इन्हीं पंचतन्मात्रों की तरकीब (पंचीकरण रूपी क्रम) से धरती आकाश जो कुछ उसमें है सब बन जाता है, और इसी तरह उसमें मनुष्य व्याकुल होता है जैसे यहाँ जाग्रत के संसार में व्याकुल (परेशान) होता है।

(३७) इस कारण सिद्ध होता है कि क्या जाग्रत् क्या स्वप्न सब मनोमय प्रपञ्च मन का ही पसारा है और मन ही सबका स्रोत है और सब मन-रूप है और मन ही खयाल है, इसलिये भी संसार ख्याली वा संकल्प-जन्य है, कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। यों ही स्वप्न और संकल्प के समान दिखाई देता है जैसे मृगतृष्णा की नदी भी बड़े वेग से बहती दूर से दिखाई देती है और मनुष्य बिना पानी गोते खाता है।

(३८) अब हम यह पूछते हैं कि क्या मन भी, सब का स्रोत, सर्व रूप वास्तव में कुछ सत्यता रखता है या उसका भी कोई स्रोत दूसरा है, तो थोड़े ग़ौर से ज्ञात हो सकता है कि मन भी वास्तव में कुछ सत्यता नहीं रखता, उसका स्रोत आत्मा है, क्योंकि आत्मा होते यह मन भी होता है। जब आत्मा नहीं होता, तो यह मन भी नहीं होता। बरन् घन सुषुप्ति में जब

आत्मा अपनी निजी महिमा म अवस्थित होता है, तो मनभी उसी तरह आत्मा में लय हो जाता है जिस तरह कि सूर्य में उसकी किरणें लय हो जाती हैं।

(३९) और जब आत्मा जाग्रत व स्वप्न में होता है, तो यह मन उसी तरह उस में से निकल आता है जैसा कि सूर्य की किरणें भी सूर्य से निकल आती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि क्या संसार, क्या इन्द्रियाँ, क्या मन, सबका स्रोत दर स्रोत, जिस का दूसरा कोई स्रोत नहीं, आत्मा है, और यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्म-रूप हैं। आत्मा ही प्रत्येक विभूति में आया देखता और दिखाई देता है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं। और यही नित्य [स्वयंभू] और यही ब्रह्म है। और इस हेतु कि सब मुरादें इसी की विभूतियाँ हैं, यही आप्तकाम, यही स्वतंत्र वा बेपरवाह है।

(४०) अब समझो कि मन एक खयाल है, क्योंकि जब मन में तरंग और परिवर्तन होता है तो उसी को खयाल बोलते हैं, और जब यह खयाल स्थिर होता है, तो उसी का मन बोलते हैं, वास्तव में यह केवल खयाल है। और यह स्पष्ट है कि खयाल भी कुछ सत्ता नहीं रखता बरन् अनहुआ होता है। इसी कारण जो वस्तुएँ अनहुई दिखाई दिया करती हैं उसे "योंही खयाल है" ऐसा निश्चय किया करते हैं।

(४१) देखो, जब रस्सी में सर्प और सीप में रजत की भ्रांति होती है, तो वास्तव में रस्सी या सीप विद्यमान होती है, परंतु खयाल सर्प या रजत पर पड़ता है। असली रस्सी और सीप का खयाल नहीं करता, बरन् सर्प और रजत का खयाल पकड़ता और रज्जु और सीप से एक हुआ सर्प और रजत को दिखाता है, रज्जु और सीप को ढाँप लेता है, इसी कारण से मनुष्य निश्चय करता है कि यह सर्प है, यह रजत है।

(४२) यहाँ उदाहरण में ख़याल जो सर्प और रजत के विचार से रज्जु और सीप में केंद्रित होता है, वास्तव में रज्जु और सीप की कुछ हानि नहीं कर सकता, क्योंकि हानि तो तब हो यदि रज्जु परिवर्तित होकर सर्प बन जाय या सीप बदल कर रजत बन जाय। यद्यपि रज्जु या सीप ज्यों का त्यों बना रहता है, किंतु केवल ख़याल ही सर्प और रजत के रूप में कल्पित हुआ, रज्जु और सीप में केंद्रित, उसी को सर्प और रजत दिखाता है।

(४३) इस हेतु कि ख़याल वास्तव में कुछ अस्तित्व नहीं रखता वरन् अस्तित्वहीन होता है, तो भी जब वह सर्प या रजत के रूप में रज्जु और सीप से एक होता है, तो रज्जु या सीप के अस्तित्व से अस्तित्ववान्-सा हो जाता है। अस्तित्व-रहित (ख़याल) अस्तित्ववान् हुआ दिखाई देता है, इसलिये रज्जु और सीप की ओर संकेत करके निश्चय किया जाता है कि "यह सर्प या रजत है," तो यहाँ इस संकेत का संकेतपात्र वास्तव में रज्जु या सीप है जो अस्तित्व मात्र है, किंतु निश्चय उसका अस्तित्वहीन सर्प में होता है। इसीको संस्कृत में विवर्तवाद बोलते हैं।

(४४) अब यों समझो कि जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में ख़याल केंद्रित हुआ सर्प और रजत के रूपमें बदलता है, उसी तरह यह ख़याल या मन भी आत्मा में केन्द्रित हुआ संसार के रूप में बदलता है और आत्मा की शरण में रहता उसी के अस्तित्व से अस्तित्ववान् हुआ विद्यमान होता है। आत्मा ज्यों का त्यों स्थिर रहता है, कुछ परिवर्तन नहीं पाता, क्योंकि जो परिवर्तनशील होता है वह नाशमान होता है। यदि आत्मा परिवर्तित होकर संसार बन जाता, तो नाशमान होता, परंतु विवर्तवाद में जो वेदों का सिद्धांत है, आत्मा तो नित्य स्थिर

रहता है, बदलता नहीं, ख़याल बदलता है।

(४५) इस हेतु कि ख़याल वास्तव में अस्तित्वहीन वा केवल देखने मात्र वस्तु है, इसलिये आत्मा का गुण नहीं और न उसमें आरोपित वा शामिल है। इसलिये आत्मा का गुण ख़याल नहीं और न ख़्याल उसमें आरोपित है। वरन् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में सर्प का ख़्याल असतमात्र है, उसी तरह यह ख़याल या मन भी असतमात्र है, इसे संस्कृत में कल्पित और मिथ्या बोलते हैं। और जिस तरह सर्प की भ्रांति का रज्जु अधिष्ठान वा आश्रय है, उसी तरह इस ख़्याल का भी अधिष्ठान आत्मा है, तो भी जिस तरह सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान वा आधार (रज्जु) उसे स्पर्श नहीं पाता, उसी तरह आत्मा भी ख़याल से स्पर्श नहीं पाता वरन् ज्यों का त्यों निर्मल (निर्लिप्त) रहता है।

(४६) अब यों समझो कि संसार के संकल्प में इस ख़याल की द्विगुण तरंग है। पहली तरंग तो उसकी तत्व या भूतों और मनुष्यों की उत्पत्ति है। किंतु जब मनुष्य का विकाश हुआ, तो यहाँ ख़याल उसके हृदय कमल में संबंधित हुआ, दूसरी तरंग संसार के रूपमें मारता है जैसा कि स्वप्न में भली भाँति दिखाई देता है। परंतु जब यह ख़याल इंद्रियों के मार्गसे फैलता अपनी पहली तरंग के संसार में उसी रूपमें तरंगायित होता है, तो संसार को दुगने संकल्प से बनाता है और मनुष्य की दृष्टि का कारण होता है। इस प्रकार ईश्वर-कृत और जीव-कृत सृष्टि से द्विगुण बना हुआ संसार सत दिखाई देता है, वास्तवमें ख़याली है कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् केवल दिखावे का है, अस्तित्व कुछ भी नहीं।

(४७) इसी ख़याल को पहली तरंग की दृष्टि से माया बोलते हैं और इसी ख़याल को दूसरी तरंग की दृष्टि से मन बोलते

हैं। वास्तव में दोनों एक हैं। मनुष्य के हृदय के सम्बन्ध के कारण और कर्म-बंधन के कारण मन तो परिच्छिन्न और असत काम और असत संकल्प है, और माया परिच्छिन्न नहीं, वरन् अनंत वा अपरिच्छिन्न है और सत्य संकल्प तथा सत्य काम है। इसलिये (दोनों में) अंतर है। वही आत्मा, जो माया का महल (अधिष्ठान वा आश्रय) और उसमें प्रतिबिंबित होता है, उससे मिलकर ईश्वर कहलाता है और वही आत्मा जो मनका महल (आधार) और उसमें प्रतिबिंबित होता है, उससे मिलकर जीव कहलाता है।

(४८) किंतु जब माया और मन का बाध करके केवल पवित्र आत्मा का निश्चय और खोज होता है, तो उसीको ब्रह्म बोलते हैं। इसी तरह माया के अधिष्ठान की दृष्टि से आत्मा ईश्वर कहलाता है, और मनके अधिष्ठान की दृष्टि से यही आत्मा जीव कहलाता है, और अधिष्ठानातीत की दृष्टि से अपने स्वरूप के ख़याल से यही आत्मा ब्रह्म कहलाता है। इस तरह एक ही आत्मा तीन-सा हो गया है। मगर तीन नहीं हुआ, वास्तव में एक है।

(४९) जब ज्ञात हुआ कि क्या मन क्या माया, सब वास्तव में ख़याल है (किन्तु ईश्वरीय ख़याल का नाम माया है और मानवी ख़याल का नाम मन है), तो क्या माया-रचित क्या मनोरचित सब वस्तुएं कल्पित हैं, और उनका स्रोत और महल (अधिष्ठान) आत्मा वा ब्रह्म है, परन्तु संसार माया और मन से रचित द्विगुण कल्पना से बनाया गया है, इसलिये साधक को सत ज्ञात होता है।

(५०) जब यह मनुष्य सो जाता है, तो उसके ख़याल का संसार दूर हो जाता है, मस्तिष्क के भीतर एक अपने ख़याल की इकहरी दुनियाँ बना लेता है। इस हेतु कि यह संसार

अकेले ख़याल का होता है, अतः विशृङ्खलित (बे तरतीब) और अनियमित होना है, क्योंकि मनुष्य का ख़याल प्रत्येक क्षण बदलता रहता है और इसके अतिरिक्त मनुष्य का ख़याल कर्मों के बन्धन में होता है, जैसा उसके कर्म स्वप्न के भोग में होते हैं, वैसा ख़याल संकल्प और निश्चय में उठता है।

(५१) जब यह जागता है तो उसका ख़याल आँखों से बाहर निकलता है और ईश्वर की ख़याली रचित दुनियाँ में फैलता है। जिस तरह का वह (संसार) होता है, उसी तरह पर वह ख़याल करता उसे द्विगुण बनाता है। और यह हम लिख आए हैं कि ईश्वर का ख़याल कल्प तक होता है, इसलिये ईश्वर-कल्पित वस्तुएँ चिरस्थायिनी होती हैं। और इस हेतु कि उसका ख़याल न्याय के अधीन है, विद्या और क्रम से उसे रचता है। मनुष्य का ख़याल जाग्रत में उसी के अनुसार होता उसे सत देखता है, क्योंकि एक तो यह माया की पहली तह के कारण स्वप्न की अपेक्षा अधिक क्रम और विद्या के साथ होता है, दूसरे जब यह सो जाता है, तो उसके अपने ख़याल की तह उतर जाती है, किंतु पहले (ईश्वर के) ख़याल के रूप बने रहते हैं।

(५२) जब यह नींद से निकलता है, तो फिर ख़याल उन्हीं आकृतियों पर पड़ता, उन्हीं की आकृति पर उठता, उसे डबल बना लेता है और वही देखता हुआ उसे सत् मानता है। किंतु जिस तरह पर नींद में मन के दूर होने से एक तह उसकी दूर हो जाती है, उसी तरह कल्प में या निश्चित समय पर जो नियत है, पहली तहें भी दूर हो जाती हैं। इसलिये क्या मन, क्या माया, ख़याल ही उसका स्रोत है, और ख़याल वास्तव में आत्मा की विभूति (महिमा) या छाया है। इसलिये आत्मा समस्त प्राप्तव्य है और मनोरथ का स्रोत है। किंतु माया की अवस्था में तो सत्य संकल्प सत्य काम होता है, क्योंकि यहाँ

वह दूसरों के भोग के लिये तो न्याय का अनुवर्ती है और अपने भोग ऐश्वर्य के लिये स्वतंत्र, पूर्ण मुक्त है, जैसा चाहता है पाता है।

(५३) यही आत्मा दूसरी फैलावट (मन) में स्वतंत्र और स्वाधीन नहीं होता, क्योंकि सदैव अविद्या और कर्मों के कारण भोगों के बन्धन में है। इसलिये जो चाहता है नहीं पाता है, दुखी होता है। यद्यपि माया और मन एक ही हैं, तो भी झूठी अविद्या के कारण माया इसी हृदयकमल में अपने काम करती उसे ढाँपती रहती है, जैसे नदी का निर्मल जल उसके ही फेन और झाग आदि से ढँपा होता है।

(५४) इसलिये मनुष्य मृत्यु और ज्ञान से प्रथम उसको नहीं पाता, किंतु जब पहले ज्ञान से अविद्या के आवरण को दूर करके उस आत्मा को जानता है, जो सबका स्रोत है, और फिर मरता है, तो यही माया आवरण रहित होती, उस की छाया की तरह उसे मिलती है और उसी के वश में होती है, और वह जो चाहता है मिलता है। और वह (ख़याल) इस हेतु कि कर्म और विद्या के साथ है और जब तक चाहे स्थिर रहता है, यद्यपि कल्पित है, किंतु इस संसार से भी अधिक सत्य ज्ञात होता है, यही आदेश हुआ है। इसी कारण केवल आत्मा की पहचान, जो समस्त मुरादों की प्राप्ति में हेतु है, आवश्यक है, और उसी की पहचान में समस्त मुरादें मुफ़्त मिल जाती हैं।

(५५) क्योंकि यही आत्मा वास्तव में प्यारा है, इसलिये बाह्य मन या माया की तरंगें, क्या संसार के भोग, क्या ब्रह्म लोक के भोग, सब इसी के कारण से प्यारे हैं। यदि इसके अनुकूल न हों, तो यही अरुचिकर हो जाते हैं। जब कि सब से खरा प्यारा यही आत्मा है और दूसरे भी इसी आत्मा की

पहचान से मुफ्त मिल जाते हैं, तो मनुष्य को चाहिये कि आत्मा को ही जाने और उसी में प्यार करे, और उसी की जिज्ञासा करे। *भोग तो उसे छाया की तरह प्राप्त हो जाते हैं।* इसी कारण पिछले ब्राह्मण आत्मा को जान कर संसार के भोगों से उपराम होते सन्यास लेते थे।

(५६) क्या यह सच नहीं जो दीपक प्राप्त करता है, वास्तव में समस्त प्रकाश को प्राप्त करता है, या सूर्य को पाता है, तो सारे दिनों और वर्षों का स्वामी हो जाता है, क्योंकि क्या प्रकाश, क्या दिन, क्या वर्ष, क्या मास, सबका स्रोत सूर्य है। किंतु वह जो एक संक्षिप्त किरण को चाहता है और पाता है, दूसरी किरणों का स्वामी नहीं हो जाता, और वह भी उस की सार्व कालिक सम्पत्ति नहीं हो जाती।

(५७) इसी तरह मनुष्य भी कर्म करके बिना आत्मा की पहचान के किसी एक सांसारिक मुराद या परलोक को प्राप्त करता है, तो दूसरे मनोरथों या मुरादों का स्वामी नहीं हो जाता, और यह भी उसकी सार्वकालिक संपत्ति में नहीं आ जाता, क्योंकि बनावटी अन्ततः दूर हो जाता है। किंतु वह जो इस आत्मा को पा जाता है, जो समस्त मनोरथों का स्रोत है, सचमुच सारे मनोर्थों या मुरादों का उत्तराधिकारी और स्वामी होता है। वह स्वयं जैसे अविनाशी जीवित होता है वैसे उस की सफलता भी अविनाशिनी होती है।

(५८) ऐ प्यारे! ये बातें हमारी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् सचमुच हैं। भरोसा करो, अपने आत्मा को पहचानो और उसी में गौर करो और उसी को पाओ कि यही सब पदार्थों का कोष है। यदि हमारे पर आपको भरोसा (विश्वास) नहीं, तो हम इस का प्रमाण वेदों से देते हैं। कान धर कर सुनो कि पिछले ब्राह्मण किस प्रकार इसको जानते हुए संन्यास लेते थे और किस तरह

इसकी पहचान में सफल होते थे।

(५६)* हम सुनते हैं कि याज्ञवल्क्य मुनि के यहां दो स्त्रियां थीं, एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम कात्यानी था। कात्यानी ब्राह्मणी थी। यह कात्यानी ब्राह्मणी अपने गृहस्थी के कामों में बड़ी निपुण थी और संसार की विद्या भली भाँति जानती थी, जैसा कि अच्छी स्त्रियों का नियम है, किंतु दूसरी मैत्रेयी ब्राह्मणी उसके अतिरिक्त आत्मा की पहचान की भी इच्छुक थी, और बड़े प्रेम तथा आनंद से जीवन यापन करती थी।

(६०) हम यह भी सुनते हैं कि याज्ञवल्क्य मुनि के पास बहुत धन संचित था, क्योंकि राजा जनक के अतिरिक्त सब राजा उसे धन देते और उससे आध्यात्मिक प्रसाद लाभ करते थे। जब यह मुनि बूढ़ा हुआ तो उसने संन्यास लेना अर्थात् दुनिया को त्यागना चाहा, क्योंकि वह जो अपनी आत्मा की पहचान रखते हैं भोगों की कुछ परवाह नहीं करते, वरन् छाया के समान झूठा जानते हैं, उन्हें त्याग करना कुछ कठिन नहीं होता। जब मुनि का यह पक्का संकल्प होगया, तो उसने अपनी ब्राह्मणी मैत्रेयी को बुलाया कि अरी मैत्रेयी, मैं अब यहां से चलने को तैयार हूँ, फिर नहीं आऊँगा। आओ यह धन तुम दोनों को अपने सामने बाँट दूं।

(६१) मैत्रेयी बोली, महाराज! क्या मैं इस संपत्ति का भाग पा कर अमर हो जाऊंगी? कहा—नहीं, उसी तरह जीव निर्वाह करोगी जैसे धनवान लोग आनन्द से जीवन बिताते हैं। वह बोली—क्या यदि इससे अधिक मिले तो मैं अमर हो जाऊंगी? कहा—नहीं, यदि सारी धरती भी संपत्ति से परि-

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद अध्याय ४ ब्राह्मण ५। यही कथा इसी उपनिषद के अध्याय २ के ब्राह्मण ४ में है। वह आरम्भ इस कथा का है।

पूर्ण हो जाय और तुझे मिल जावे, तो भी अमर जीवन नहीं मिलेगा, उसी तरह जीवन निर्वाह करोगी जैसे कि धनवान लोग करते हैं। धनसे अमर जीवन की आशा मत करो।

(६२) तब मैत्रेयी बोली—जब कि धन से मुझे अमर जीवन की आशा नहीं है, तो मैं धन का भाग लेकर क्या करूँगी? सब कात्यानी को छोड़ दो। मुझे तो अपनी उस संपत्तिका भाग दो जिसे पाते हुए मैं अमर जीवन पाऊं और जिसे आप पाकर यह संपत्ति योंही छोड़ जाते हो और तुच्छ जानते हो।

(६३) तब याज्ञवल्क्य बोला—ऐ प्यारी! तूने अच्छा कहा और अच्छा मांगा। तू पहले भी मुझे इसी कारण आनन्द और प्यारी लगती थी। अब मेरे निकट आओ मैं तुझे अमर जीवन की शिक्षा देता हूँ। भली भांति मन लगाकर इस सम्पत्ति को लो जिसको पा कर मैं यह संसार की सम्पत्ति तुच्छ विष्ठा की तरह छोड़ता हूँ। जो कुछ मैं सिखाऊं उसमें निदिध्यासन करना।

(६४) फिर ऋषि ने उसे यों सिखाया—ऐ प्यारी! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने लिये पति भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी! स्त्री के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने लिये स्त्री भी प्यारी होती है।

(६५) ऐ प्यारी! सन्तान भी सन्तान के लिये प्यारी नहीं होती, अपने लिये सन्तान भी प्यारी होती है। ऐ प्यारी! धन भी धन के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये धन भी प्यारा होता है।

(६६) अरी मैत्रेयी! ब्रह्म-धर्म भी ब्रह्म-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, बरन् अपने लिये ब्रह्म-धर्म भी प्यारा लगता है। ऐ प्यारी! क्षत्री-धर्म भी क्षत्री-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, बरन् अपने लिये क्षत्री-धर्म भी प्यारा होता है।

(६७) अरी मैत्रेयी! लोक भी लोकों के लिये प्यारा नहीं

लगता, बरन् अपने लिये लोक भी प्यारा होता है। पे प्यारी! देवता भी देवता के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये देवता भी प्यारे होते हैं ।

(६८) अरी मैत्रेयी! भूत भी भूतों के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये भूत भी प्यारे होते हैं। शरीर शरीर के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये शरीर भी प्यारा होता है। बहुत क्या कहूँ, मन, इन्द्रिय, क्या बाहरी, क्या भीतरी, सब सबके लिये प्यारे नहीं, बरन् सब आत्मा के लिये प्यारे हैं ।

(६९) इसलिये आत्मा ही वास्तव में सबसे प्यारा है और यही अविनाशी जीवन है, और इसी के पीछे सब प्यारे हैं, और इसी की सब विभूतियां और छाया हैं। इसी को पाकर अमर जीवन पाते हैं। इसी के प्रताप से सब मनोरथ, सब पदार्थ मुफ़्त छाया के समान मिल जाते हैं। ऐ प्यारी! यही आत्मा देखना चाहिए, इसी को सुनना चाहिए, इसी को मनन करना चाहिए, इसी को निदिध्यासन करना चाहिए ।

(७०) अरी मैत्रेयी! आत्मा के देखने, सुनने, और पहचानने से सब देखे सुने ओर पहचाने जाते हैं, आत्मा के पाये सब पाये जाते हैं, जिस तरह सूर्य पाया, तो धूप अपने आप मिल जाती है, या दीपक पाया, तो प्रकाश अपने आप मिल जाता है, ।

(७१) ऐसे ब्रह्म (ब्राह्मण) को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न ब्रह्म (ब्राह्मण) को जानता है, ऐसे क्षत्री को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न क्षत्री को जानता है, ऐसे लोकों को भी दूर करो, जो लोक को आत्मा से भिन्न जानता है ।

(७२) ऐसे देवताओं को भी दूर करो जो आत्मा से अन्य देवता को जानता है। ऐसे भूतोंको भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न भूतों को जानता है, बरन् उन सबको दूर करो जो सब को आत्मा से भिन्न जानता है। ऐ प्यारी! यह ब्रह्म, यह क्षत्र,

यह लोक, यह देवता, यह भूत, यह शरीर, यह सब क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या यहाँ क्या वहाँ, सबका सब आत्मा है। जैसा क्या इधर की धूप क्या उधर की धूप, क्या दाएं क्या बाएँ, क्या नीचे क्या ऊपर, सबकी सब धूप सूर्य है। इसी तरह क्या ब्रह्म, क्या क्षत्र, क्या लोक क्या परलोक, क्या देवता क्या गंधर्व, क्या भूत क्या भूतसमूह, क्या शरीर क्या शरीरी, क्या प्राण क्या प्राणी सबके सब यही आत्मा है।

(७३) अरी प्यारी! जिस तरह यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्मरूप हैं,उसके उदाहरण तू मुझ से सुन। जैसे यह सब आत्मा है, मैं तुझसे बतलाता हूँ। जैसे एक नगाड़ा बजाते हैं, तो उसमें जो रागनी निकलती हैं, सब उसी नगाड़े के शब्द की विभूतियाँ होती हैं। इसी तरह यह सब इसी आत्मा की विभूतियाँ हैं।

(७४) अरी मैत्रेयी! जिस तरह नगाड़ा या तबला के शब्द की पहचान से उसके सब पंचम मध्द्म (ऊंच नीच) स्वर पहचाने जाते हैं और उसीके पाए सब अपने आप पाए जाते हैं, या जिस तरह नरसिहा के शोर के पहचानने से उसके उतार चढ़ाओं (वा पंचम मध्द्म स्वर) अपने आप पहचाने जाते हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, या जिस तरह वीणा की आवाज़ के पहचानने से सब रागनी अपने आप पहचानी जाती हैं और उसके पाए सब पाए जाते हैं, उसी तरह इस आत्मा के पहचानने से सब पहिचाने जाते हैं और इस आत्मा के पाए सब पाए जाते हैं।

(७५) अरी मैत्रेयी! इस आत्मा को जान। इसी को पहचान। इसीको पा। इसीके जानने से सब जाने जावेंगे। इसीके पहचानने से सब पहचाने जावेंगे। इसीके पाने से सब पाए जावेंगे। यही अमर जीवन है। यही अविनाशी धन है। यही सब का मूल है।

(७६) जिस तरह जलती आग में धुवाँ, चिनगारियाँ और

लपटें भिन्न-भिन्न हुई उठती हैं, अरी! उसी तरह इस आत्मा से क्या ऋग्वेद, क्या यजुर्वेद, क्या सामवेद, क्या अथर्ववेद, सब के सब श्वासों की भांति अपने आप उठते हैं। अरी प्यारी! जिस तरह मनुष्य सुगम साँस लेता है, इसी तरह अपने आप इस महान् आत्मा से ये वेद उठते हैं। वरन् कहानियाँ, पुराण, उपनिषदें श्लोक, सूत्र, भाष्य, जो कुछ रचना (विद्याएं) हैं, क्या लौकिक क्या पारलौकिक सब इसी का विभूतियां हैं और इसी के साँस हैं।

(७७) अरी प्यारी! देख, जैसे समस्त नदियों का एक समुद्र स्रोत है, इसी तरह सारी गरम और ठंडी वस्तुओं का एक त्वक् ही स्रोत है, और समस्त रसों का क्या मीठा क्या फीका एक जिह्वा ही स्रोत है, और समस्त रङ्गो का क्या नीला क्या पीला सबका एक नेत्र ही स्रोत है, समस्त गंध का, क्या सुगंध क्या दुर्गंध सब का एक नाक ही स्रोत है, और समस्त शब्द का, क्या मधुर क्या कटु (अप्रिय) सबका एक कान ही स्रोत है, और समस्त संकल्पों का क्या भले क्या बुरे सबका मन ही स्रोत है।

(७८) इसी तरह सब विद्याओं, क्या वैद्यक क्या ब्रह्मविद्या, सबका स्रोत एक बुद्धि ही है, और समस्त कर्म क्या ग्रहण क्या त्याग सबका एक हाथ ही स्रोत है, और समस्त आनंद क्या बाह्य क्या अभ्यंतर सब का एक उपस्थ ही स्रोत है। इसी तरह सब विसर्गों (त्यागों) का, क्या अच्छे क्या बुरे सब का गुदा ही स्रोत है, और सब गतियों का क्या जाना क्या आना, एक पाँव ही स्रोत है। इसी तरह सब वेदों का क्या ऋग् क्या यजुः क्या साम क्या अथर्व सब का एक वाणी ही स्रोत है। और यह सब स्रोत भी उन्हीं की तरह इस आत्मा से निकलते हैं, और स्रोत का स्रोत यही आत्मा है।

(७९) ऐ प्यारी! जिस तरह एक नमक का डला ही गल कर समुद्र हो रहा है और पानी दिखाई देता है, इसी तरह यही आत्मा संसार-रूप होकर संसार दिखाई देता है, तो भी जब समुद्र का पानी कुछ लेकर चखते हैं, तो नमक ही मालूम होता है। इसी तरह इस संसार में जिसको लेकर खोज करो, यही सच्चिदानन्द आत्मा ही पहचाना जाता है। यही आत्मा सबका जीवन सबमें उसी तरह व्यापक है जिस तरह नमक का डला पानी में गलकर जल रूप हो रहा है। इसी के कारण सब जीवित और अस्तित्व वाले हो रहे हैं।

(८०) अरी प्यारी! जिस तरह पानी से यदि लवण को किसी उपाय से निकाल ले तो फिर पानी फीका रह जाता है, उसी तरह यह सबका प्राण जब उन परमाणुओं वा महाभूतों से निकलता है, तो वे वही मृत हो जाते हैं। यह (आत्मा) प्रेत नहीं हो जाता, अनजान इसे प्रेत समझ कर पितर कर्म करते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। अरी ब्राह्मणी! विश्वास कर, इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा।

(८१) तब मैत्रेयी बोली—अजी महाराज! क्यों मुझे घब-राहट में डालते हो? जो आप ऋषि मुनि होकर कहते हैं कि मृत्यु के बाद यह प्रेत नहीं हो जाता तब मुनि जी ने कहा—ऐ प्यारी! मैं घबराहट में नहीं डालता, वरन् सच कहता हूँ। यही जानना ज्ञान है और यही यथेष्ट है। इसकी पहचान के लिये यही बहुत है।

(८२) क्योंकि दूसरों में आया यह दूसरा सा हो जाता है। देवता में आया देवता, मनुष्य में आया मनुष्य, पशु में पशु; किंतु जब इन सब को छोड़ देता है तब अकेला होता है। प्रेत नहीं हो जाता। प्रेत भी तभी होता है जब यह शरीर को छोड़ता प्राण नहीं छोड़ता। जब प्राण भी छोड़ता है और

अपनी महिमा में स्थिर होता है तो शुद्ध पवित्र होता है ।

(८३) जहां यह उन में दो सा होता है, तो दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा दूसरे को सूंघता है, दूसरा दूसरे को चखता है, दूसरा दूसरे से बात चीत करता है और दूसरा दूसरे को जानता है, जहां फिर यह आत्मा हो जाता है, तो एक अकेला होता है, फिर कौन किस को देखे ? कौन किस को सूंघे ? कौन किस को सुने ? कौन किस को जाने ? कौन किस को सोचे ? जिस से यह सब जानते हैं उसे कौन जाने ? अरी ! जिस से यह सब देखते हैं उसे कौन देखे ? अरी ! जिससे यह सब समझते हैं, उसे कौन समझे ? अरी ! जानने वाले को कौन जाने ? अरी ! सबके देखने वाले को कौन देखे ? यही तेरा आत्मा है, और यही तू है । ऐसा मालूम करा कर ऋषि जी चल दिए और गृहस्थ त्याग गए ।

(८४) इस आख्यान का संक्षिप्त सार यह है कि अकेला आत्मा सत है । क्या लोक क्या परलोक सब उसकी छाया या प्रतिबिंब है । उसीको माया भी बोलते हैं, और सब वस्तुएं क्या लोक क्या परलोक क्या स्वप्न इसी की बनी हुई हैं । जो कोई इस आत्मा को जो वास्तव में मूल है पहचानता और पाता है, छाया तो मूल के अधीन है अपने आप मिल जाती है । और यही मूल जो आत्मा है अविनाशी और अमर है, इसमें अहँता जब होती है तो अमर जीवन पाता है । और छाया तो बदलती रहती है, अविनाशी नहीं बरन् नाश हो जाती है । इसलिये शरीर जो छाया का बना हुआ है, अविद्या से उसमें प्राकृतिक अहंकार हो रहा है और उसकी मृत्यु से अपनी मृत्यु का निश्चय करता है ।

(८५) किंतु जब आत्मज्ञान से शरीर को भिन्न बरन् छाया जानता है और आत्मा में सच्ची अहंता पाता है, तो अमर जीवन पाता है और इस शरीर के दूर होने पर ब्रह्मलोक के

भोग छाया के समान मुफ़्त मिल जाते हैं। पर वह जो अपने आत्मा को नहीं जानते बरन् देह में अध्यास करते हैं, अनजान हैं। और शरीर के मरने से मरते और उसके जन्म से जन्मते हैं। इसलिये मैत्रेयी के प्रश्न पर कि "मुझे अमर जीवन दान करो" ऋषि ने अत्मा की शिक्षा दी जिस से मैत्रेयी ने अमर जीवन पाया। अब भी जो कोई आत्मा को इस तरह पहचानता है कि "मैं तो शरीर नहीं, बरन् पूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा हूँ और सब मेरी विभूतियां मेरे साथ हैं", उसी तरह अमर जीवन पाता है जैसा मैत्रेयी ने पाया।

(८६ फिर इस हेतु कि सब प्रारब्ध और मनोरथ छाया के समान हैं, और छाया का यह नियम है कि जो कोई अपनी छाया को पकड़ना चाहता है और उसके पकड़ने को उसकी तरफ दौड़ता है, तो छाया भी उससे आगे भागती जाती है, हाथ नहीं आती। मगर वह जो उसे नहीं चाहता, जिधर जाता है छाया अपने आप उसीके साथ-साथ पीछे लग जाती है।

(८७) इसी तरह अनजान मनुष्य परिच्छिन्न शरीर में अहंता का निश्चय करता हुआ अर्थ-काम की, जो आत्मा की छाया हैं, इच्छा करता, और उन्हें लेना चाहता है, और उनकी ओर दौड़ाता है, किंतु वह उसी की छाया होने के कारण उस से बढ़कर आगे दौड़ता है, हाथ नहीं आता, बरन् उतना ही मिलता है जितना कि उसके पाँव के नीचे सम्बन्ध रखता है। कर्मों के कारण जो भोग चाहते हैं उतने ही पाते हैं जो उनके कर्म के अधीन हैं, सब नहीं मिल जाते।

(८८) परन्तु वह जो आत्मा को सब का मूल जानता है और उस में सच्ची अहंता (अहंभाव) पा जाता है और नाशमान छाया को हेय जानता उसकी परवाह नहीं करता,

वरन् संन्यास करता है, तब सब पदार्थ, सब भोग छाया की भाँति उसके पीछे दौड़ते हैं, वह नहीं चाहता, परन्तु वह अपने आप उपस्थित होते हैं, क्योंकि छाया विना मूल के कहाँ रहे, कहाँ जाय। इस तरह ज्ञानी नहीं भी चाहता, तोभी विना चाहे मुफ़्त भोग मिलते है।

(८९) किसी रूप से छाया-सा शरीर जब तक स्थिर रहता है, कर्म-संबंध से संक्षिप्त भोग उतने ही मिलते हैं जितने कि कर्मों के अधीन हैं। जब यह शरीर छोड़ता है, तो कर्म-सम्बन्ध भी दूर हो जाता है, ब्रह्मलोक के भोग उसके पीछे अपने आप पड़ते हैं, सत्य संकल्प सत्यकाम होता है।

(९०) यही कारण था कि मैत्रेयी ने धन का भाग न लिया, अमर जीवन का भाग माँगा, क्योंकि ये वस्तुएँ तो अपने आप छाया की तरह आत्मा के साथ रोंगे-रोंगे में मिल जाती हैं, और यही कारण था कि याज्ञवल्क्य मुनि ने पुष्कल धन होने पर भी उन सब को योंही छोड़ दिया जैसे कोई घर का मेला बाहर फेंक देता है।

(९१) ऐ प्यारो! भारतवर्ष में स्त्रियाँ मैत्रेयी के समान थीं कि तुच्छ संसार और हेय सम्पत्ति की ओर दृष्टि नहीं करती थीं। तुम तो भारत के पुरुष हो, फिर क्यों रात-दिन संसार की उन्नति और धन कमाने में अपनी ख़बर भी नहीं रखते? बचपन में पाश्चात्य भाषा की शिक्षा पाने और लौकिक विधान (कानून) और विद्या के उत्तीर्ण करने में यत्न करते हो, फिर युवावस्था में धन कमाने और भोगों के भोग में प्यारा जीवन खो देते हो। शोक! कि मुफ़्त प्यारे जीवन को नष्ट करते हो।

(९२) आयु भी खोते हो समस्त प्राप्तव्य भी नहीं मिलते, वरन् उतने ही मिलते हैं जो प्रारब्ध में हैं। क्योंकि वह त

तुम्हारी छाया है, उसकी ओर दौड़ोगे, तो वह तुम से पहले दौड़ जायगी, हाथ नहीं आ सकती, बरन् उतनी ही आ सकती है जो तुम्हारे पाँव तले है। विचित्र मूर्खता है कि वह सामने भागी जाती है और तुम उसके पीछे पड़ते हो। अन्ततः छाया नहीं थकेगी, तुम ही थक कर गिर जाओगे। जब मृत्यु हुई, बी. ए. पास कहाँ और वह तहसीलदारी, वह इक्स्ट्रा ऐसिस्टेंटी की आशाएँ कहाँ? फिर जन्म मरण संसार विद्यमान है, कहीं गधे हुये लादे जाओगे, कहीं बैल के जन्म में मार खाओगे। क्यों नहीं अभी सँभलते हो? आओ, मेरी सुनो।

(६३) इस लोभ को छोड़ो। अपने आत्मा में लगो। ज्यों ज्यों तुम इन सामग्रियों को छोड़ोगे त्यों त्यों तुम्हारे पास आवेंगे। इसी से लिखा है और यह किसी की बात सच भी है कि "बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।" तुम्हें चाहिये कि असल को पाओ, नक़ल तो खुद साथ है। अरी अविद्या! तेरा सत्यानाश! तू क्यों हमारे भारत में आ गई? और आर्य भाई जो ऋषियों मुनियों के पुत्र हैं, क्यों उन्हें दबा लिया?

(६४) अनर्थ यह हुआ है कि आर्य भाई पाश्चात्य भाषा की शिक्षा पाकर वेदों में परिवर्तन करना चाहते हैं, और नूतन समाज बनाकर अपनी कपोल कल्पना से भक्ति करते हैं जैसे पाश्चात्य भी करते हैं। दूसरे मुक़ाबले पर ब्रह्म समाज करते हैं। जिस तरह अँधेरे में मुर्ग लड़ते हैं इस तरह विवाद और उत्तर में पत्र छापते हैं। ऋषियों मुनियों पर विद्या-दोष का लांछन लगाते हैं, अपने आप को बी० ए० पास के कारण गौरवशाली समझते हैं, यद्यपि कुछ नहीं जानते।

(६५) क्योंकि वे देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं जानते, जैसा कि विरोचन ने समझ लिया था, और अपने शरीर की

रक्षा और भोगों के लिये संसार की उन्नति में प्रयत्न करते अपनी चिन्ताओं के अनुसार देशोन्नति के संकल्प करते हैं, और भारतीय भाइयों को मूर्ख और जङ्गली जानते हैं जैसे कि पाश्चात्यों के विचार हैं।

(९६) ऐ भाइयो! पहले अपने आपको पहचानो कि तुम क्या रूप हो? जब तक पहले कोई अपने आप का ही ज्ञान नहीं रखता, दूसरे की क्या जाँच कर सकता है। वह जो अपने आप की समझ नहीं रखता है, बावला होता है, क्योंकि बावले को यही कहते हैं कि यह तो अपने आपकी भी सूझ नहीं रखता। जबकि तुम अपने आप की भी सूझ नहीं रखते तो बी० ए० पास की शिक्षा के कारण ज्ञानी-विज्ञानी ऋषि-मुनि नहीं हो सकते। फिर किस प्रकार आध्यात्मिक बातों का खंडन कर सकते हो? यदि उनका खंडन नहीं कर सकते, तो आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज और गुरु सिंह सभा नहीं तो और क्या है।

(९७) मैं तुमसे विनती करता हूँ, इस प्रकार की देशोन्नति से बचो। पहले अपनी पहचान करो, प्राकृतिक बावलेपन से निकल आओ, फिर देखो किसमें देश की उन्नति है। मेरे भाई! ऐसा न हो कि मेरा उपदेश अप्रिय प्रतीत हो, इसलिये मैं अधिक नहीं कहता, प्रयोजन की बात पर आता हूँ कि माया एक आत्मा की छाया है और सब (प्राप्तव्य) मनोरथ मायामय या छाया रूप हैं। आत्मा के पाने से सब अपने आप मिल जाते हैं और उनको छोड़ने से वह पीछे पड़ते हैं और उनको चाहने से वह आगे भागते हैं, बुद्धिमान् उनकी परवाह नहीं करते।

(९८) यह नहीं मान लेना चाहिए "कि अब माया छाया है, और उसका संसार भी माया का कार्य अर्थात् छाया रूप है। तो जिस तरह धूप भी सूर्य की छाया है और स्वाभाविक रीति से उससे उतरती है, उसी तरह आत्मा से माया भी स्वाभाविक

रीति से उतरती होगी। जैसे सूर्य यदि चाहे कि उससे धूप न उतरे, और ऐसा हो नहीं सकता, तो इसी तरह आत्मा भी शायद विवश होगा कि उस से संसार होता रहे और वह उसमें फँसा रहे।" वरन् माया छाया की तरह इस ख़याल से वर्णन की गई है जैसे सूर्य-किरणें या नर-छाया सूर्य या मनुष्य के सिवाय कुछ सत्ता नहीं रखती, वरन् उसी की विभूति वही रूप है।

(९९। लेकिन माया अविद्या तक तो निस्संदेह विवश करती है। जब अविद्या जाती है, तो फिर अधीन हो जाती है, जैसे ईश्वर के अधीन होती है। क्योंकि माया अपने आप चीज़ें नहीं बना सकती, जैसे मिट्टी अपने आप चीनी प्याला नहीं बन जाती, वरन् जैसा कुम्हार चाहता है वैसा रूप माटी धारण करती है। इसी तरह जैसे आत्मा चाहता है वैसे माया भी पदार्थों और मनोर्थों की विभूति में बदलती है। यह विचार कि माया अपने आप आत्मा के भोग और मुक्ति के लिये रूप बदलती है, कपिलमुनि का विचार है जो ठीक नहीं, वरन् वेद की श्रुतियों के विरुद्ध है।

(१००। क्योंकि माया वास्तव में जड़ है। जड़ वस्तुएं अपने आप नहीं बदलतीं, वरन् उनके बदलाने और बनाने के लिये चेतन आत्मा आवश्यक है। सूर्य और धूप दोनों तो जड़ हैं इसलिये सूर्य के अधीन धूप नहीं। आत्मा तो चेतन है, माया उसके बश में है। जिस तरह वह चाहता है, उसे नाच नचाता है। निस्संदेह उसीकी विभूति उससे कुछ पृथक वह सत्ता नहीं रखती, तो भी उसके अधीन है।

(१०१) देखो, मनुष्य का उठना-बैठना या चलना-फिरना मनुष्य की शानें (आकृति वा चेष्टा) हैं, उसके स्वरूप से कुछ अधिक वस्तु नहीं हैं, तो भी उसके वश में हैं। क्योंकि जब वह

चाहता है तो उठता है, जब वह चाहता है तो बैठता है, जब वह चाहता है तो चलता है, जब वह चाहता है तो नहीं चलता। कोई उठना बैठना या चलना फिरना उसे विवश नहीं करता, यद्यपि वे सब उसी की चेष्टा और उसी की छाया हैं।

(१०२) इसी तरह माया भी, यद्यपि आत्मा की विभूति, आत्मा की छाया है, तो भी आत्मा को विवश नहीं करती, वरन् जिस तरह वह चाहता है, उसी तरह नाचती है, जैसे मनुष्य भी जिस तरह चाहे छाया को चला सकता है। फिर क्योंकर कपिल मुनि का विचार ठीक समझा जाय? वरन् श्रुतियों में सृष्टि के आरंभ में आत्मा की इच्छा सुनते हैं कि "उसने चाहा कि मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ" और ऐसा होगया। जब कि श्रुति भगवती संकेत करती है कि आरंभ में आत्मा की इच्छा के अनुसार संसार उत्पन्न होता है, तो किस प्रकार ठीक हो सकता है कि स्वाभाविक रीति से उससे जगत् उत्पन्न होता है।

(१०३) फिर इस हेतु कि कणाद और उसके शिष्य और आज कल स्वामी दयानन्द और उनके शिष्य ख्याल करते हैं कि सब बस्तुओं के परमाणु (वह अणु जिनके खण्ड न हो सकते हों) आत्मा के साथ हैं और उन्हीं के संयोजन से वह संसार बनाता है, यह भी भूल है। क्योंकि अकेला आत्मा जब कुछ भी नहीं था उस समय उसने सब कुछ बनाया। ऐसा वेदों में सुनते हैं।

(१०४) जब कि हम उसे उस समय अकेला और अद्वितीय सुनते हैं, तो किस प्रकार यह निश्चय कर सकते हैं कि उसके साथ परमाणु भी थे? तो फिर वह अकेला या अद्वितीय नहीं रह सकता क्योंकि श्रुति विस्तार और ताकीद के साथ विश्वास दिलाती है, कि "ऐसा अकेला था, कुछ भी कल्प तक विद्यमान न था।" जब

कि श्रुति साक्षी देती है, कि कल्प तक भी साथ न था, तो परमाणु-वादी परमाणुओं को तो संभव सत् अर्थात् अनादि मानता है, कल्प तक भी नहीं मानता, क्योंकर उस समय निश्चय करता है ? निदान वेद के विरुद्ध सब लोग अपनी कपोल कल्पना करते हैं जो विश्वास के योग्य नहीं।

(१०५) उनकी आपत्ति कि "जब वह ऐसा अकेला था, क्योंकर उसने इच्छा की और किस प्रकार किस सामग्री और यंत्रों से उसने संसार बनाया" उचित नहीं हैं, क्योंकि हम उसे सर्व शक्तिमान सुनते और सर्वज्ञ जानते हैं। वेदों के मंत्र प्रमाणित करते हैं कि वह विना हाथों के पकड़ता है, विना पावों के चलता है, विना आँखों के देखता है और विना कानों के सुनता है।

(१०६) इसी तरह वह विना मन के सोचता-समझता इच्छा करता है, और यही उसकी महिमा और माया है। और इसी माया से, बिना उपादान और विना साधन के, संसार बनाता है, बरन् आप ही प्रत्येक महिमा में आया हुआ प्रकाश-मान होता है। उसे फिर परमाणुओं की क्या अपेक्षा और साधनों की क्या आवश्यकता ? जो चाहता है, सो करता है। परम स्वाधीन है। तथास्तु।

(१०७) अकेला है, पर नाना रूप हो जाता है; असंग है, पर संगवाला हो जाता है; एक है, पर अनेक हो जाता है। कुछ कठिनताएँ नहीं रखता। यह भी नहीं कि कपिल जी के विश्वासानुसार प्रकृति अपने आप जगत् बनती है। वरन् जिस तरह एक बड़ा बुद्धिमान् इञ्जिनियर इमारत बनाता और कोठियों और इमारतों की नीव डालता है, इसी तरह आत्मा भी सब कुछ करता हुआ अकर्त्ता है।

(१०८) यह न मान लेना चाहिए कि "बुद्धिमान् इंजीनियर

तो उपादान और साधनों के अधीन है, जब तक उस अकेले के पास सामग्री नहीं होती, तो वह किस प्रकार इंजीनियर की तरह संसार बना सकता है?" वरन् जैसा निर्मल जल में विलोने से झाग और बुदबुद रूप विभूतियाँ निकलती हैं, उसी तरह स्वच्छ, स्थिर आत्मा में एक माया का आवेश संसार बनता है।

(१०९) सच तो यों है कि जिस तरह एक बुद्धिमान जादूगर बिना यंत्र और सामग्री के आकाश में उड़ता और उतर आता है, परंतु वास्तव में न उड़ता और न उतरता है, इसी तरह यह आत्मा भी जादूगर की तरह संसार बनाता है और वास्तव में नहीं बनाता। इसी कारण संसार उसका कौतुकस्थल कहलाता है और इस कौतुक को ही संस्कृत में माया कहते हैं, और जादूगर या कौतुकी को मायावी। इसी कारण वेद की श्रुतियाँ कहती हैं कि माया को प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर मानो। इस प्रकार के मंत्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी माया ही जो कौतुक है संसार का उपादान है और मायावी जो उसका स्वरूप है, कर्ता है। अतः महिमा वा विभूति तो बदलती है, स्वरूप या भूमा नहीं बदलता। और जिस तरह वह चाहता है, हर महिमा वा विभूति में आता है। यही सच है। यही वेद के अनुकूल है। जो कोई इसके विरुद्ध विश्वास करता है, काफ़िर (ईश्वर-निन्दक) है, और अद्वैत की गंद भी नहीं रखता।

(११०) पाश्चात्य लोग जो ख़याल करते हैं कि ईश्वर नास्ति से अस्ति करता है, यह भी ठीक नहीं। जो स्वयं नास्ति है, वह अस्ति नहीं हो सकता। जो अस्ति है वह नास्ति नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो सके, तो नास्ति से सब कुछ उत्पन्न हो सके, और बंध्या का सुत, आकाश-कुसुम और कीकर फलदार भी हो जाता। और यह संभव नहीं, इसलिये उनका विचार

भी वृथा है।

(१११) यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि 'वह पूर्ण है, उसे संसार के बनाने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी काम जो निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, और जो कोई प्रयोजन वश कार्य करता है, वह पूर्ण नहीं होता''। वरन् यों समझो, जैसे महासुंदर प्रेमपात्र यदि पूर्ण भी हो, तो भी दर्पण में अपना मुँह देख-देख कर प्रसन्न होता है, वैसे ही यह महान् प्रभू परमात्मा अपने देखने के लिये जगत् बनाता है।

(११२) जिस तरह एक महासुंदर पूर्ण पुरुष कोठी बनाता है और उसमें एक शृंगार का कमरा बनाता है, और उसमें शृंगार की मेज़ रखता है और उसपर क़लईदार आइना रखता है और उसमें दृष्टि करके अपना रूप देखकर आनंदित होता है। इसी तरह परमात्मा ने अपने देखने के लिये धरती और आकाश एक उत्तम कोठी बनाई है और यह संसार एक शृंगार का कमरा बनाया है और धरती उसमें शृंगार की मेज़ के समान है और उसपर मनुष्य एक क़लईदार आइना रक्खा गया है, क्योंकि मनुष्य का शरीर तो मानों आइने की चौखट के समान है और उसका हृदय एक शीशे का निर्मल टुकड़ा भीतर जड़ा हुआ है जिसके पीछे अविद्या की क़लई लगाई गई है, उसमें वह प्रतिबिम्ब की भांति किरणें मारता हुआ अपने आपको देखता है। यही उसका विलास और यही उसकी इच्छा संसार की उत्पत्ति की है। दूसरा कुछ भी तात्पर्य नहीं।

(११३) जब यह पूर्ण भी आइना देखता है, तो अपनी पूर्णता से नहीं निकल जाता, इसी तरह आत्मा भी अपने दर्शन के लिये मनुष्य में आया अपने पूर्णत्व से नहीं निकल जाता है। क्योंकि मुख भी एक प्रकार का अपना अंग होता है, जैसा वह बिना आईने के अपना दर्शन नहीं पाता, इसी तरह आत्मा भी

जो असली अपना आप (स्वरूप) है. क्योंकर दिखाई दे? क्योंकि लिखा है कि जब यह आत्मा ही होता है तो किसको कौन देखे? बरन् जब वह अनेक होता है, तो दूसरा दूसरों को देखता है।

(११४) इसी कारण मुँह भी किसी कारण से लौकिक दृष्टि से अकेला होता है, किस प्रकार वह अपने आप को देखे? बरन् जब वह दर्पण में आया दूसरा सा होता है, तो दूसरा हुआ दूसरे को देखता है। इसलिये आत्मा तो वास्तव में अकेला है किस प्रकार अपने आपको देखे? इसी कारण अपने दर्शन के लिये अपनी माया से वह भी संसार के रूप में दूसरा सा और सत सा हुआ मनुष्य के मनोमुकुर (वा हृदयदर्पण) में अपना तेज देखने को आया है।

(११५) अपने तेज का दर्शन तो संसार के बनाने में मुख्य तात्पर्य है, जो उसके पूर्णत्व में अंतर नहीं लाता, किंतु लौकिक दृष्टि से दूसरे चमत्कारों का भी प्रदर्शन है जो संसार की बनावट में उसकी विचित्र कारीगरी और विचित्र कौतुक सिद्ध होते हैं। इसलिये अपने समस्त चमत्कारों का प्रदर्शन भी संसार का हेतु है। जिस प्रकार प्रेमपात्र भी जो सुन्दर होता है, छुपा नहीं रहता, बरन् परदों और झरोखों से दृष्टि करता अपना रूप दिखाता है, इसी तरह सुन्दर आत्मा भी जिसके सौंदर्य का प्रकाश सर्वत्र दीप्तमान है, संसार के परदे में झांकी और दर्शन देता है।

नहीं छुपता मिसाले-बू छुपाये लाख परदों में;
मज़ा पड़ता है जिस गुल पैरहन को बेहिजाबी का।

यही उसका दर्शन देना संसार के बनाने का प्रयोजन है, जो किसी कारण से उस पर परदा भी है क्योंकि ज्यों-ज्यों परदे में झाँकी होती है, त्यों-त्यों प्रेमियों का प्रेम भड़कता है।

इस तरह स्वयं ही प्रेमी, स्वयं ही प्रेमपात्र, स्वयंही परदा होकर बहुत रूप हुआ संसार की शान (विभूति) में प्रकट हुआ है।

(११६) फिर संसार के देखने से क्योंकि एक-एक से एक-एक वस्तुमें (क्या लोक क्यापरलोक क्यासंसार क्यानरक क्या स्वर्ग क्या बंध क्या मोक्ष सब में) नियामकता और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, कोई भी व्यर्थ और निष्प्रयोजन नहीं वरन् प्रत्येक उसके समस्त चमत्कारों और समस्त बुद्धिमता को प्रकट करता है, यह किस प्रकार हो सकता है कि सूर्य की छाया की भांति प्राकृतिक रूप से वह प्रकट हुआ हो? क्योंकर हाथ की पाँच अँगुली बनाई गई हैं? बीच की अँगुली बड़ी, अँगूठा और कनिष्ठिका (चीची अँगुली) सबसे छोटी, और ऐसे ढङ्ग से रक्खी गई हैं कि उसे चाहे मुट्ठी करें चाहे खोल दें। किसी चीज़ को पकड़ें तो पकड़ सकते हैं, किसी गिरह को खोलना चाहें तो हाथ से खोल सकते हैं। शत्रु को मुक्का मारना चाहें, तो मार सकते हैं, भाले का काम देता है। लड़के को शिक्षा देना चाहें, तो थप्पड़ का काम देता है, और भी बहुत से प्रियोजन उससे निकलते हैं जिसकी चिंता में समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर दंग हैं।

(११७) वरन् यदि समस्त संसार के वैद्य वा डाक्टर मिल कर चिंता करें कि इस बनावट के सिवाय कोई दूसरी आकृति हाथ की बनाई जाय जिससे ये सब काम भी होसकें, तो कदापि चिंता न कर सकेंगे। और इसी तरह आँख के परदे और उसकी बनावटें और मुख्य मत्था फिर उनका लगाना सोचें, तो विचित्र बुद्धिमत्ता और कौशल चातुरी बनाने वाले की दिखाई देती है। और मनुष्य तथा प्राणियों के एक-एक अंग में, वनस्पतिवर्ग, खनिज वर्ग, और धरती-आकाश में पदार्थ वेत्ताओं की बुद्धि स्तंभित होती है, फिर किस प्रकार

हो सकता है कि यह बनावट बिना बुद्धिमानी के हु ?

(११८) यद्यपि उसकी बनावट की शैली से उसकी अपार बुद्धिमत्ता और बड़ी इञ्जीनियरी पाई जाती है, तो भी बिना साधन और बिना उपादान के वह बनाता है, इसलिये आश्चर्य है और इसी कारण उसे ख़याली वा काल्पनिक कहते हैं। फिर कहीं तो डबल ख़याल से कहीं इकहरे ख़याल से बनाता, दोहरा संसार रचता है। वह जो दोहरे ख़याल से बनाता है, उसे संभव विचार कहते हैं, वह जो इकहरे ख़याल से बनाता है, उसे स्वप्न विचार जानते हैं। इसलिये विचित्र सामर्थ्य, विचित्र शक्ति रखता है जिस से बढ़ कर कोई दूसरी शक्ति, दूसरी सामर्थ्य नहीं।

(११९) जो कोई श्रुतियों के विरुद्ध प्रकृति या परमाणु को निश्चय करता है या असत से सत मानता है, झूठा है। वह जो कहता है कि ईश्वर परमाणुओं से संसार बनाता है, उसे भी दूर करो। वह जो कहता है कि वह नहीं बनाता, वरन् उसके भोग के लिये अपने आप प्रकृति संसार बनाती है, उसे भी दूर करो। वह जो कहता है असत से सत करता है, उसे भी दूर करो।

(१२०) वह तो जादूगर की तरह जादू से संसार बनाता है। जैसे जादूगर भी अनहुई वस्तु दिखाता है वैसे संसार भी नहीं हुआ पर दिखाता है। ऐ परम-शक्तिमान जादूगर! कृपा कर, हमारे भाषाविद् शिष्यों को इस जादूगर से बचा ले। अपने जादू से बढ़ कर आश्चर्य माया के कारण हमारे शिष्यों पर परदा मत डाल। वरन् वही जो तेरी इच्छा है उन्हें अपना आईना आत्मा को दर्शाने वाला करले, वह अपने हृदय-दर्पण में तुझे देख-देख हमारी तरह आनन्द पावें। ऐ कृपालु! ऐ दयालु! उन्हें विषयों की चाट से रोक दे। तेरे

विषयों की चाट एक लेसदार शीरा है और मेरे भाषाविद् शिष्य बेचारे विद्या की कमज़ोरी के कारण व्याकुल मक्खियाँ हैं। निस्संदेह जैसे शीरा भी मीठा होता है, विषय भी मीठे होते हैं, जिस तरह मक्खी मीठे के लोभ में उस में पड़ती और फँसती है, ये न पड़ें और न फँसें।

(१२१) क्योंकि मक्खी नहीं जानती कि मैं उस के लेप से नहीं निकल सकूंगी, बरन् अपनी बुद्धि की कमज़ोरी से मिठाई के लालच से उस में जा पड़ती है और ज्यों ज्यों पर मारती और तड़पती है, अधिक काँप खाती है, अंततः उसीमें डूब मरती है। इसीतरह बेचारे भाषाविद् अपनी विद्याकी कमज़ोरी से विषयों में यों जा पड़ते हैं जैसे एक बलवान् साँड हरे खेत में जा पड़ता है, परन्तु उस में यों लेप पा जाता है जैसे कि एक व्याकुल मक्खी खाँड़ के शीरे में फँसती और मरती है। पर मैं तो अपनी रचनाओं और अनुवादों से एक पंखा हिलाता हूँ। वह जो इस पंखे की हवा में आ जाते हैं बचते हैं। किन्तु जो इस पंखे की हवा भी नहीं खाते, ऊपर-ऊपर या इधर-उधर निकल जाते हैं, जा फँसते हैं। मैं भी उनके बचाव का कोई उपाय नहीं करता, तेरा प्रसाद ही वांछित है। अपनी कृपा से उन्हें मेरे पंखे की हवा के नीचे ला जिस से मैं विषयरूपी शीरे से उन्हें आत्म-पुष्पोद्यान दिखलाऊँ, और जंगली चिड़िया से स्वर्ण-चिड़िया बनाऊँ।

(१२२) और इस पुष्पोद्यान में उन्हें मधु-मक्षिका की भाँति रस उठाना सिखाऊँ और ब्रह्मलोक के सूर्य-यूप में इस रस से अमृत बनाना बतलाऊँ जिससे वह इसी यूप में मिलाप पाते हुए अक्षय अमृत खावें और मृत्यु के बंधन से मुक्ति पावें। कैसी बड़ी बात है कि यदि मेरे हाथ से यह बेचारी छोटी मक्खियाँ भी सूर्य के यूप की देवी-मक्खियां हो जायँ। और तेरी कृपा में

कुछ भी दूर नहीं । तू कृपालु दयालु है, जो चाहे सो कर सकता है, ऐसा करदे । तथास्तु ।

(१२३) अब मैं ऐ भाइयो ! तुम्हें वैदिक कहानी सुनाता हूँ जिस से तुम्हें सुगमता से ज्ञात हो जाय कि क्योंकर आत्मा अपनी बुद्धिमता वा कौशल से संसार बनाता है, और क्योंकर मनुष्य में वह प्रविष्ट होता है, और क्योंकर वही परमात्मा मनुष्य बन आया है और क्यों यह ऐसा हुआ है, और क्योंकर मनुष्य के पद में उसका दर्शन होता है, और किस प्रकार देवता भी इस में प्रविष्ट हुए इसी से जीविका पाते हैं, और क्यों वास्तव में यही सब का स्वामी और स्रोत है, और किस प्रकार उस के विचार से जाग्रत् और स्वप्न का संसार बनता है । इति

(१२४) यद्यपि ये बातें बड़ी संस्कृत-विद्या की अपेक्षा करती है, तो भी भाषा जानने वालों के लिये वैदिक कहानियों से जतलाना मनोरञ्जक और सहज बोधगम्य खयाल करता हूँ । इसलिये ऋग्वेद ऐतरेय शाखा में जो कुछ कि सुनता हूँ, यहां अनुवाद करता हूँ ।

आठवां अध्याय ।

(१) हम सुनते हैं कि जब प्रजापति इन्द्र को और कश्यप को शिक्षा दे चुका और इन्द्र ने यही शिक्षा देवताओं में प्रचलित की, तो कश्यप ने अपने पुत्र मनु को और सनकादिक ऋषियों को, जो त्रिजन्मा (त्रिधा) उत्पत्ति में उत्पन्न हुए थे, यही सिखलाया, और ये सनकादिक ऋषि सृष्टि को उत्पत्ति में इसी शिक्षा का प्रचार करते थे और जनता को न्याय (करनी भरनी)

और प्रसाद की ओर बुलाते थे।

(२) किंतु न्याय (कर्मकाण्ड) के रहस्य तो उन पर खुले, प्रसाद के भेदों (रहस्यों) से उन्हें आवरण रहा, इसलिये वह कर्मकाण्डमें और शास्त्रों (पूर्व मीमांसा) में तो लग गए, परंतु आत्मा को न जाना जिसपर मुक्त अमर जीवन और परलोक का उत्तराधिकार मिलता है। तो भी उनमें वह जो पवित्र और स्वच्छ हृदय के थे, आत्मा के विवेक की अभिरुचि रखते थे। और उसके पूछने के लिये झुण्ड के झुण्ड सनकादिक ऋषियों के पास आते और आत्मा की शिक्षा पाते थे।

(३) उनमें एक का नाम वामदेव ब्राह्मण था जो अच्छा स्वच्छ हृदय रखता था, किंतु उसे एक पिछले जन्म का ऐसा पाप था, जो दूसरे जन्म का कारण था और यही आवरण था जिसके कारण उसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता था। तो भी महा-वाक्य उसमें बीज के समान प्रभाव डालते थे। जैसे कोई बीज भूमि में बोया जाय, तो नियत समय तक वह अंकुर नहीं लाता, जब समय आता है तो अपने आप फिर अंकुर लाता है।

(४) दूसरे जन्म के आवरण के कारण जो आने वाला था उसमें अंकुर (फल) नहीं लाता था, तो भी वह यज्ञ, तप और व्रत से गोड़ी करता था, और सनकादिक मुनियों की शिक्षा की वर्षा से उसे सींचता था। अंततः वह उनमें युवावस्था में मर गया और पितृयान सड़क पर चलता हुआ चंद्र लोक में सोम-राज हो गया, और वहाँ के स्वर्ग के भोग भोगकर फिर नीचे लोकों में आया और उसी नियम से, जैसा कि हमने कर्मकाण्ड के प्रकरण में पंचाग्नि विद्या से संकेत किया है, वर्षा के द्वारा भूम्यग्नि में होम होकर अन्न हुआ, और फिर ब्राह्मणाग्नि में होम हुआ उसका वीर्य हो गया, और फिर ब्राह्मणी अग्नि में जो पंचम होम की अग्नि है, होम हुआ गर्भ में आया, जो दूसरा

जन्म था।

(५) जब वह ईश्वरीय नियम से उत्पन्नावस्था के समीप हुआ और अपने समस्त कर्मों को उपस्थित पाया, तो वह शिक्षा भी जो सनकादिकों से उसने आत्मा के संबंध की पाई थी, उसे स्मरण आई और अपने आत्मा का उसने पता लगाया, किंतु वहां भावी जन्म के कारण आवरण नहीं उठा था, अब जो आने वाला जन्म हो चुका, उसी शिक्षा की स्मृति से आवरण उठ गया और आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई दिया और प्रसाद में प्रविष्ट हो गया।

(६) आश्चर्य यह हुआ कि उसे पहली उपासना के कारण, जो चमत्कार का कारण थी, भाषण-शक्ति भी गर्भ में आगई और गर्भ में बातचीत करने लगा गया, और उसकी माँ और जो लोग उसके निकट बैठे थे उसकी वाणी सुन कर आश्चर्य करते थे कि यह गर्भ में विचित्र लड़का आया है जो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध पेट में ही बोलता है।

(७) कोई कहे, यह गर्भ नहीं, बरन् कोई भूत पेट में आगया है। कोई कहे यह भूत नहीं बरन् पवित्रात्मा पेट में आया है, क्योंकि वैदिक बातें करता है, भूत का काम नहीं जो वैदिक मंत्र पढ़े। इस तरह नगरों और ग्रामों में इस आश्चर्य की चर्चा फैल गई। क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, झुण्ड के झुण्ड उसे देखने आते और उसकी माँ के निकट बैठते और गर्भ से बातचीत करते, ईश्वर की माया का आश्चर्य करते।

(८) होते-होते वह झुण्ड भी और उसके वह पहले के संबन्धी भी आए, जिनके बीच में यह जप-तप करता सनकादिक मुनियों के पास शिक्षा पाता था। जब वह आए और उन्होंने बात चीत करनी चाही, तो गर्भ में वह हँसा और बड़ा ठट्ठा मारा। उन्होंने कहा—"ऐ लड़के! अभी तू गर्भ से बाहर नहीं आया,

किस प्रकार बात करने की शक्ति पाई ? और तू कौन है और क्यों हँसता है ?"

(९) बामदेव बोला—ऐ भाइयो ! मैं तुम्हें जानता और पहचानता हूं, लेकिन तुम मुझे नहीं जानते पहचानते, इसलिये अपनी माया के आश्चर्य से हँसता हूं। मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि मैं कौन हूँ ? मैं वही वामदेव नाम का तुम्हारा संबन्धी हूँ जो तुम में उत्पन्न होकर बहुत समय तक तुममें रहा और तुम्हारे साथ मिलकर तप यज्ञ व्रत नियम करता था, और वही सब बातें जो उनमें हुई थीं, बामदेव ने प्रकट कीं और अच्छे पते लगाए जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में यही बामदेव है।

(१०) फिर उसने वर्णन किया कि ऐ भाइयो ! तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे साथ सनकादिक मुनियों के पास आत्मा की शिक्षा पाता था और तुम भी पाते थे। किंत मुझे भावी जन्म का रोग था, इस लिये सनकादिक मुनियों की बाणी मुझ पर यथेष्ठ प्रभाव नहीं करती थी और यह परदा बिना दूसरा जन्म लेने के दूर होने के योग्य नहीं था, किस प्रकार मुझे आत्मा प्रत्यक्ष होता ? जिस तरह बीज बोया गया हो और उस पर एक पत्थर रख दिया गया हो, तो किस प्रकार अंकुर निकल सकता है ? भावी जन्म का पाप मेरे मन में एक कठोर पत्थर था, जो कुछ सनकादिक मुनियों ने मन के खेत में बोया था, उस सबय अंकुर न लाया।

(११) अब जो मैं तुममें से सो गया और दूसरे जन्ममें उठा तो आने वाले जन्म का पत्थर समाप्त हुआ। वही शिक्षा का बीज अंकुर लाया। अब मैं अपने आत्मा को उन्हीं की वाणी (शिक्षा) से प्रत्यक्ष पाता हूं, और मैं निश्चय करता हूँ कि "मैंही मनु हूं, मैं ही सूर्य हूँ, बरन् सब में सब कुछ हूँ"

(१२) "हे भाइयो ! मैं गर्भ में ही देखता हूं कि मैं अनादि से बार-बार इन देवताओं, बरन् क्या पशु क्या पक्षी क्या कीट-पतंग सबकी योनियों में, जो अगणित हैं, अगणित बार आया, कभी देवता, कभी गंधर्व, कभी सूर्य कभी प्रजापति, कभी मनुष्य, कभी गाय, कभी घोड़ा, ऊँट आदि हुआ हूँ, जिसकी अब मैं उन्हें गिनती नहीं बतला सकता, यद्यपि मैं प्रत्यक्ष देखता हूं।"

(१३) हे भाइयो ! मैं अनादि इस संसार में योनियाँ पलटता चला आया हूँ जो एक कठोर लोहे के पिंजड़े के अनुसार कहा जा सकता है, और मैं बलवान् पक्षी की तरह उस संसार पिंजरे में बंदी था। यद्यपि वह संसार-रूपी पिंजरा लोहे से भी कठोर है, तो भी मुझ बलवान् पक्षी के बाहुबल के आगे कुछ भी सत्ता नहीं रखता।

(१४) किंतु मुझे अविद्या के कारण और उस पिंजरे के साथ प्रेम के कारण पिंजरा कड़ा-सा हो रहा था, जो टूटता नहीं था। अब मैं सनकादिक मुनियों को धन्यवाद अर्पण करता हूँ कि उन्होंने मुझे आत्मबल की शिक्षा प्रदान की और मुझे ज्ञात करा दिया कि तुम तो एक बलवान् पक्षी हो, यह संसार का बन्धन तुम में कहाँ है ? क्या कहीं सिंह भी कच्चे तार से बन्दी हो सकता है, क्या बलवान् पक्षी भी कच्चे डोरों में बँधा रहता है ? परन्तु मैं आने वाले जन्म की रुकावट के कारण विश्वास नहीं करता था, स्वीकार तो करता था।

(१५) अब जो रुकावट का पत्थर अपने आप दूर हो गया और उनकी शिक्षा का बीज गर्भ में अंकुरित हुआ। मैं ने मदमाते पक्षी की तरह आत्म बल से इस पिंजड़े को तोड़ दिया और प्रत्यक्ष आत्मा पाया। अब मैं सब में सब कुछ, और सब से मुक्त हूँ,। तथास्तु। ऐसा वामदेव गर्भ में बोला।

में बोला ।

(१६) आश्चर्य मत करो । अपने आत्मा की पहचान की महिमा है कि मैं अपने आप को सर्व रूप देखता हूँ, और यही आत्मज्ञान है जो इस प्रसाद में भी प्रविष्ट कराता है और वह यज्ञ और तप जो मैं करता था उनका फल है कि मैं गर्भ में बोलता हूँ । [illegible] देवी नियम है ।

(१७) [illegible] भाइयो ! [illegible] कि सनकादिक ऋषियों ने तुम्हें शिक्षा दी है [illegible] करके [illegible] [illegible] पाओगे । तुम्हारे मनों में पाप और संशय ([illegible]) [illegible] प्रसाद में नहीं आये । क्या तुम [illegible] नहीं देखते कि मैं उस प्रसाद के कारण किस विचित्र शक्ति में आया हूँ ? क्या कोई गर्भ में भी बात चीत कर सकता है ?

१८) देखो मैं तुम्हारे सामने गर्भ में जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ बोलता हूँ, और इस बड़े प्रसाद का निश्चय करता हूँ कि मैं सब में सब कुछ हूँ । क्या मैं भी जब तम में था, तुम्हारी तरह नहीं डरता था कि यह ईश्वरीय अभिमान है, हम अकिंचन (अधीन) मनुष्य हैं ? पर अब जो अपनी आत्मा की पहचान पाई और शरीरों और योनियों को कपड़ों की तरह बदलते देखा, तो निश्चय करता हूँ कि "मैं अनादि, अनन्त, आदि, अन्त, [illegible] हूँ । ऐ मृत्यु ! तेरा डंक कहाँ ? ऐ चिता तेरा [illegible] कहाँ ?

(१९) ऐ भाइयो ! संसार मुझे यों दिखाई देता है जैसे भात का एक ग्रास होता है और यमराज एक चटनी है, और मैं उसे इस प्रकार खाता हूँ जैसे एक बलवान् मनुष्य एक ग्रास के साथ खा जाता है और स्वादिष्ट निश्चय करता है । यह ईश्वरीय अहंकार नहीं, वरन् मैं अपने आत्मा की बड़ाई करता

हूँ। यह अहंकार नहीं, बरन मेरी महिमा है।

(२०) मैं भी जब तक तुम में था, अपने शरीर के ज्ञान से जो दुर्बल था, तुम्हारी तरह डरता था और इस निश्चय को नास्तिकता समझता था। किन्तु तुम से बढ़ कर यह अन्तर था कि मैं सनकादिक मुनियों के वचन को मानता था यद्यपि पूर्ण विश्वास नहीं करता था। इस कारण मैंने प्रमाद पर प्रसाद पाया।

(२१) मैं सच कहता हूँ, वह जो तुम्हें डराते हैं कि यह निश्चय नास्तिकता है, विरोचन के शिष्य हैं और वही नास्तिकता में हैं, और यह तो ठीक आत्मा की पहचान है। विरोचन स्वयं नहीं समझा, दूसरों को क्या बतलावे। उस का दृष्टान्त ऐसा है जैसे अन्धा अन्धे को राह दिखाता है, अन्ततः दोनों गड्ढे में गिरते हैं। शरीर स्वयं तम है, वह जो शरीर में अहंकार रखता है, तम अर्थात् अंधेरे में चलता है। किन्तु आत्मा ज्योति है जो इस अन्धकार में चमकती है। वह जो इस ज्योति में अहंकार रखते हैं प्रकाश में चलते हैं। और यह स्पष्ट है कि अन्धकार का नाम ही नास्तिकता है। इस लिये "मैं शरीर हूँ" "मैं तुच्छ जीव हूँ" यही नास्तिकता है, "मैं प्रकाश हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ," यही सत्यता, साक्ष्य और ठीक बोलना है।

(२२) ऐ भाइयो! सच जानो, जो अन्धकार में चलता है, वही ठोकर खाता है। जो तेज और प्रकाश में चलता है वह कभी ठोकर नहीं खाता, क्योंकि दिन में चलने वाला कभी ठोकर खाते नहीं देखा। यह निश्चय तो अब मैं दिन की तरह देखता हूँ, अन्धा है जो इस दिन को रात बतलाता है। उसकी कदापि न सुनो

(२३) वह जो आत्मा को नहीं जानते, स्वयं अन्धकार के समान है। अन्धकार तेज के निकट नहीं आया करता, क्योंकि उसमें जो उसकी बुराई छुपी होती है, प्रकाश में खुल जाती है।

इसलिये वह जो इस निश्चय को नहीं मानते, वास्तव में पापी हैं और उनके पाप उनके अन्धकार में छुपे हैं। जो इस निश्चय को नहीं मानते, वे इसके निकट नहीं आ सकते। ऐसा न हो कि उनके पाप खुल जायँ, इसलिये इस निश्चय से डरकर इसे नहीं मानते और इसे नास्तिकता समझते हैं।

(२४) ऐ भाइयो! यही निश्चय है जिसपर आता है प्रसाद पर प्रसाद। यही विवेक है जिसपर मिलती है क्षमा पर क्षमा। यही ज्ञान है जिसपर मिलती है मुक्ति पर मुक्ति। इसको ढूंढो, इसको पाओ इसी को पाता हुआ मनुष्य ब्रह्म होता है। इसको पाकर जंगल की चिड़ियां सोने की चिड़िया हो जाती है मैं इस निश्चय से धन्य धन्य हो गया हूँ, और इसी ज्ञान से कृत कृत्य हूँ।

(२५) जो बामदेव ने इस प्रकार उन्हें शिक्षा दी, तो आइन्न ने उन्हें आ घेरा और कहा कि तू कब तक हमें उधेड़ बुन में रक्खेगा? सच सच कहो, तुम कौन हो? बामदेव एक हमारा साथी अकिञ्चन जीव था, हमारी आँखों में इसी अकिंचनता में मर गया। यदि भूत हो, तो भी बता दो। यदि किसी देवता का अवतार हो, तो भी बतलाओ। हैरान न करो।

(२६) तब वह बोला—मैं ने तो कहा तुम विश्वास नहीं करते मैं सच कहता हूँ, पर तुम नहीं मानते। जो कोई मेरी सुनता है, मैं उसे अनन्त जीवन मुफ्त में प्रदान करता हूँ। पर तुम सुनते हुए नहीं सुनते। तुम्हारे शिर के कान तो खुले हुए हैं, पर हृदय के कान बंद हैं। तुमने सनकादिक मुनियों से सुना, पर निश्चय नहीं किया। ऐ अबोधो! यदि मेरी बात को नहीं मानते, तो मेरे कामों को तो मानो कि अभी उत्पन्न नहीं हुआ और गर्भ में बोलता हूँ, क्या कहीं ऐसा हुआ है?

(२७) ऐ अविश्वासियो! मैं अविद्या के कारण तुम में

बेचारा-सा बामदेव के रूप में रहा और मरा तो क्या हुआ। अब तो तुम मुझे प्रसाद पर प्रसाद मिला हुआ देखते हो। जब कि मैं बेचारा होकर तुममें रहा और मर गया और कुछ प्रसाद न पहुँचा सकता था, तुम ने मेरे लिये शोक किया और बरसों रोते रहे। अब जो मैं प्रसाद और तेज से भाग्यवान् हो कर आया हूँ, तुम मेरी प्रशंसा नहीं करते, बरन् मुझे भूत ठहराते हो।

(२८) मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारे मनों में बड़ा पाप है तुम ने सनकादिक मुनियों को झुठलाया जो ब्रह्माजी के पुत्र हैं। और फिर मुझे भी जो प्रसाद और आश्चर्य से आया हूँ झुठलाते हो। चेत जाओ और अपने आप को सँभालो। न तो मैं भूत हूँ न प्रेत, बरन् वही बामदेव हूँ जो तुम में था, किंतु अब जो मैं प्रसाद पाया हुआ निश्चय करता हूँ 'मैं ही भूत हूँ, मैं ही प्रेत हूँ, मैं अवतार हूँ मैं ही इन्द्र हूँ, मैं ही प्रजापति हूँ। मुझसे कुछ भी बाहर नहीं है बरन् मैं सब में सब कुछ हूँ।"

(२६) तब उन्हों ने निश्चय किया कि यह भूत नहीं, बरन् वही बामदेव है जो हमारा संबंधी था, क्योंकि सब पते जो लगाता है ठीक हैं। आश्चर्य नहीं कि सनकादिकों की शिक्षा के फल से इस ने यह प्रसाद पाया हो। इसलिये सच जानते हुए उस पर विश्वास कर लिया और क्षमा माँगी। ऐ बामदेव! हमें क्षमा प्रदान करो। हमने विश्वास किया कि तू वही बामदेव है जो हमारा सम्बन्धी था और तू प्रसाद पर प्रसाद पाकर आया है।

(३०) किंतु हम बड़ा अविद्या के कारण अपनी आत्मा को नहीं जानते। निस्संदेह सनकादिकों ने हमें बहुत समझाया-बुझाया, पर हमारे पापों के कारण वह परदा जो वाणी से उठता है नहीं उठा। इसलिये [illegible]। तू श्रद्धा रखता था और उन के वचनों को [illegible] इसलिये प्रसाद पर प्रसाद

पाया, जो हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अब हमें भी इस प्रसाद में बुला और यह भेद की बात बतला जो तू आप देखता है। हम भी तेरी कृपा से तत्त्व पदार्थ पावेंगे।

(३१) तब बामदेव बोला—ऐ भाइयो! यह आत्मा अकेला है और अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है और अपने कामों में सर्व शक्तिमान है। इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं जो उसको देखे, इसलिये उसे चाव है कि वह अपने आप को देखे। जैसे सुन्दरी स्त्री को चाव होता है कि उसे कोई देखे, किंतु जब वह पर्दे में रक्खी जाती है, तो उसी चाव के कारण वह अपने पास आरसी रखती है और आप ही अपने आप को उस में देख कर प्रसन्न होती है।

(३२) पर्दे में स्त्री का मुँह भी अकेला होता है, दूसरा नहीं जो उसे देखे, और मुँह भी अकेला है, इसलिये क्यों कर अपने आप को देखे? किन्तु आरसी के द्वारा यद्यपि एक मुँह दो नहीं हो जाता, तो भी दो सा होता अन्य सा हो जाता है, और जहाँ यह अकेला दुकेला सा होता है, अकेला दुकेले को देखता है। इसी तरह सुन्दरी स्त्री भी आरसी में दूसरी स्त्री होकर अपने आप को देखती है।

(३३) यह आत्मदेव तो उस से बढ़ कर अकेला और सुन्दर है, क्योंकि न तो वह कोई गुण रखता है न अंश, बरन् सब गुणों और अंशों से पवित्र है और सौंदर्यरूप है, क्योंकि समस्त सौंदर्य और सुषमा (शोभा) इसी की किरणें और इसीकी प्रभा हैं, किस प्रकार अपने आप को देखे? पर सौंदर्य रूप है, इसलिये देखने का चाव अनाद्यनंत है, इसलिये उसे भी दर्पण की आवश्यकता है जिसमें वह उसमें दूसरा सा होकर और एक से दो-सा होता हुआ प्रेम पूरा करे और अपना दर्शन पावे।

(३४) किंतु उदाहरण में यद्यपि मुख एक होता है, और आरसी के द्वारा दो-सा होता है, किंतु आरसी तो भिन्न वस्तु उसके समान विद्यमान होती है। यहाँ तो सिवाय आत्मा के दूसरी वस्तु भी नहीं जो आरसी का उपादान हो सके, वरन् यहाँ स्वयं ही दर्पण, स्वयं ही देखने वाला, स्वयं ही दिखाई देने वाला होता है ।

(३५) इस विषय में आश्चर्य मत करो। जैसे कोई जादूगर दो या तीन नहीं हो जाता, तो भी जादू के कारण दो या तीन हुआ दिखाई देता है, इसी तरह यह आत्मा भी जादूगर है और अपने जादू के कारण स्वयं ही दर्पण, स्वयं ही देखने वाला, स्वयं ही दृश्य होता है। और उसी जादू को संस्कृत में "माया" बोलते हैं ।

(३६) यह बात सब को मालूम है कि जादूगर का जादू उस के अधीन होता है, उसे कुछ हानि या भय नहीं दे सकता, तोभी दूसरों को भय, हानि और हर्ष का कारण हो जाता है। देखो, जादूगर जब जादू से सिंह होकर दिखाई देता है, तो लड़कों को डराता है, मगर उसी जादूगर को नहीं डराता। इसी तरह आत्मा की माया भी आत्मा पर कुछ प्रभाव नहीं डालती, वरन् उसी के अधिकार में होती है, तो भी उसी को जब वह दूसरा सा होता है, डराती और बंध-मोक्ष का व्यवहार करती है। इस तरह अपने दर्शन के लिये आया, दर्पण में उतरा, विचित्र संसार में आया है ।

(३७) किंतु जब यह इस दर्पण में आया हुआ संसार में विषयों से उपराम हो कर वैदिक नियमानुसार उस दर्पण को स्वच्छ करता है और उस विधि से जो साक्षात्कार के लिये नियत हुई है उस में दृष्टि करता है, तो फिर अपने आप को अकेला देखता संपूर्ण (अद्वितीय) होता है और समस्त जादू-

संसार पलायन हो जाता है । वही पूर्ण का पूर्ण होता है । यही उस की प्रारब्ध है ।

(३८) तब वह बोले—ऐ बामदेव ! हमें विस्तार-पूर्वक बतलाओ कि क्योंकर वह अपनी माया से भिन्न होता है ? और उसका दर्पण क्या है ? और क्योंकर वह इस दर्पण को तैयार करता है ? और क्योंकर दर्पण में उतर आता है ? और क्योंकर दर्पण में आया संसारी होता है ? और क्योंकर वह इस में दृष्टि करता है ? और क्योंकर फिर वह अद्वितीय होता इस जादूघर से निकलता है ? और क्या क्या इस जादूगरी में वह कारीगरियाँ करता है ?

(३९) *तब बामदेव बोला—ऐ भाइयो ! आरम्भ में यही अकेला आत्मा था । दूसरा कुछ भी कल्पित न था । तब उस ने चाहा कि मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लिये दर्पण बनाऊँ, लेकिन जिस तरह एक बड़ा इञ्जीनियर मिस्त्री पहले चिंता करता है और उसकी लकड़ी और पत्तियाँ और कील तैयार करता है फिर उन्हें जोड़ता और शीशा भीतर लगाता है, उसी तरह उस ने विचार करके अपने आत्मा से आकाश को बनाया । आकाश से वायु को बनाया, वायु से अग्नि को बनाया, अग्नि से जल को बनाया और जल से पृथ्वी को बनाया जो सब पदार्थों की मूल है ।

(४०) आश्चर्य मत करो कि उसने अपने आत्मा से यह क्योंकर बनाया जब कि उस के पास सिवाय आत्मा के दूसरा कुछ उपादान न था, वरन् जिस तरह पानी बिलोने से झाग प्रकट होती है, उसी तरह उसके संकल्प से तीन गुण वाली माया झाग की तरह प्रकट हुई, जो उसीकी विभूति उस से पृथक् नहीं, और वही संकल्प रूप थी, इस लिये आप ही उपा-

* यहाँ से ऐतरेय उपनिषद् का पहला अध्याय खण्ड पहला आरम्भ होता है ।

दान और आप ही कर्त्ता हुई, जैसे सर्प अपने लंबे होने गोल होने और टेढ़े होने में स्वयं ही उपादान और स्वयं ही कर्त्ता होता है।

(४१) फिर उसने चाहा कि मैं संसार के लोक बनाऊँ जिन में संसारियों के भोग के लिये उन के अनुसार बस्तियाँ भी हों, और मेरे क़लईदार आईने (शीशे) के लिये श्रृंगार के कमरे हो जायँ। संस्कृत भाषा में ये ऊपर और नीचे के लोक कहलाते हैं। उसने उन पञ्चतत्वों से पहले अंड उत्पन्न करके फिर ये लोक भी बनाये। संक्षेप में वे लोक चार हैं। अंभः, मरीची, मर और आप (अम्भो मरीचिर्मरमापः)

(४२) जो लोक देव लोक से लेकर ऊपर का है, वही अंभः कहलाता है, यद्यपि उस में भी बहुत लोक हैं, तो भी वह सब समष्टि-रूप से अम्भः कहलाते हैं। और अम्भः शब्द का अर्थ संस्कृत में द्रव की खानि है जो वास्तव में जल है, और इस हेतु कि वह पञ्चतत्वों के मिलाप से, जो सूक्ष्म हैं, बनाया गया है और पानी अर्थात् द्रव की उस में अधिकता वा प्राधान्य है, इस लिये उस का नाम अम्भः रक्खा गया है।

(४३) देखो, एशिया में यद्यपि हिंदुस्तान और चीन आदि बहुत देश हैं, किंतु जिस तरह समष्टि-रूप से उन सब को एशिया बोलते हैं, इसी तरह देव-लोक से ऊपर जितने लोक बनाये गये हैं, उन सब को सामूहिक रूप से अम्भः बोलते हैं।

(४४) दूसरा लोक मरीचि है और वह उतना ही विशाल है जिस में ऊपर नीचे तक सूर्य की किरणें फैल कर समाप्त होती हैं। विशालता अर्थात् खुलापन वा आकाश को संस्कृत में अंतरिक्ष बोलते हैं, यद्यपि यह अन्तरिक्ष अम्भः में भी है, किंतु इसका उतना भाग जिस में चारों ओर से सूर्य की किरणें फैलकर समाप्त होती हैं, मरीचि कहलाता है, क्योंकि मरीचि

संस्कृत में सूर्य की किरणों का ही नाम है। जितने अन्तरिक्ष में किरणें फैलती हुई समाप्त होती हैं, उतने अन्तरिक्ष को मरीचि बोलते हैं, क्योंकि वह सूर्य की किरणों वाला है, इस लिये मरीचि है।

(४५) तीसरा लोक मर है और उसे मात लोक भी बोलते हैं, क्योंकि मर और मात संस्कृत में मृत्यु का नाम है। जहाँ तक मृत्यु या मरने का निश्चय होता है वही मर या मृत्यु लोक कहलाता है, और धरती उस की अन्तिम सीमा वा उद्देश्य है, इसी में प्रायः जन्म-मरण का बर्ताव होता है, यद्यपि दूसरे लोकों में भी जीवधारियों के शरीरों का मृत्यु होती है और मात लोक में पतित होते हैं। परंतु इस हेतु कि वहाँ उन के शरीर पार्थिव नहीं होते वरन् आत्मिक और सूक्ष्म होते हैं और कर्मों के समाप्त होने पर शोक और दुःख की अग्नि मे तेल की भाँति पिघल जाते हैं, उन में नाश (नास्ति) का तो निश्चय होता है, मृत्यु का निश्चय नहीं होता।

(४६) यहां मात लोक में तो शरीर स्थिर रहता है और प्राण उठते हैं, पीछे लाश (अर्थात् मृतक की लोथ) रह जाती है, इसलिये यहां केवल मृत्यु का बर्ताव होता है, इसी कारण इस को मात लोक कहते हैं।

(४७) चौथा लोक आपः है। उसे पाताल लोक भी बोलते हैं। इस हेतु कि उसमे पानी सब से अधिक है, इस लिये उसे आप भी कहते हैं। क्योंकि आप का अर्थ वास्तव में जल है। जो संस्कृत भाषा जानता है उसे भली भांति समझ सकता है। और इसी कारण कि यह सबसे नीचे का लोक है, इसे पाताल लोक भी बोलते हैं।

(४८) इन चारों लोकों में से प्रत्येक में बहुत-बहुत लोक सम्मिलित हैं। जिस तरह एक अम्भः लोक में हेतु वर्णन किया

गया है, सब में जान लेना चाहिये, और यद्यपि प्रत्येक उपर्युक्त पञ्चतत्वों से बनाया गया है, किंतु सब में जलों का प्राधान्य है, किसी में अधिक किसी में कम। इसी कारण शास्त्रों में उन सब को जल ही बोलते हैं। और यहाँ यही अम्भः, मरीचि मर, आप नाम किसी कारण से पानी के नाम से संबन्ध रखते हैं। और दूसरा कारण भी रखते हैं। और दूसरा हेतु भी रखते हैं जो ऊपर लिख दिया गया है। इस प्रसंग में आगे जहाँ जलों का उल्लेख करेंगे, यही पंचतत्व जानने चाहिएं जिनमें जलों का प्राधान्य है।

(४९ फिर जिस तरह बुद्धिमान् मिस्त्री तख्ते (पट्टियाँ) तैयार करता है. और एक दूसरे का ऊपर नीचे ठोंक देता है, इस तरह परमात्मा ने भी इन लोकों को इसी अंड के भीतर जो वृत्त है और परमात्मा के शृंगार का बंगला है, एक दूसरे में ठोंक कर खड़ा कर दिया। अम्भः की चूल तो देवलोक में फँसा दी और उसे ऊपर रक्खा, और नीचे उसके मरीचि को फँसाया, इसलिये अम्भः और मरीचि की सम्मिलित सीमा (चार दिवारी) देवलोक है। इसी कारण देवलोक अम्भः की प्रतिष्ठा कहलाता है।

(५०) फिर मरीचि लोक को दूसरी ओर से भूमि में ठोंक दिया जो मर्तलोक है, और उसके नीचे पाताल लोक बना दिया जो दूसरी ओर उसके नीचे घनाकार वृत्त में है जिसे संस्कृत में अंड बोलते हैं। इस प्रकार इन लोकों को वृत्त के भीतर ठोंककर स्थापित कर दिया है. यद्यपि ये सब चार लोक हैं। प्रायः शास्त्रों में इनके भीतरी लोक, जो बड़े हैं, गिन कर चौदह लोक भी वर्णन किए हैं—सात ऊपर के और सात नीचे के, इस प्रकार चौदह लोक अर्थात् सात सात लोक वाला करते हैं।

(५१) इस हेतु कि यह सब इन चार लोकों के भीतरी लोक

हैं, उस श्रुति के विरुद्ध नहीं हैं जो चार लोक वर्णन करती है, और हम ने भाषाविदों के लिये स्पष्ट लिख दिया है जिससे अन्य शास्त्रों के वचन से इसे आश्चर्य न उत्पन्न हो।

(५२) जब आत्मा इस प्रकार ये चार लोक समस्त प्राणियों के कर्मों के फल देने के लिये आबादियां (बस्तियां) की तरह तैयार कर चुका, तो जिस तरह बुद्धिमान इञ्जीनियर सोचता है कि यद्यपि पट्टियां एक दूसरे में फंसा दी गई हैं, किंतु जब तक उनमें मेखें और पेंच न लगेंगे, तब तक यह दृढ़ और स्थिर नहीं होंगी।

(५३) इसी तरह परमात्मा ने भी देखा कि ये लोक तैयार तो हो गए हैं, परन्तु जब तक इनके लोकपाल तैयार नहीं होंगे, ये किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे? इस लिये उस ने चाहा कि मैं उनके लोकपालों को भी बनाऊं जो इनकी परिपालन और रक्षा करें। वह जो किसी को पालता और रक्षा करता है, वह उसी का रब वा देवता होता है। इस हेतु कि ये लोकपाल भी इन लोकों की परिपालन और रक्षा करते हैं, इसी कारण तत्ववेत्ता उनको उन लोकों के रब वा देवता बोलते हैं, और इस कारण कि वह इनकी स्थिति के उत्तरदाता हैं, उन्हें उर्दू भाषा में मुअक्किल बोलते हैं। संस्कृत में उनको लोकपाल या अधिष्ठात्री देवता भी कहते हैं।

(५४) फिर उसने यह सोच कर उन्हीं पानियों से जो पञ्च तत्वों से बनाये गये थे और जिससे ये देवलोक निर्माण किये गये थे, थोड़ा-सा पानी लेकर इसे भली भाँति जोश दिया और मथित कर सूक्ष्म किया, और उससे प्रथम विराट पुरुष बनाया जिसे संस्कृत में प्रजापति या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा भी कहते हैं और उसका रूप शिर से पैर तक इसी तरह बनाया जैसे कि छोटे से मनुष्य का है।

(५५) फिर उसने उस बड़े मनुष्य की लोथ पर जो अपर्यंक जलों से बनाई गई थी, ध्यान किया। पहले उसके मुख की ओर दृष्टि की और चाहा कि उस का मुँह खुल जाय। अतः उसकी आज्ञा और संकल्प से उसका मुँह खुल गया, जैसा कि किसी प्राणी का अंड फट जाता है।

(५६) जब उसका मुँह खुला, तो उस से उस की वाणी उत्पन्न हो गई। वाणी से अग्नि, अग्नि से लोकपाल बनाया जो अग्नि देवता कहलाता है।

(५७) फिर नाक खुल गई। नाक से श्वास, श्वास से वायु और वायु से वायु का देवता उत्पन्न हो गया।

(५८) फिर आँखें खुलीं, आँख से चक्षु, चक्षु से सूर्य और सूर्य से उसका देवता उत्पन्न हो गया।

(५९) फिर कान खुले। कान से श्रोत। श्रोत से दिशाएँ और दिशाओं से उनका देवता उत्पन्न होगया।

(६०) फिर त्वचा खुल गई। उस से रोम। रोम से वनस्पत्तियाँ और वनस्पतियों से उनका देवता उत्पन्न हो गया।

(६१) फिर हृदय खुला। हृदय से मन। मन से चंद्रमा और चंद्रमा से उसका देवता उत्पन्न हो गया।

(६२) फिर नाभि खुल गई। नाभि से अपान। अपान से मृत्यु और उसका देवता, जो यमराज कहलाता है, उत्पन्न हो गया।

(६३) फिर उसका लिङ्ग खुला, लिङ्ग से वीर्य, वीर्य से पानी और उसका देवता उत्पन्न हो गया। इस तरह एक-एक अङ्ग से इन्द्रिय, शक्तियाँ, उनके स्थान और देवता क्रमानुसार उत्पन्न हो गये।

(६४) यहां हृदय का तात्पर्य ही मांस का टुकड़ा है जो कमल के रूप में छाती के भीतर रक्खा हुआ है जिसमें मन

रहता है। और नाभि से तात्पर्य वह मकान वा स्थान है जहाँ सब प्राण कर्मों के बंधन में बांध दिये गये हैं। और अपान से तात्पर्य अपान शक्ति है जो जीवन के विरोधी को शरीर से निकालती र ती है, उसका देवता यमराज है।

(६५ लिङ्ग वास्तव में उत्पन्न शक्ति का स्रोत है, और वीर्य से उसका अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण उसे वीर्य शब्द से श्रुति मे वर्णन करते हैं।

(६६) अब इस प्रकार ... लोकपाल (देवता) संकल्प से बना ... उन लोकों में दृढ़ता के लिये ठौर दिया, ... एक बड़े विचित्र संसार-समुद्र में डाल दिये गये। ऐ भाइयो ! इस विचित्र संसार-समुद्र का हाल सुनो कि क्या २ सयानपें वा चतुराइयां इसमें रक्खी गई हैं, यद्यपि मुख्य प्रयोजन संसार का बनाना वही शृंगार का ... गला है, जो वर्णन किया गया है, तो भी जो क्षणिक सयानपें इसमें उसने बनाई, उन से भी एक विचित्र समुद्र-सा हो गया है।

(६७) इस संसार-समुद्र में अविद्या, लालच और कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख और शोक तो मानो पानी है, बड़े-बड़े रोग, बुढ़ापा और मृत्यु मानों उस में मछलियां हैं, और अनादि और अनंत उस में दो किनारे हैं।

(६८) विषयों के भोग से जो सुख होता है यही उसके टापू हैं, जहाँ प्राणी कुछ आराम पाता-सा ख्याल करता है, और पाँचों इन्द्रियां और उनके विषय हैं, विषयों की तृष्णा मानों उसपर वायु चलती है जिस से बड़े-बड़े पाप और अपराध रूपी लहरें उस में उठती हैं।

(६९ फिर रौरव आदिक नरक और उस में प्राणियों के क्रन्दन से उठता हुआ जो शब्द है, वही इस समुद्र का जोश

रूप शब्द है, और उस में जहाजियों (यात्रियों) का तोशा (सामान) मानों सत्कर्म, दान, दया और शम दम आदिक हैं। और आत्मा की पहचान मानों पक्का जहाज़ है जिस से यह प्राणि समुद्र तिर जाता है। और महात्माओं का सत्संग मानों उस में पार होने का एक नियत मार्ग है जिस पर यह जहाज चलता है।

(७०) कैवल्य-मुक्ति और क्रमशः मुक्ति उसके मानों वार-पार हैं। ऐसे समुद्र में ये देवता डाल दिये गये हैं। इस लिये कर्मों से जो इन देवताओं की प्राप्तिरूप मुक्ति है. कुछ नहीं, वरन् संसार ही रहना है। जबतक कि यह आत्मा का साक्षात्कार नहीं करता, संसार-समुद्र से पार नहीं होता। यह श्रुति का यहाँ तात्पर्य है।

(७१) ऐ भाइयो! जब यह देवता भी जिनकी तुम उपासना करते हो, इसी समुद्र में गिराए गए हैं, तो तुम उनकी उपासना से यह समुद्र नहीं तैर सकते। वह तो स्वयं इस समुद्र में गिराए गए हैं, किस प्रकार तुम्हें तार दें? हां, उनकी उपासना से चित्त की शुद्धि और दूसरी गति होती है जो अंततः संसार ही है।

(७२) फलतः, परमात्मा ने इस प्रजापति को जो इन लोकों और देवताओं का आत्मा-पुरुष है, भूख और प्यास लगा दी जब कि उसे क्षुदा तृषा लगी, तो देवता जो उसके अंग हैं, वह भी भूखे-प्यासे हो गये। जैसे मनुष्य जब भूखा प्यासा होता है उसके अंग भी भूखे प्यासे हो जाते हैं।

(७३) जब वे देवता और प्रजापति भूखे-प्यासे हुए, तो भूख और प्यास के कारण चिल्लाए। जैसे बालक भी भूख से चिल्लाता और माँ से भोजन माँगता है, इसी तरह देवताओं ने भी परमात्मा से कहा कि हमारे लिये निवास स्थान नियत

करो जहाँ हम बैठकर भोजन भी करें, और फिर हमारे लिये भोजन भी बनाओ, अन्यथा इस भूख प्यास के कारण हम नहीं रह सकते।

(७४) अतः परमात्मा ने उन्हीं पानियों से एक गाय बनाई, और उनके पास लाया कि यह तुम्हारे भोजन और भोग का भवन हो सकता है। परन्तु उन्होंने कहा कि यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है। फिर वह एक घोड़ा बना लाया। कहा, यह भी पर्याप्त नहीं। इसी तरह एक पशु और पक्षी बना लाया। उनके भोग के लिये पर्याप्त नहीं हुए। ये समस्त पशु पक्षी जो संसार में दिखाई देते हैं, उनमें देवता भोग तो पाते हैं किंतु तृप्त नहीं होते।

(७५) फिर परमात्मा प्रजापति की आकृति पर, जो उनकी ज्योति है, एक संक्षिप्त मनुष्य बना लाया। वे (देवता) उसे अपनी ज्योति में उसकी आकृति देखकर प्रसन्न हुए। कहा, निस्संदेह यह यथेष्ट और ठीक है। इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि मनुष्य ही वास्तव में सुकृत है क्योंकि वही यज्ञादिक कर्मों से देवताओं को तृप्त कर सकता है।

(७६) उन देवताओं ने यह संक्षिप्त मनुष्य पाकर परमात्मा को धन्यवाद अर्पण किया, क्योंकि इसमें उनके सारे भोग मिल सकते थे। फिर परमात्मा ने कहा कि तुम सब इस मनुष्य में अपने-अपने नियत स्थानों में प्रविष्ट हो जाओ। अतः ये देवता उसकी आज्ञा पाकर उस ब्रह्मपुर में उसी तरह प्रविष्ट हो गए जैसे कि बड़े-बड़े श्रीमान् राजसभा के लिये राजघर में प्रविष्ट होते हैं।

(७७) अग्नि का देवता वाणी होकर अपनी ज्योति (मुख) में प्रविष्ट हो गया, वायु का देवता प्राण होकर अपनी ज्योति (नासिका) में आ गया, सूर्य का देवता चक्षु होकर अपनी ज्योति (आंख) में आगया, दिशाओं का देवता श्रोत होकर

कान में आ गया, और वनस्पतियों का देवता रोम होकर त्वचा में आगया चन्द्रमा का देवता मन होकर हृदय में आगया, मृत्यु का देवता यमराज होकर नाभि में आगया, जलका देवता वीर्य होकर लिंग में आगया

(७८) फिर भूख प्यास तो अपनी कोई ज्योति नहीं रखते थे, क्योंकि वह तो गुणों की भाँति देवताओं को लगे थे। उन्हों ने कहा—ए परमेश्वर ! हम कहां रहें ? हमारे लिये भी कोई स्थान नियत करो। उसने उन को कहा—तुम तो गुण वा आधेय हो, और गुण या आधेय बिना आधार वा गुणी के स्थान नहीं पा सकता। धीरज धरो, तुम्हें इन सब देवताओं में, क्या अध्यात्म क्या आधिदैविक भागीदार कर देता हूं।

(७९) अतः परमात्मा ने उन्हें ऐसा कर दिया। यही कारण है कि जिस देवता के लिये मनुष्य आहुति देता है, भूख प्यास भी उन के साथ बाँटी जाती हैं और शान्त होजाती हैं।

(८०) फिर उसने देखा कि ये लोक और लोकपाल तो बना दिये और उन को भूख प्यास भी मिल गई और उनके भोजनके लिये मकान भी हो गया, किंतु जबतक उसका भोजन नहीं बनाऊँगा, वह किसप्रकार जीवित रहेंगे ? अतः उसने उन्हीं पानियों से कुछ लेकर उसे जोश दिया और गाढ़ा कर दिया और उस से मूर्ति अर्थात् शरीर बनाया। और यही शरीर भोजन है।

(८१) जब यह शरीर रूप भोजन तैयार होकर उसके आगे रक्खा गया तो जैसे चूहा बिल्ली को देख कर चिल्लाता और भागना चाहता है, वैसे वह उसे काल भगवान् जानता हुआ चिल्लाया और भागना चाहा किंतु भाग न सका।

(८२) उसने वाणी से खाना चाहा न खा सका। यदि वाणी से खा सकता तो अब भी भोजन का नाम लेने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८३) फिर उसने उसे नाक से खाना चाहा, न खा सका। यदि नाक से खा सकता तो अब भी उस के सूंघने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८४) फिर उसने आँख से खाना चाहा। न खा सका। यदि आँख से खा सकता तो अब भी देखने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८५) फिर उसने कानों से खाना चाहा। न खा सका। यदि कानों से खा सकता तो अब भी सुन कर तृप्त हो जाता।

(८६) फिर उसने त्वचा से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी छूने से तृप्त हो जाता।

(८७) फिर उसने मन से खाना चाहा। न खा सका। अगर खा सकता तो अब भी कल्पना करने से तृप्त हो जाता।

(८८) फिर उसने लिंग से खाना चाहा। न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी मैथुन से खा सकता।

(८९) फिर उसने अपान से खाना चाहा और खा गया। यही भीतर के प्राण वास्तव में खाने वाले हैं और देह भोजन है। ज्यों-ज्यों वह यह भोजन करता है, त्यों-त्यों बाहर के भोजन से उसका स्थूल शरीर बनता रहता है। इस तरह यह समस्त मंडल उसके लोक और देवता, अध्यात्म आधिदैविक, मनुष्य में प्रविष्ट हुए जीवन बिताते हैं। इसलिये मनुष्य ही वास्तव में इस मंडल का केन्द्र है।

(९०) जिस प्रकार मंडल और उसके व्यास सब केन्द्र से स्थापित होते हैं। यह सब चराचर मनुष्य से स्थिर हैं। कुछ तो उसके भोजन हैं, कुछ भोजन के यंत्र वा साधन हैं, और प्राण देवता जो सब देवताओं का पिता है, वास्तव में खाने वाला है, और यह भोजन अर्थात् निरोग देह के कारण से स्थिर है। इस लिये अब भी यही अनुभव होता है कि जो खाता है, वही

जीवित रहता है।

(९१) जब यह मनुष्य इस मंडल का केन्द्र हो गया, यही वास्तव में ब्रह्मपुर या परमात्मा का दर्पण तैयार हुआ जिस में उसका दर्शन होता है, और इसी में सारे देवता उसी तरह प्रविष्ट होकर अपने अपने घरों में अपने पदों के अनुसार विराजमान हो गए जैसे किसी राजा की प्रतीक्षा में सभासद्गण पहले ही एकत्रित हो जाते हैं।

(९२) फिर परमात्मा ने सोचा कि जब कोई अपना घर बनाता है, स्वयं उस में नहीं बसता तो वह घर सुन्न हो जाता है। जब कोई दरबार होता है और दरबारी इकट्ठा होतेहैं, दरबार का अधिपति उस में न आवे, तो वह भी व्यर्थ होता है। क्या दूल्हा के बिना बरात भी हो सकती है, क्या दर्पण में जब तक स्वयं न उतरे, दिखाई दे सकता है? मुझ बिन सब व्यर्थ हैं।

(९३) फिर उसने यह भी सोचा कि जिसके लिये कोई समूह होता है वह यदि उसमें आया हो तो समूह का वह अंश नहीं हो जाता, बरन् उस समुदाय का वह स्वामी होता है। देखो घर के अंश ईंट लकड़ी आदि होते हैं और उन्हीं के समुदाय से घर बनाया जाता है, और बसने वाला भी यद्यपि घर के भीतर रहता है, पर उस का अंश वा अंग नहीं होता बरन् उस का स्वामी होता है।

(९४) इसी तरह मैं भी इस पुर में जो शरीर और प्राण से या अन्न और खानेवाले से बनाया गया है, यदि बस जाऊँ तो उस का अंश नहीं बन जाऊँगा और न घर या पुर हो जाऊँगा, बरन् घरवाला और उसका स्वामी ही रहूँगा।

(९५) देखो, बरात में जो जो दूल्हा के लिये आते हैं बरात ही कहलाते हैं, किंतु दूल्हा तो बरात में नहीं होता बरन् बराती (बरात का स्वामी) होता है, यद्यपि बरात के भीतर चलता

है। इसी तरह मैं भी उस में उतरूंगा, तो यह पुर नहीं हो जाऊँगा वरन् पुर वाला होऊँगाऔर प्राण आदिक देवता बरात होगी। मैं उन में दूल्हा होऊँगा।

(९६) फिर इस हेतु कि ये सब कर्मचारी हैं और. काम का करना बिना दीपक या प्रकाश के नहीं होता, मुझ प्रकाश के बिना ये क्योंकर वर्ताव करेंगे? ये तो कर्त्ता होंगे, मैं उन का साक्षी होऊँगा, मेरी साक्षी में सब काम करेंगे, और मैं दीपक और साक्षी की तरह इनके कामों से शुद्ध निर्लेप और असंग रहूँगा।

(९७) फिर उसने सोचा कि मुझे इसमें आने का क्या लाभ है? केवल यही कि जब मैं वाणी से बात चीत करूँगा, श्वासों से श्वास लूंगा, आँखों से देखूंगा, नाक से सूंघूंगा, कानों से सुनूंगा, त्वचा से शीतोष्ण पाऊंगा, मनसे सोचूंगा, अपान से जीवन यापन करूंगा, और लिंग से विषय करूंगा, तो फिर मैं विचार करूंगा कि मैं कौन हूँ।

(९८) पहले मैं अपने पुर को जानूंगा, फिर बरात को जानूंगा, क्योंकि पुर तो मेरे लिये एक सवारी है. और क्या आँख क्या नाक क्या कान, सब के सब देवता बरात में कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये नियुक्त होते हैं। उनमें मैं ही दूल्हा हूँ जिसके लिये ये सब हैं, और जिस तरह शीशे में अपना आप दिखाई देता है, उसी तरह उस में विवेक से मैं अपने आत्मा को देखूंगा।

(९९) फिर मैं उनमें आया विचार करूंगा कि जिस तरह व्यापारी दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं और दीपक उनके व्यापार से संबंध नहीं पाता, इसी तरह ये सब मुझ दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं, किंतु मैं व्यापारी नहीं हो जाता। ये आपस में झगड़ालू हैं, मैं उन का साक्षी हूँ। ये तो अंधकार हैं, मैं प्रकाश हूँ जो इस अंधकार में चमकता हूँ। इस तरह

सोच समझ कर मैं अपने आप को इस के भीतर देखूंगा।

(१००) जब इस तरह सोच कर उस ने मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होने का संकल्प कर लिया, तो फिर उस ने सोचा कि मैं किस मार्ग से उस में उतरूँ? सब मार्गों से तो मेरे सेवक प्रविष्ट हुए हैं, मेरे स्वयं जाने का कोई मार्ग है?

(१०१) अंततः उसने मस्तिष्क की खोपड़ी को खोल कर ब्रह्मरंध्र के द्वारा मनुष्य में शोभा पाई। इसी कारण ब्राह्मण इस को ब्रह्म का द्वार कहते हैं और इसी को 'विद्दति' और 'नाँदन' बोलते हैं। वह जो मृत्यु में इस मार्ग से जाता है, स्वर्ग को जाता है। इसी कारण इस को नाँदन बोलते हैं।

(१०२) जब यह इस प्रकार इस मनुष्य में प्रविष्ट हुआ, तो उस अविद्या के कारण जो मन रूप शीशे के पीछे लगाई गई है उसे अपना आप मानने लग गया, और यही निश्चय करने लग गया कि "मैं मनुष्य हूँ और जो उस के धर्म हैं वह मेरे हैं।"

(१०३) उसकी तीन अवस्थाएँ और तीन निद्राएँ भी अपनी मानने लग गया। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ये तीन तो मनुष्य के शरीर की अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् में उसका स्थान नेत्र है, स्वप्न में उसका स्थान मन है और सुषुप्ति में हृदयाकाश है। नेत्र में आया सब बाह्य वस्तुएँ देखता है, मनमें आया मनोमय जगत् देखता है जिसे स्वप्न कहते हैं, हृदय-आकाश में आया अपने परमात्म-स्वरूप ब्रह्म में आराम करता है। इस तरह रात-दिन तीन लोक में फिरता-सा होता है।

(१०४) और तीन निद्राएँ उस की ये हैं। पहली वह नींद है, जो पिता में गर्भित होता है. दूसरी निद्रा उस की माता के उदर में है, तीसरी निद्रा उस की अपने शरीर में है, यद्यपि अपने शरीर में सोया हुआ बाहर के संसार के लिये जागता है, किंतु जिस आत्म-दर्शन के लिये आया है उसे नहीं पाता। इसलिये

आत्म-साक्षात्कार तक यद्यपि सामान्य रीति से जागता है, पर वास्तव में सोया हुआ है।

(१०५) किंतु जब कोई अत्यंत कृपालु गुरु वेदों के महावाक्य रूप नरसिंहों को उसे सुनाता है और विवेक विचार से उसे इस (हृदय-रूप) दर्पण में निज स्वरूप पर दृष्टि डालना सिखाता है, जैसी कि इस वेदानुवचन की शिक्षा है, तब वह निज स्वरूप को देखता वा अनुभव करता है, इस अनादि प्राकृतिक नींद से जागता है और फिर 'नेति' 'नेति' वा 'अन्वय-व्यतिरेक' के नियम से इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं नींदों में फिरता हुआ अद्वैत देखता निश्चय कराता है कि 'न तो मैं जाग्रत् हूँ, न स्वप्न, न सुषुप्ति, वरन् ये तीनों अवस्थाएँ मेरी सैर के स्थान हैं'।

(१०६) जब मैं जाग्रत् में आता हूँ, तो जाग्रत् में विचरण करता हूँ, जब मैं स्वप्न में जाता हूँ, तो स्वप्न में विचरण करता हूँ और जब मैं सुषुप्ति में जाता हूँ तो सुषुप्ति में विचरण करता हूँ। क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति सब मेरे स्थान हैं और मैं उन में एकरस हूँ। वरन् उन में मैं नहीं फिरता, ये ही तीनों अवस्थाएँ माला के मणियों के समान जो तार में हैं फिरती हैं, और मैं तो माला के सूत की तरह उन का आधार वा अधिष्ठान हूँ जिस में ये आती जाती हैं।

(१०७) परन्तु जिस प्रकार बादलों के चलने से चंद्रमा भी चलता दिखाई देता है, उसी तरह उन की चाल भी बुद्धि को मुझ में प्रतीत होती है, और यह उसकी भ्राँति है। "मैं तो अचल सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ।" ऐसा जब भान करता है, वह उस समय वास्तव में जागता है, नहीं तो सोया हुआ ही कहलाता है। और उस का यह जागना बिना श्रुति वाक्य के नहीं होता, और महावाक्य ही वास्तव में उसका जगाने वाला है और महावाक्य ही उस समय उस का गुरु है।

(१०८) जब वह महावाक्य के कारण अपने आप को देखता है कि "यह मैं हूँ", तो तीनों अवस्थाओं (जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति) से वह एक ही छलाँग में कूद जाता है और तुरीयावस्था में, जो उस का निज आत्म स्वरूप है, प्राप्त हो जाता है। यह उस की विचार रूप छलांग क्या ही विचित्र है और इसी कारण इस चौथे पद में यों देखता है कि "यह मेरा स्वरूप है", इसी कारण उस को दूसरे 'इदंद्र' बोलते हैं।

(१०९) संस्कृत भाषा में 'इदं' नाम 'यह' का है और 'द्र' नाम देखने का है। वह जो देखता है, इदंद्र होता है। और इसी को संक्षिप्त करके वेदविद् इंद्र कहते हैं। और शिक्षित पुरुष इसी नाम से उसे स्मरण करते हैं। जिस प्रकार कि शिक्षित सभासद् राजा को भी उस के नाम से नहीं कहते बरन् उपाधि से स्मरण करते हैं, जैसे 'जी महाराज' 'जी भगवन्' ऐसे नामों से बोलते हैं, इसी तरह शिक्षित लोग उसका वास्तविक नाम आत्मा नहीं लेते, बरन् इन्द्र के नाम से, जो सांकेतिक नाम है, स्मरण करते हैं।

(११०) और यह स्पष्ट है कि क्या राजा क्या देवता और क्या पति इस में प्रतिष्ठा नहीं समझते, जब अपने असली नाम से संबोधित किए जाते हैं, बरन् तब ही प्रतिष्ठा-प्राप्त समझे जाते हैं जब स्त्री अपने पति को ऐ देवदत्त के पिता, या ऐ ब्रह्मदत्त के भ्राता; और राजा का सेवक राजा को ऐ दयावान्! ऐ न्याय-कारी! ऐ दीनबन्धु! और देवता का उपासक देवता को दयालु, कृपालु, त्रिलोकीनाथ आदि नामों से संबोधन करते हैं। इसलिये वेदज्ञ ब्राह्मण इन्द्र और ईश्वरादिक नामों से परमात्मा को स्मरण करते हुए आशीर्वाद मांगते हैं।

(१११) जब कि मनुष्य और देवता भी परोक्ष के प्यारे हैं और अपने गुणों से प्रसन्न होते हैं, परमात्मा भी, जो उन सबका

मालिक महान् देव है, उसी सम्मान के योग्य है। इस लिये भक्त लोग आत्मा के प्रत्यक्ष नाम से दुखित होते हैं और जो कोई बिना सभ्यता के इस भेद के परिणाम को जतलाता है, उसे अस्वीकार करते और झुठलाते हैं।

(११२) ऐ भाइयो ! अब उस की तीनों नींदों के भेद मुझ से सुनिए कि जब वह अविद्या से काम करने वाला होता है और यज्ञ आदिक शास्त्री कर्म करता है, तो इस लोक में आकर वह पितृयान सड़क से चन्द्रलोक को जाता है और वहां जब भोग समाप्त हो जाते हैं, तो वर्षा में उतरता फिर अन्न हो जाता है और पुरुष अग्निमें हवन हुआ रक्त आदि होता वीर्य हो जाता है। यही उसका पहला गर्भ है और यही पहली नींद है।

(११३) इस वीर्य को, जो पिता के अंग-अंग से निचोड़ की भाँति निकल कर वीर्य कोष में एकत्रित होता है, पिता उसे अपने में धारण करता है, जैसा कि मां भी गर्भके समय कुक्षि में उसे धारण करती है। जब पिता इस वीर्य को माँ के उदर में अर्पण करता है, तो यही उसका पहला जन्म है, मानों मां के उदर में गर्भ होता और पिता के वीर्य कोष से जना जाता है।

(११४) जब इस तरह पिता उसे जनता है अर्थात् अपने वीर्य का दान देता है, तो फिर माँ उसे अपने में उसी तरह एक कर लेती है जैसा कि चूचियां भी, जो दूदियां बनती हैं, उस से एक होती हैं, वरन् जिस प्रकार वह अपनी दूदियों की रक्षा करती है, उसी तरह गर्भ की भी वह रक्षा करती है क्योंकि वह जानती है कि मेरे पति देवता का आत्मा अर्थात् वीर्य मुझ से एक हुआ है, इसी कारण जो खाद्य वस्तुएँ कि गर्भ पात करती हैं नहीं खाती; वह वस्तुएं खाती है जो उसे दृढ़ करती है।

(११५) जब कि स्त्री अपने पति के आत्मा (वीर्य) को इस प्रकार अपने में पालती है, तो पति उसे अपने आत्मा की पालने

वाला जानता हुआ उसका भी पालन करता है, वरन् उस (बच्चे) के जन्म से पहले और जन्म के बाद अपने आप को उस में आया हुआ जानता है और जात-संस्कारादिक शास्त्राज्ञाएं पालन करता है, और यही विचार करता है कि मैं ही पुत्र रूप होकर जन्म लूँगा।

(११६) उस का कारण यह है कि जब यह बाप यहाँ से चल देता है, तो यही पुत्र जो उस का दूसरा आत्मा (शरीर) है, इस संसार में स्थानापन्न रहता है, और फिर इस पुत्र का भी पुत्र, इसी तरह परम्परा-क्रम से अनंत जगत् में वह रहता है। इस तरह से पिता ही मानो पुत्र रूप होकर इस में स्थापित होता है। यदि वह इस पुत्र को जो उसका दूसरा आत्मा है, न उत्पन्न करे, तो उसकी परम्परा संसार से जाती रहे। इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक जन इन लोकों की रक्षा के लिये पुत्र उत्पन्न करे, क्योंकि मनुष्य ही इस मंडल का केंद्र है और सब लोकांतलोक इसी के कारण स्थिर हैं, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया गया है।

(११७) जब यह माँ में गर्भित हुआ नियत समय पर निकलता है, तो वीर्य की दृष्टि से यही इस संसारी का दूसरा जन्म है और यही पिता पुत्र-रूप होकर शास्त्रों के अनुसार पुण्य कर्मों के करने के लिये पिता का स्थानापन्न होता है और उत्तराधिकार पाता है।

(११८) किंतु इस का पिता रूप दूसरा आत्मा (शरीर) फिर कृत-कृत्य हुआ परलोक को चला जाता है, और जोंक की तरह दूसरा शरीर पाता है, यही उसका तीसरा जन्म है। इसी कारण पिता और पुत्र एक ही ख़याल किया गया है। और एक ही संसारी पिता-पुत्र होकर लोक-परलोक में स्थानापन्न होता संसारी कहा जाता है।

(११९) ऐ भाइयो! इस तरह जो कोई कर्म करता है,

कर्म-फल की दृष्टि से संसारी होता है। वह जो शास्त्र के विरुद्ध पाप-रूप कर्म करता है, वह अधोगति पाता है, और इस संसार-समुद्र में डूबता है, और वह जो शास्त्री कर्म करता है, वह ऊपर के लोकों में बढ़ता सोमराज होता है और फिर गिरता है। वह भी इसी संसार में रहता है जैसा कि कोई टापुओं (उपनिवेशों) में विश्राम पाता है।

(१२०) किंतु वह जो पहले निष्काम कर्म करता हुआ मन के दर्पण को स्वच्छ करता है और फिर उस दर्पण में अपने स्वरूप पर दृष्टि करता हुआ निश्चय करता है कि "मैं सच्चिदानन्द हूँ," वह तो इस संसार समुद्र को तर जाता है और न्याय से निकल कर प्रसाद में आ जाता है। ऐ भाइयो! तुम भी न्याय के नहीं प्रसाद के अभिलाषी हो जाओ और अपने मनोमुकुर में विवेक करके आत्मा को देखो जैसा कि मैं ने देखा और प्रसाद पर प्रसाद पाया। इस तरह बामदेव ने गर्भ में ही उन्हें समझाया जो अब तक जना नहीं गया था।

(१२१) फिर तो जन्म के पश्चात् उसने सनकादिकों की भाँति इस विद्या की शिक्षा दी और अंत में जब उसके इस जन्म के कर्म भी समाप्त हुए, तो अपना शरीर छोड़ कर अपने स्वरूप में प्राप्त हुआ सत्यसंकल्प सत्यकाम और आप्तकाम होकर अमृत हो गया, हां वह अमृत हो गया।

नवां अध्याय।

(१) * जब इस प्रकार बामदेव की विचित्र घटना हुई जैसा कि ऊपर लिखी गई, तो न्याय (कर्म-फल) से निकल कर

*यहां से अब ऐतरेय उपनिषद का तीसरा अध्याय आरम्भ हुआ, इसी अध्याय के नम्बर ५५ तक यह समस्त उपनिषद सविस्तर वर्णन करके समाप्त कर दी गई है।

प्रसाद (ज्ञान) के अभिलाषी ब्राह्मणों ने उस सर्वरूप की] प्राप्ति के लिये जो, ब्रह्मविद्या से मिलती है और वामदेव आदिक आचार्यों से परम्परा से आरंभ से चली आई है, विचार किया। उस समय के अभिलाषी क्या अब भी विचारवान् इस आत्मा के दर्शन के लिये परस्पर एकत्रित होकर छान बीन करते और एक दूसरे से पूछते हैं कि वह कौन आत्मा है कि जिसको हम "यह हमारा आत्मा है" इस प्रकार प्रत्यक्ष उपासना करें ?

(२) वह कौन सा आत्मा है जिसे वामदेव प्रत्यक्ष देखकर कि "मैं यह हूँ" अमृत हो गया ? और हम भी उस के समान विवेक करके उसे देखें और उस में अहंता का निश्चय करें जिसमें हम भी वामदेव के समान इस संसार-समुद्र से तर जायँ और अमृत हो जायँ, और इस न्याय (कर्म-फल) से निकल कर प्रसाद (ज्ञान फल) में आ जायँ।

(३) जब इस तरह उन्हों ने परस्पर पूछा और आत्मा की खोज में प्रयत्न किया तो उन्हें स्मरण आया कि श्री वामदेव ने हमें गर्भ में सिखाया है कि इस मनुष्य में दो ब्रह्म (सगुण-निर्गुण) प्रविष्ट हुए हैं। एक तो वही प्रजापती जो मनुष्य की आकृति में जलों (अम्भः) से बनाया गया था और फिर इंद्री और देवता और लोकरूप हो कर इस तरह खुला जैसा कि कोई लिपटा हुआ कपड़ा खुलता है, और फिर जो आँख कान नाक मन आदिक रूप हो कर हममें प्रविष्ट हुआ है और भूका प्यासा होता है, और यह शरीर जिसका भोजन है और जो उसे खाता है, और जब भोग समाप्त होते हैं, तो फिर कपड़े की तरह लिपटा जाता है और इस शरीर से निकल कर देवयान पितृयान सड़क पर चलता उत्क्रांत होता चंद्रलोक में निकलता और फिर उतरता संसारी होता है।

(४) और दूसरा वह है जो सर की खोपड़ी फाड़ कर ब्रह्म-

रंध्र के मार्ग से छाया की तरह शीशे में आया है जिस के उजाले में यह दूसरा ब्रह्म (प्रजापती) फैलने सुकड़ने वाला व्यापार करता और संसारी होता है और दोनों (ब्रह्म) विधिवत् शरीर में प्रविष्ट होकर इस शरीर से एक हो गए हैं, उन में वह कौन-सा है जिसकी हमें आत्मरूप करके उपासना करनी चाहिए ?

(५) निदान इन तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वामदेव की शिक्षा से यह जान लिया कि शरीर तो एक पुर या भोजन है और वह जो पहले देवता-रूप फिर इंद्रिय रूप होकर दूसरे नियत मार्गों से बरात या राज-सभासदों (दरबारियों) की तरह प्रविष्ट हुआ है, एक प्राणात्मा है जो इस (शरीर) के खाने वाला है, और इसी के लिये यह अन्न खाया जाता है जो खाये हुये शरीर के बदले बदलता रहता है, और यह प्राणात्मा भूखा-प्यासा संसारी है, किंतु वह दूसरा जो ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरूप है, जिसके प्रकाश में यह काम करता, फैलता, सुकड़ता, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म-मरण संसार का बर्ताव करता है, वही उस का दूल्हा है और वही नित्यमुक्त है ।

(६) इस दूल्हा रूप नित्य मुक्त आत्मा को, जो इस प्राणरूप बरात में आया हुआ एक रूप हो रहा है, विवेक करके हम को देखना चाहिये और उसी को अपना असली आत्मा जान कर कर्म करना चाहिये । क्योंकि उसी के दर्शन और उसी के निश्चय से कि "यह मैं हूँ" हम वामदेव की तरह अमृत और मुक्त स्वरूप हो जायँगे । जब तक इस शरीर में अहंता का निश्चय है, तब तक हम मनुष्य हैं और जब हम इस प्राणात्मा में अहंता का निश्चय पाते हैं, तो मनुष्य की जाति से कट कर प्रजापति की जाति में आ जाते हैं, और द्विजाति होते यज्ञादिक का अधिकार पाते हैं और पिता-पुत्र रूप होकर ऊपर-नीचे संसार में संसारी और भोगी होते हैं ।

(७) देखो, वह जो अपने शरीर में अहंता का भाव रखता है, स्वयं शरीर है और वही साधारण मनुष्य है, वही आदि मनुष्य का पुत्र है, क्योंकि यह शरीर आदि-मनुष्य (आदम) के वीर्य से परम्परा से बनता चला आया है; परन्तु वह सूक्ष्म मनुष्य जो इसके भीतर आँख कान नाक मन रूप होकर प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजापति का पुत्र है, मनुष्य (आदम) का पुत्र नहीं। क्योंकि वामदेव की शिक्षा से सुन लिया है कि वह सूक्ष्म मनुष्य वही है जो प्रजापति से देवता रूप होकर जना गया है और भूख-प्यास के कारण इंद्रिय रूप होकर इस मनुष्य में आया है।

(८) फिर चूंकि यह शरीर जो मनुष्य और आदम का पुत्र है स्वयं अन्न है, क्योंकि प्रजापति का पुत्र सूक्ष्म शरीर जो उसके भीतर आया हुआ इस से एक हो रहा है नित्य इसे खाता है और इस की जगह बाहर का अन्न स्थान लेता है, यही कारण है कि जन्म के आरंभ में यह शरीर बालक होता है, और भीतर से ईश्वर का पुत्र इसे खाता और अन्य अन्न से यह बढ़ता भी रहता है। इसी तरह यह युवक हो जाता है, फिर तो उतना ही अन्न इसका स्थान लेता है जितना भीतर का मनुष्य जो प्रजापति के वंश से है, इसे खाता है। फिर इस के बाद तो यह शरीर उतना भी बदला नहीं पाता, बरन् प्रजापति के पुत्र का अन्न हुआ घटता जाता है, इसी को बुढ़ापा कहते हैं।

(९) जब यह बुढ़ापे में यहाँ तक पुराना हो जाता है कि फिर बिलकुल अन्न से बदला नहीं पाता, तो प्रजापति का पुत्र जो सूक्ष्म शरीर है, उस के आहार के योग्य नहीं रहता है। और यह तब होता है जब उस (सूक्ष्म-शरीर) के भोग के कर्म समाप्त होते हैं। इस अवस्था में प्रजापति का पुत्र इसे छोड़ कर इस से अलग हो जाता है और यह गिर जाता है और मिट्टी में मिल जाता है, क्योंकि इसे कुछ भी कर्मों के भोगने से संबंध नहीं।

वरन् वह तो आहार और स्वयं भोग रूप है।

(१०) जिस मनुष्य को देह में अहंता का निश्चय है, वह भी वास्तव में शरीर है, और वह स्वयं अन्न है और स्वयं मृत है। उसे कर्मों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो भोक्ता या खाने वाला या जीवित नहीं, इसी कारण से शूद्र जो शरीर में अहंता रखता है, वास्तव में मनुष्य है। जब कि उस पर कर्मों का प्रभाव नहीं, स्वयं नाशमान है, वरन् वह तो अन्दर के प्राण, जो रखता है, सेवा करने का प्राण है। यही कारण है कि उसे यज्ञादिकों का अधिकार नहीं है, वरन् द्विजातियों की सेवा का अधिकार है जिस में वह उन की सेवा से ही स्वच्छ पवित्र होने और उन के उपदेश से जब तक कि वह शरीर के अहंकार से निकल कर, जो मनुष्य-जाति है, प्रजापति के पुत्र-रूप अहंकार में न आवे, तब तक यज्ञ आदिक नहीं कर सकता। किंतु वह जो विरोचन की शिक्षा के कारण संभव नहीं कि अब उस में से निकलें, वही मनुष्य वास्तव में चाण्डाल और म्लेच्छ हैं।

(११) सृष्टि के आरम्भ में द्विजाति बच्चा भी अपने शरीर में अनादि अहंकार का निश्चय रखता है, और बिना धार्मिक शिक्षा के यदि इसे स्वतंत्र छोड़ दें, तो यद्यपि पाश्चात्य विद्या में अद्वितीय निकले, तो भी वह शरीर को अपना आप निश्चय करता है, यद्यपि वह बुद्धिमान् हुआ जान सकता है कि "आत्मा भी एक सूक्ष्म वस्तु मेरे भीतर बसती है, किंतु वह मैं नहीं वरन् मेरे में बसती है। जब तक वह मुझ में बसती है ; मैं जीवित हूँ, जब वह चली जायगी, तो मैं मुरदा हो जाऊँगा। यह जीवन मुझ में माँगी हुई या उधार अन्य प्राणात्मा से लिया हुआ है।" यद्यपि वह आत्मा के द्वारा जीवित रहता है, तो भी वह बिना प्राण के जड़ शरीर है, इस लिये उस पर शुभ

कर्मों का प्रभाव कुछ भी नहीं होता, क्योंकि प्राण त्मा (प्राण) का पैतृक पाप उस में चला आता है जो उसे सेवा की आत्मा न इच्छय कराता है ।

(१२) किंतु जब वह दस संस्कारों के पालन से जो द्विजातियों में शास्त्र के द्वारा चले आते हैं, आठ-नौ वर्ष के पश्चात् सूचना पा जाता है, कि “ यह शरीर तो कपड़े की भाँति बदलता है, नित्य अन्न से नया बनता जाता है, यह मैं नहीं हूँ, वरन् वही प्राण-आत्मा हूँ जो उस के भीतर उसे खाता बदलाता नचाता और पटाता है”, उस समय यह मनुष्य-जाति से कटकर ईश्वर की संतति में प्रविष्ट हो जाता है, क्योंकि मनुष्य का प्राणात्मा (जीवात्मा) प्रजापति का अंश है, जैसा वामदेव की शिक्षा से प्रकट हो चुका है। उस समय इस का नया आत्मिक जन्म होता है और प्रजापति का पुत्र तथा उसका उत्तराधिकारी हो जाता है, और वह पहला जन्म जो शरीर का है मनुष्य का है, यह दूसरा जन्म जो प्राणात्मा से है, प्रजापति की जाति का है । इस हेतु कि यह जन्म प्रत्येक का पीछे शिक्षा और वाणी से होता है, इसी कारण इस जाति के लोगों को द्विजन्मा या द्विजाति कहते हैं, और वही प्रजापति के उत्तराधिकारी लोग यज्ञादिक कर्मों के, जो प्रजापति के कर्म हैं, अधिकारी होते हैं ।

(१३) यद्यपि द्विजाति बालक भी इस प्राणात्मा में अहंता पाता मनुष्य-जाति से कट कर प्रजापति के अंश में आ जाता है, और यज्ञादिक कर्मों से पितृयान सड़कों के द्वारा सोमराज हृ कर उत्तम देवतादि योनियों में प्रविष्ट हो जाता है, तो भी भोगों के समाप्त होने पर फिर कर्मों के लिये गिरता संसारी होता है, परंतु वह व्यक्ति तो प्राणात्मा वा कर्त्ता भोक्ता जीव के कारण यहां जन्मता-मरता है । इसलिये यः द्विजाति अज्ञ

भी है, तो भी संसारी भूख-प्यास आदिक पैत्रिक पापों से पापी होता है, मोक्ष नहीं पाता ।

(१४) परंतु यह दूसरा आत्मा जो दूल्हा है और बरात में उन के व्यापार की साक्षी के लिये आया है, अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग-आत्मा, साक्षी स्वरूप है, जो अपने सौंदर्य के दर्शन के लिये इस दर्पण में उतरा है । वही हमारी असली अहंता है, वही हमें उपासना चाहिये, और उसी पर दृष्टि करनी चाहिये । प्रसाद उसी पर निर्भर है । उसी के विवेक से हम मोक्ष पा सकते हैं, उसी की पहचान से हम प्रसाद में प्रविष्ट हो सकते हैं, और उसी की अहंता से हम अमृत हो सकते हैं, जैसा कि श्री वामदेव भी हुआ है ।

(१५) निदान वामदेव की शिक्षा में हमने जो दो ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट हुये सुने हैं, दोनों इस के शरीर में इसी के आत्मा हो रहे हैं । उन दोनों में से एक उपासना करने के योग्य है और हमको पता लगाना चाहिये कि वह कौन सा है ? इस तरह पता लगाते-लगाते उन को यह सूझ पड़ी कि दोनों इस शरीर में अनेक भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से बर्ताव करते हुए चेष्टा करते हैं । जिस (इन्द्रिय) से वह गति करते हैं, वह परमात्मा नहीं, वरन् वह जो उन्हें पाता है, वही अभिप्रेत, वही प्राप्तव्य, और वही परमात्मा है ।

(१६) अब हमें ज्ञात करना चाहिये कि किस के कारण से ये वस्तुयें ज्ञात होती हैं ? और कौन है जो ज्ञात करता है ? विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि चक्षु-इन्द्रिय के कारण यह रूपरंग देखता है, श्रोत्र-इन्द्रिय के कारण यह शब्द सुनता है, घ्राण-इन्द्रिय के कारण यह गंध ग्रहण करता है, जिह्वा-इन्द्रिय के कारण यह बोलता, और रसना इन्द्रिय से खट्टा-मीठा रस लेता है । ये सब करण और भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ एक ही

प्राणात्मा हैं, जो प्रजापति से देवता-रूप होकर उत्पन्न हुए और फिर इन्द्रिय रूप होकर शरीर में प्रविष्ट हुए हैं।

(१७) यद्यपि हमको वामदेव ने सिखा दिया है कि यह अनेक रूप इन्द्रिय-देवता एक ही प्रजापति है, तो भी हम स्वयं विचार करके इसे सत्य पाते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही अंतःकरण नेत्रों में आया चक्षु होता रूप रंग को दिखाने का साधन होता है, वही कान में आया श्रोत होता शब्दों के सुनाने का साधन होता है, वही नाक में आया घ्राण होता दुर्गंध और सुगंध के विवेक का कारण होता है, और फिर वही हृदय के भीतर मन रूप हुआ उन्हीं दिखाई हुई वस्तुओं की स्मृति का और शुभाशुभ के ज्ञान का कारण होता है और विवेक के लिये सोच-समझ का साधन होता है।

(१८) क्योंकि जो चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, और रसना के द्वारा हम पाते हैं, इन सब को हृदय के भीतर मन के द्वारा सोचते और स्मरण करते हैं, उन की अच्छाई और बुराई को छाँटते हैं, और छाँट छाँट और सोच-सोच कर उन्हें निश्चय करते हैं। यदि मन इन्द्रियों से भिन्न होता, तो किस प्रकार इन्द्रियों का दिखाया हुआ मन से सोचा जाता और स्मरण किया जाता और किस प्रकार बुद्धि से निश्चय किया जाता? वरन् जो देखता, वही स्मरण करता है, और जो जानता है वही सोच करता है, और जो सोच करता है वही निश्चय करता है। इसलिये एक ही अंतःकरण विशेष-विशेष भवन में आया हुआ और विशेष-विशेष विवरण से फैला हुआ वृत्ति रूप होकर भिन्न २ काम करता इन्द्रिय और मन और बुद्धि भिन्न-भिन्न नाम पाता है, वास्तव में एक ही प्राण है।

(१९) फिर इस हेतु कि हम को याद पड़ता है कि सनकादिकों की शिक्षा के द्वारा जो हमको वेद (ज्ञान वा उपनिषद)

सिखाया गया है और कौशीनकी ऋषि के द्वारा फैला है, उस में भी यही सुनते हैं कि यह आत्मा पहले मन में प्रविष्ट होता वा उतरता है, और मन वृत्ति के द्वारा अर्थात् उस के साथ कंठ में सीढ़ी लगाता (उतरता) बात चीत करता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है, और फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र मे आता चक्षु से देखता है और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु-इन्द्रिय नाम पाती है।

(२०) वाजसनेयी श्रुति का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि वह कहती है कि मन करके ही वह देखता है, मन करके ही सुनता है। तो इस प्रकार की श्रुतियों से भी जाना जाता है कि एक ही मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इन्द्रिय कहलाता है और वही सोच-विचार के समय मन और वही निश्चय के समय बुद्धि, और वही स्मृति के समय चित्त और वही अहंता के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। और सब एक ही प्राण-देवता प्रजापति है। क्योंकि लिखा है कि जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि वही जब केवल खाता, पचाता, बनाता, निकालता या खींचता है, प्राण कहलाता है, जब वह जानना चाहता है. तो प्रज्ञा कहलाता है, इसलिये एक है। केवल काम करता प्राण और विचार करता अंतःकरण कहलाता है। और यही प्रजापति वामदेव की शिक्षा में हम ने सुना है कि पहले देवता रूप होकर उठा फिर ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय रूप होकर बरात और नौकर की तरह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ।

(२१) जब कि विवेचना और श्रुतियों से ज्ञात हो गया है कि एक ही परमेश्वर प्रजापति पिता-पुत्र रूप होकर फैला है और संक्षिप्त शरीर में आहुति और भोजन पाने के लिये आया है और उस परमात्मा दूल्हा की बरात हुआ है वरन् उसका चाकर

और सेवक है, तो हमको उसी (एक) का अवलंब करना चाहिए और उसी में अहंभाव का निश्चय करना चाहिए और उसी के दर्शन से हम मुक्ति पाने वाले होंगे। क्योंकि यह (प्रजापति) यद्यपि बड़ा विचित्र काम करने वाला और विचित्र भोग पाने वाला है, तो भी उस (परमात्मा) का मज़दूर और सेवक है, बरन् सब भोग और सेवाएं उसी में और उसी के लिये कल्पना करता है, क्योंकि बिना उसके यह कुछ भी नहीं कर सकता।

(२२) देखो, स्वप्न में जब हम जाते हैं, तब यह दूल्हा आँख नाक कान से उतरता नाड़ियों के द्वारा हृदय-कोष में घुसता हुआ हृदय के भीतर आकाश में अपने मुख्य अद्वितीय परमानन्द स्वरूप में आराम करता है, तो अंतःकरण रूप प्रजापति का पुत्र निष्कर्म हो जाता है—न तो वह स्वयं कुछ देख भाल कर सकता है, न कुछ सोचना-समझता है, किंतु जब तक ईश्वरीय नियम द्वारा उसकी प्रतीक्षा होती है कि फिर जाग्रत् में इसी शरीर के भीतर वह आवेगा तो पिता रूप प्राण अपना काम करता रहता इस शरीर को पालता और खाता है। जब ईश्वरीय नियम के द्वारा उस के भोगों के अन्त पर उस के फिर यहां दर्शन देने की आशा नहीं रहती तो यह पिता-रूप प्राण भी निष्कर्म (बेकार) हो जाता है। उसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(२३) फिर क्योंकि हम यों भी देखते हैं कि जब यह दूल्हा (आत्मा) आँख नाक कान से उतरता है किन्तु हृदय की पोल में नहीं जाता बरन् नाड़ियों के भीतर ही जाता है, तो यद्यपि ज्ञान-इन्द्रियों को छोड़ देता है किंतु मन को नहीं छोड़ता, बरन् उस पर उसी तरह आक्रमण किए रहता है जैसा कि जाग्रत् में था और उस समय मन ज्ञानेंद्रियों के बंधन से मुक्त हो जाता है, इसलिये उस की सेवा के लिये झटपट विचित्र स्वप्न-

राज्य बनाता है—कहीं स्त्रियों के साथ उसे लीला कराता है, कही गाड़ियों की सवारी होता हुआ उसे सवार करात है। तत्काल घोड़े, तत्काल सड़कें, तत्काल बाग बागीचा रूप उसके लिये हो जाता है।

(२४) वरन् मृत्यु के पश्चात् न्याय के पद में बुराइयों के बंधन से मुक्त हुआ भलाइयों के बंधन में स्वर्ग और अप्सरा नियत काल तक रचता ऊर्ध्व लोक की सैर कराता है, और भोग समाप्त होने के पश्चात् पुनः कर्मों के लिये यहां ले आता है, इन्द्रियों के बंधन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात के लिये "मैं परमात्मा हूँ" इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है, तो अच्छाई बुराई (पुण्य पाप) के बंधन से स्वयं छूट जाता है और प्रसाद में आ जाता है, और दूल्हा तो अपने परमानंद में नित्य रहता है परंतु वह मन छाया की भाँति ब्रह्मलोक के भोग सत्य-संकल्प और सत्यकाम आदिक मुक्त में उस के लिये रचता और सब कुछ उसमें कल्पता है।

(२५) इस से ज्ञात हुआ है कि यह प्राणात्मा, जो हम ने अपना आप जाना था और सामान्य मनुष्यता से निकल कर हम द्विजन्मा द्विजाति हुए थे और शरीर-विलासियों (देहाभिमानियों) की अपेक्षा हम आत्म विलासी (प्राणात्माभिमानी) हो गए थे यद्यपि बड़ा स्वामी है, तो भी इस परमात्मा का चाकर और अनित्य है और भूख प्यास रूप धर्मों से धर्मी है, और उस के सामने कुछ भी सत्ता नहीं रखता वरन् उस की छाया है। वही हमारा परमात्मा है, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी के पाने से हम मोक्ष पा सकते हैं, वही प्रसाद का स्वामी है यह तो सेवक और कर्म फल का बंदी है। ऐ भाइयो! कर्म मार्ग (करनी भरनी का नियम) भी अच्छा है, पर प्रसाद ही माँगो। कर्म-मार्ग से छुटकारा नहीं, प्रसाद में ही मुक्ति है।

(२६) फिर उन्हों ने यों विचार किया कि प्राणात्मा एक छाया की भाँति उस में कलपित और उस की अविनाशी शक्ति है, जो दो प्रकारों में विभक्त है । या तो वह ज्ञान रूप है या क्रिया रूप । जब वह एक ही शक्ति छाया की तरह उस में इन्द्रियों के रूप में तरंगायित होती है, और जानने का व्यवहार करती है, तो वही देखने वा जानने की शक्ति कहलाती है, और संस्कृत में इसे ही ज्ञान शक्ति बोलते हैं ।

(२७) जब वही शक्ति छाया की तरह कर्मों के रूप में तरंगायित होती है, तो वही कर्म-शक्ति कहलाती है, और संस्कृत में उसे ही क्रिया-शक्ति कहते हैं । तात्पर्य यह कि इस प्राणात्मा में छाया की भाँति तरंग और परिवर्तन है । क्योंकि जब वह ज्ञान में परिवर्तन और तरंग पाता है, तो निश्चय होता है कि यह जानता है : जब वह ज्ञान के रूप में न हो अपितु क्रिया के रूप में बदलता है, तो निश्चय होता है कि वह करता है । इस तरह जानना और करना इसी रूपक (प्राणात्मा) का उस में भ्रांत होना है । बिना इस (प्राण-आत्मा) के न तो वह जानता है न करता है बरन (अपने स्वरूप में तो वह) ज्ञान और कर्म से निर्लिप्त अकर्त्ता अभोक्ता है ।

(२८) फिर यह जो प्राण हमारे भीतर ज्ञान और कर्म के रूप में बदलता है, उसी आत्म ज्योति के प्रकाश में तरंगायित होता है, क्योंकि जब तक प्रकाश न हो, कोई भी काम नहीं कर सकता अतः घन-सुषुप्ति और मृत्यु में यह प्राणात्मा काम करता नहीं दिखाई देता । इसलिये ज्ञात हुआ कि वह जो उस के भीतर केवल ज्ञान का प्रकाश है, वही परमात्मा है। और इस हेतु कि ज्योति यद्यपि व्यापार की प्रेरणा का कारण होती है, किंतु व्यापारी नहीं हो जाती, इसी तरह यह ज्योति उस के कार-बार की प्रेरणा तो करती है, पर स्वयं कार-बार

वाली नहीं हो जाती, बरन् असंग साक्षी होती है।

(२६) यों समझो कि प्राणात्मा तो क्या ज्ञान क्या कर्म दो प्रकार की गति रखता है, और यह ज्योति स्वरूप आत्मा गति नहीं रखता बरन् प्रेरणा रखता है। अतः जो भीतर ज्ञान और कर्म की गति रखता है, वही प्राणात्मा है, जो आकार और छाया है, और वह जो इस में प्रेरणा करता है और ज्योति है, वही परमात्मा है।

(३०) यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह ज्योति कुछ पञ्चभौतिक ज्योति है, नहीं बरन् परमात्म-ज्योति है जो देखती है। सूर्य यद्यपि ज्योति है, किंतु देखता नहीं। न तो सूर्य चंद्र को देखता है, न चंद्र सूर्य को। इसलिये वे सब पञ्चभौतिक ज्योति हैं। किंतु वह जो सूर्य चंद्र और बाहर-भीतर मनोवृत्तियों को भी जानता और देखता है वही ठीक ज्योति है, जो पञ्चभौतिक-ज्योति के प्रकार में से नहीं, बरन् वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, और ये मनोवृत्तियाँ उस के साक्षात्कार के लिये एक दर्पण-सा हो रही हैं, क्योंकि जब-जब मनोवृत्ति उठती है, तो उस में यह साक्षीरूप ज्योति टपकती है, और वह इन मनोवृत्तियों को देखता और फिर वृत्तियों के द्वारा आँख कान में आकर उन को प्रकाशित करता बाहर की वस्तुओं को भी देखता सुनता है।

(३१) अतः वह जो मनोवृत्तियाँ हैं केवल वचवानो (द्वार) और दर्पण हैं जिन से यह पाया जाता है, और वह जो इन में आया हुआ नहीं, बरन् इन के द्वारा सब को पाता है, वही प्राप्तव्य है, वही ज्योति है और वही परमात्मा है। जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता-सा होता है किंतु हिलता नहीं, उसी तरह इन वृत्तियों की गति से वह भी गति करता-सा भ्रांत होता है, वास्तव में वह गति और चेष्टा से रहित,

केवल द्रष्टा, ज्योतियों की ज्योति है।

(३५) फिर उन्हों ने जान लिया कि वह क्यों कब (देश काल वस्तु परिच्छेद) से रहित है, सब का द्रष्टा है। उस को कोई नहीं देख सकता, क्योंकि क्या मन, क्या प्राण, क्या शरीर, क्या सूर्य, क्या चंद्र सब पंच-भौतिक हैं और जड़ हैं, और भौतिक तत्व देखने की योग्यता नहीं रखते। यह (आत्मा) तो सब को देखता और जानता है। और वह जो देखने की योग्यता रखता है दिखाई देने की योग्यता नहीं रखता तो भी ज्यों-ज्यों मनोवृत्तियाँ उठती उसमें दिखाई देती हैं, त्यों-त्यों उन्हीं के द्वारा देखने वाला भी एक साक्षी ज्योति निश्चय होता है। फिर क्योंकि हम यह भी निश्चय करते हैं कि हम ने इन मनो-वृत्तियों को देखा, इस लिये हम ही देखने वाले हम ही साक्षी हैं, यही निश्चय इस ब्रह्म का देखना है, और यही ढंग इस दर्पण में दृष्टि करने का है दूसरा ढंग नहीं।

(३३) जब ज्ञात हुआ कि मनोवृत्तियों में वह उन का देखने वाला है, और उसी तरह निश्चय होता है जैसे कि आँख भी दर्पण में दिखाई देती है, इसलिये उन्हों ने जिन वृत्तियों को छाँट की और जिनमें परमात्मा को देखा, उन को यहाँ भी उधृत करते हैं। वह यह हैं:—१ संज्ञान, २ अज्ञान, ३ विज्ञान, ४ प्रज्ञान, ५ मेधा, ६ दृष्टि, ७ धृति, ८ मति, ९ मनीषा, १० जूति, ११ स्मृति, १२ संकल्प, १३ क्रतु, १४ असु, १५ काम, १६ वश, १७ अहंकार, १८ अविद्या, इति। यथा—

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृति संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। (ऐतरेयोपनिषद् अ० ३ खं० १ मं० ४)

(३४) संज्ञान नाम पूर्ण ज्ञान का है, जो प्रत्येक जीव को होता है। और यह एक अंतःकरण की वृत्ति है। जब यह

खुलती है, तो उस के कारण जीती जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है, क्योंकि सब में जो ज्ञान रखता है वही जीव कहलाता है। वनस्पति में यह वृत्ति नहीं होती। पशुओं में पाई जाती है।

(३५) २ अज्ञान नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से कि यह सब संसार बनता और दैवी काम होते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है और यहां आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६) ३ विज्ञान नाम उस बुद्धि का है कि जो शिक्षा से समझ (दानाई) के रूप में प्राप्त होती है और जिस के कारण लोग विद्वान, श्रेष्ठ, विचारवान् वा तत्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अंतःकरण की वृत्ति है जिस के गुण से यही आत्मा तत्ववेत्ता कहलाता है।

(३७) ४ प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान तो युक्ति-क्रम से परिणाम निकालना है, और यह एक प्रकार की अंतःकरण की वृत्ति है जो बिना युक्ति-क्रम के तत्काल शुद्ध परिणाम पा जाती है। साधारण मनुष्य इस को फुरना, महज-ज्ञान वा अन्तर्ज्ञान (इल्हाम) बोलते हैं। यह (वृत्ति) उन ऋषियों मुनियों को होती है जो आरंभ में वेद को प्रसार देने के लिये उत्पन्न होते है, और यही आत्मा प्रज्ञान के कारण वेद के चलाने वाला ईश्वर कहलाता है।

(३८) ५ मेधा नाम उस अंतःकरण की वृत्ति का है जो सीखी हुई वस्तु को धारण और रक्षित करती है। और ६ दृष्टि उस वृत्ति का नाम है जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा होने वाले अनुभवों की जाँच पड़ताल करती है। ७ धृति नाम धारणा का है, यह एक अंतर्वृत्ति है जिससे मनुष्य समस्त विक्षिप्त विचारों का निरोध कर सकता है और विक्षेप से धैर्य प्राप्त कर

लेता है। इसकी प्रशंसा में साधारण लोग प्रायः कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा सहनशील और धीर-चित्त है। यह गुण इसी वृत्ति के कारण है।

(३९) मति नाम उसका है जो विचार का काम करती है। ९ मनीषा स्वतंत्र वृति का नाम है। १० जूति वह वृत्ति है जो शरीर के रोगों और कष्टों को आत्मा में भ्रांति देती है। ११स्मृति, स्मरण करने को कहते हैं, और जो वस्तु कभी देखी-सुनी हो, उसे स्मरण दिलाती है। १२ संकल्प वह वृत्ति है जो श्वेत या श्याम हर प्रकार की देखी हुई वस्तु को ज्यों का त्यों उपस्थित करके उसी की आकृति पर भीतर दिखाई देती है। १३ क्रतु नाम निश्चय का है, जो एक ऐसी बात पर पक्का होता है, कि उसके सिवा जो उस बात के विरुद्ध हो नहीं मानता। १४ रसु नाम प्राण का है जिस के करण जीवन का व्यवहार होता है।

(४०) १५ काम नाम उस वृत्ति का है जो वस्तु विद्यमान तो न हो किंतु उसी की ओर ध्यान और इच्छा कराती है, इसी को तृष्णा भी बोलते हैं। १६ वश नाम उस अंतर्वृत्ति का है जो स्त्री की लगन लगाती है। १७ अहंकार नाम एक अंत-र्वृत्ति का है जो शरीर में अहंभाव का संबंध या आत्मा में अहंता का निश्चय कराती है। जब यह शरीर में अहंता का निश्चय कराती है, तो उसे मलिन अहंकार कहा करते हैं, क्यों-कि अविद्या और मोह से वह ऐसा करती है, और जब वह विवेक के बाद आत्मा में अहंभाव का निश्चय दिलाती है और शरीर में अनात्मा का निश्चय कराती है, तो उसे शुद्ध अहंकार बोलते हैं, और ज्ञान के कारण मलिन अहंकार शुद्ध अहंकार में बदल जाता है। इसी (शुद्ध अहंकार रूप वृत्ति) पर प्रसाद और मुक्ति निर्भर है।

(४१) १८ अविद्या नाम मूढ़ता का है। वह दो प्रकार की है—

या तूल-अविद्या है या मूल-अविद्या। संसार की वस्तुएं यह जब नहीं समझता, तो तूल अविद्या कहलाती है; और जो आत्मा को नहीं जानने देती वही मूल अविद्या है। तूलाविद्या तो संसारी विद्या के पढ़ने से दूर होती है और मूलाविद्या आत्मा के विवेक और ज्ञान से दूर होती है। घनसुषुप्ति में तूल और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती हैं। वनस्पति और खनिज वर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक-अधिक हैं, इस लिये न तो वे पहचानते हैं, न अपने आप को जानते हैं। इसी कारण से सर्व साधारण उन को जड़ बोलते हैं, किंतु जब संज्ञान वृत्ति स्वाभाविक खुलती है, उसी को चेतन बोलते हैं।

(४२) ऐ भाइयो! इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा की जान कर ऐसा पता लगाया कि ये सब वास्तव में प्राणात्मा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुलबुला, भँवर और फेन होती है, वैसे ही यह प्राणात्मा भी तरंगायित होता इन वृत्तियों का आकार होता है और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता, बरन् छाया के समान आत्मा में केंद्रित है। और यही वृत्तियाँ जो रूप और नाम रखती हैं उन्हीं रूप और नामों में आत्मा भी दिखाई देता है, इस लिये अनजान को उस का भेद करना कठिन सा हो जाता है।

(४३) बरन् सब की सब क्या संज्ञान, क्या अज्ञान, क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान, क्या मेधा, क्या दृष्टि, क्या मति, क्या मनीषा, क्या जूति, क्या स्मृति, क्या संकल्प, क्या क्रतु, क्या काम, क्या रसु, क्या वश, क्या अहङ्कार, क्या अविद्या, सब उसी प्रज्ञान के नाम हैं जो वास्तव में आत्मा है। जैसे क्या कुल्हड़ (आबखोरा), क्या चीनी का प्याला सब मिट्टी के नाम और आकार हैं, और मिट्टी तत्व उन से असंग है, इसी तरह यह सब आत्म-ज्योति में कल्पित हैं।

(४४) जब संज्ञान वृत्ति उस में कल्पित होती है तो उसी को जीव कहते हैं। जब अज्ञान वृत्ति उस में कल्पित होती है, तो उसी को ईश्वर कहते हैं। विज्ञान में विज्ञान, प्रज्ञान में प्रज्ञान और मेधा में मेधा इत्यादि संकेत वा नाम वाला यही होता है। और जब बुद्धिमान् उस में से ये सब घटा अर्थात् बाध करके उसे देखता है, तो बेनाम और बेनिशान, अद्वितीय, एक अकेले आत्मा की पहचान होती है।

(४५) अब यों समझो कि जो शब्द जिस अर्थ के लिये लिया जाता है, जब उस शब्द से उसकी पहचान हो, तो उसे वाचार्थ बोलते हैं, किंतु जब उस शब्द से अभिप्रेत का एक अंश छोड़कर शेष अंश का ज्ञान हो, तो उसे वाचार्थ नहीं वरन् लक्ष्यार्थ कहा करते हैं। अतः संज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान और मेधा सब नामों से जो वाच्यार्थ है, वह तो प्राणात्मा है, और वह जो इन शब्दों का लक्ष्यार्थ है वही शुद्धात्मा है। इस लिये भाषाविदों को चाहिये कि उस में प्रज्ञा-वृत्ति को दूर अर्थात् हटा करके अवशिष्ट भाग को प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ ख़्याल करें।

(४६) क्योंकि जब हम उसे प्रज्ञान शब्द से कहते हैं तो जानना चाहिये कि आत्मा और अंतःकरण की प्रज्ञावृत्ति मिल कर प्रज्ञान शब्द का वाच्यार्थ और अभिप्राय है। किंतु रहस्यज्ञ (तत्त्ववेत्ता) को चाहिये कि उस में प्रज्ञावृत्ति को हटाकर शेष भाग (शुद्ध आत्मा) को प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ समझे। यही रहस्यज्ञता है। और इसी कारण आत्मा के वर्णन में वाणी स्तंभित (अशक्त) है, क्योंकि उस का न कोई रूप है न कोई रेख है, किस प्रकार वाणी जतलावे। तो भी वाणी उसे रहस्य और संकेत से जता सकती है। इस लिये हम कहते हैं कि ये सब नाम उसी के हैं और वह इन नाम-रूप से निर्लिप्त है।

(४७) क्योंकि जब एक वृत्ति उस से दूर होती है दूसरी आ जाती है, और दूसरी दूर होती है तीसरी आती है, किंतु यह अकेला आत्मा, जो जो वृत्ति उस पर जा लगती है, उसी का रूप होता उसे देखता है। इसी कारण हम निश्चय कर सकते हैं कि अब वह वृत्ति बीती और यह आई। वह जो इन वृत्तियों के होने न होने का और उन के संयोग और वियोग का साक्षी है, वही हमारा आत्मा है, और उन सब आकृतियों से पवित्र है, और मुख की तरह दर्पण में आया हुआ वृत्ति-रूप होता चमक मारता उन्हें भी प्रकाशित करता है। वास्तव में प्रज्ञान इसी का नाम है। अंतर्वृत्ति जो इस से प्रकाशित हुई प्रज्ञा कहलाती है, इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है।

(४८) किंतु ये अंतर्वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी तरह प्रज्ञान-रूप होती हैं जैसे सूर्य से छाया पाकर चंद्र प्रकाशित होता है, और यह वृत्तियाँ बदलती, नाना रूप नाना नाम पाती हैं, और वह इनका महल (अधिष्ठान) इन में प्रतिबिंबित एक आन पर रहता है, बदलता नहीं। इसी कारण बड़े-बड़े सूफ़ी (विचारवान्) लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति और उस ज्योति का नाम भूमा वा स्वरूप बोलते हैं, और निश्चय करते हैं कि विभूति बदलती है और भूमा नहीं बदलता।

(४९) अब उनकी भाषा में यों समझो कि वही प्राणात्मा जो इसकी छाया और सेवक है और कुछ भी आस्तित्व नहीं, रखता, वास्तव में इसकी विभूति वा महिमा है; और वह ज्योति जो उस का अधिष्ठान और उन वृत्तियों में प्रतिबिंब डालती है और जिसे आत्मा नाम से बोलते हैं, स्वरूप वा भूमा है। और यह आत्मा की विभूति (शान) ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, देवता होती इसी में केंद्रित रहती है और इसी की ज्योति से ज्योतिर्मय

और इसी के अस्तित्व से अस्तित्ववान् होती नाना रूप जगत् होकर दिखाई देती है। इसलिये श्रुति भगवती निश्चय करती है कि:—

(५०) यही ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, वरन् समस्त देवता और पँच तत्व भी यही है। क्या पृथ्वी, क्या वायु, क्या आकाश, क्या जल, क्या सूर्य, क्या तारे, सब ज्योतियाँ और यह सब जीवधारी पशु पक्षी कीट पतंग आदि यही आत्मा है, और ये सब इसकी विभूतियाँ हैं, और वह सब विभूति का भूमा प्रत्येक में आया हुआ लक्ष्य वा संकेत की विधि से ज्ञानियों को दिखाई देता है।

(५१) जो बीज से उत्पन्न होता है, जो अंडों से उत्पन्न होता है, जो जरायुज से उत्पन्न होता है, जो मैल से उत्पन्न होता है, जो धरती फाड़ कर निकलता है, सब के सब क्या घोड़ा, क्या गाय, क्या मनुष्य, क्या हाथी, जो कुछ कि है, यह सब चलने वाले, उड़ने वाले, स्थावर जंगम सब प्रज्ञान ब्रह्ममें केंद्रित और प्रज्ञान स्वरूप हैं।

(५२) जिस प्रकार दर्पण देखने वाले के हाथ में होता है और देखने वाला आप ही उस में होता है, इसी तरह यह सब मिथ्या उसी के आश्रय और उसी के चमत्कार और दर्पण हैं, इसलिये सब जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञाप्रतिष्ठा है और यही प्रज्ञान ब्रह्म है।

(५३) इस तरह यह ब्राह्मण भी वामदेव की शिक्षा के अनुसार ध्यान करते और अपने आत्मा को प्रज्ञान रूप जानते और सर्व रूप मानते हुए उसी तरह, जिस तरह वामदेव मृत्यु के पश्चात प्रसाद में प्रविष्ट हुआ, वह भी सत्य काम और सत्य-संकल्प हो गये और जीवन में ही आत्मसाक्षात्कार के आनंद से जीवन-मुक्ति प्राप्त कर ली। वह भी जो अब इसी तरह ध्यान करके इस आत्मा को संकेत से पा जाता है, और निश्चय करता

है कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्व रूप हूँ," यहाँ नक्द अमृत होता है। और शरीर के दूर होने से सत्यसंकल्प आदिक ऐश्वर्य मुफ़्त मिल जाते हैं। यही उस के प्रसाद का पद है और यही उस के चढ़ने की निश्रेणी (सीढ़ी) है। आवे जिसका जी चाहे, किसी को भी रोक नहीं। वह जो इस ज़ीने पर चढ़ने से डरते हैं पापी हैं। पापों के कारण उन के भीतर अंधकार है, इस ज़ीने पर आते कांपते हैं और नित्य मूर्खता में रहते हैं

(५४) इस प्रसंग का संक्षिप्त सार यह है कि यही अकेला आत्मा जिस के सिवाय दूसरा कुछ भी विद्यमान न था, बिना साधन बिना उपादान कारण के अपनी माया से जैसे जादूगर अनहोनी माया दिखाता है, इसी तरह उस ने सात लोक, प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बनाकर उन्हीं देवताओं को मनुष्य में प्रविष्ट किया और फिर आप भी अपने दर्शन के लिये उस में प्रविष्ट हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और संबंधियों को सुनाया और वह उस के अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह संभव है कि वह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ? तो उस को यही आश्चर्य नहीं करना चाहिये वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इस में ये हैं कि पहले बिना साधन बिना उपादान कारणों के उस ने आकाश आदि तत्वों को बनाया और उस के सतोगुण अंश से छाँट कर लोक बनाये और फिर प्रजापति को बना कर उस के अंगों से देवता निकाले जो मनुष्य में प्रविष्ट हुए। बरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोध्य करने के लिये है, अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उस के भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न शरीर भी रहता है और फिर उस से ऐसा संबंध पा जाता है कि उसी कल्पित

शरीर को अपना आप समझता है। वैसी ही यह समस्त सृष्टि को दशा है। और आत्मा का संबंध उसी की अविद्या की विचित्रता से शरीर के साथ प्राप्त है, जो सब को विदित है, इस लिये उस कठिन भेद को वामदेव ने कहानी के रूप में सुनाया है जिस से सुगम सहज बोध्य हो जाय।

(५६) तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि इस कहानी की ओर इस प्रकार दृष्टि की जाय कि यह घटना कब हुई और क्योंकर हुई? वरन् तात्पर्य यहाँ यह है जिस प्रकार कोई स्वयं ही इमारत बना कर उस में बसता है और स्वयं उस इमारत का अंश नहीं हो जाता, इसी तरह सब संसार मनुष्य के आश्रय है और मनुष्य एक विशेष भवन है, आत्मा उस के भीतर बसता है। जब इस प्रकार सुन कर उसे निश्चय करता है तो भीतर ही अन्वय-व्यतिरेक के नियम से वह तत्काल मिल जाता है। उस समय यह भली भांति सच मालूम होता है।

(५७) दूसरा परिणाम यह है कि जिस प्रकार वामदेव ने निश्चय किया कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ," इस प्रकार निश्चय करना वास्तव में साक्षात्कार है, दूसरा कोई कारण साक्षात्कार का नहीं। वह जो आँखों से देखना माँगते हैं, गलत है; कभी ऐसा नहीं होता, वरन् सब ख्याल, भ्रम है और डरावा है।

(५८) इसी कारण व्यास देव ने इस प्रसंग पर सूत्र लिखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय वामदेव की तरह शास्त्री दृष्टि है, ईश्वरीय दावा नहीं। किंतु अनजान मनुष्य इस भय से कि यह तो ईश्वरीय दावा है इधर ध्यान नहीं करते, यद्यपि यह नहीं है; वरन् यही विश्वास है, यही निश्चय है, यही ज्ञान मुक्ति का हेतु नियत हुआ है। जो इस प्रकार नहीं निश्चय करता, यद्यपि तप जप करता है मोक्षार्थी नहीं होता, हां तप जप का फल स्वर्ग

इत्यादि पाता है और फिर गिरता है।

(५९) इसी *प्रसंग को यजुर्वेद आरण्यक भाग में यों लिखा है कि पहले सबसे ब्रह्म हुआ। उसने अपने आत्मा को यों जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ।" इस से वह सर्वरूप हो गया। ब्रह्म ही नहीं बरन् देवताओं में भी जिस-जिस ने अपने स्वरूप को इस प्रकार देखा कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह भी सर्व रूप हो गया। फिर श्रुति कहती है कि यह नहीं ख्याल करना चाहिये कि ऐसा निश्चय देवताओं को ही उचित है, बरन् ऋषि मुनि और मनुष्यों में भी जिसने इस प्रकार आत्मा को देखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सब में सब कुछ हो गए।

(६०) देखो, वामदेव गर्भ में भी देखता हुआ बोला कि "मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ" और यही निश्चय करता सर्वरूप हो गया। फिर ऐसा भी श्रुति कहती है कि कदाचित् कोई कहे कि भूत कालिक ऋषियों में ही इस निश्चय की शक्ति थी, अब हम में कठिन है; इस लिये स्पष्ट आज्ञा करती है कि अब भी जो कोई ऐसा निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सर्वरूप हो जाता है।

(६१) फिर स्वयं ही श्रुति उस के लिये जो विरुद्ध निश्चय करता है कि "मैं दास हूँ, वह स्वामी है" तिरस्कार करती है कि जो व्यक्ति इस प्रकार विश्वास करता है कि "मैं और हूँ वह और है, और मैं दास हूँ, वह ईश्वर है" वह कुछ नहीं जानता और देवताओं का पशु है। क्योंकि जिस प्रकार एक गाय बहुत आदमियों को दूध देती है और वह सब उस की रक्षा करते और बांधे रखते हैं, जिस से कि किसी दूसरे के पास न चली जाय, इसलिए ऐसे विश्वासी को देवता डराते और चौकसी रखते हैं कि कहीं ज्ञान न पा जाय, इसलिये उस के हृदय में भय

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय पहिला ब्राह्मण चौथा म० १०।

डालते रहते हैं कि वह कहीं ऐसा निश्चय न कर।

(६२) क्योंकि जब वह निश्चय करेगा, तो हमारा स्वामी हो जायगा। अब तो हम को मानता, हमारी भेंट चढ़ाता व हमें वलि देता, यज्ञ करता है। फिर ऐसा नहीं करेगा। इसलिये उस हृदय में भय डालते हैं कि यह निश्चय अच्छा नहीं, ईश्वरी दावा है, नहीं करना चाहिये, सेवक और भक्त बने रहना चाहिए। ईश्वर भक्ति और दासता से ही प्रसन्न होता है। देखो संसार में जैसे राजा भी चाटुकारिता (खुशामद) और सेवा से प्रसन्न होता है, ऐसे ही ईश्वर भी चाटुकारिता पर प्रसन्न है। यह निश्चय तो उसी तरह का है जैसे कोई कहे "मैं राजा हूँ" तो क्या राजा प्रसन्न होगा? क्या उसे शत्रु न समझेगा?

(६३) फिर आप ही श्रुति कहती है कि जब एक की बहुत सी गाएँ होती हैं, यदि एक भी गाय उनमें से निकल जाय, तो उन शेष पर संतोष नहीं होता, उस की खोज में निकलता और उसे पकड़ता है। अत कैसे हो सकता है कि जब एक विश्वासी बहुत देवताओं की सेवा करता हो और उसे कोई ज्ञानी उन के बन्धन से निकालना चाहे, वह निकलने दें? इस लिये देवता नहीं चाहते, कोई इस को निश्चय करे कि "मैं ब्रह्म हूँ।"

(६४) देखो, डरपोक मनुष्य तो इधर देवी उधर महान् देव, इधर इंद्र उधर दूसरा कोई देवता जैसे गणपति या भैरव को मानता है और सब को नियत भेंटें देता है और उन्हें पूजता है और सब उस से आहुति वा भेंटों के द्वारा भोग पाते हैं और सब उस के मन में बैठे उस के मन को इस निश्चय से डराते हैं जिस पर मुक्ति नियत है, किस प्रकार संभव है कि ज्ञानी जन उन्हें समझ सकें? वह तो देवता के कठोर चुंगल में आये हुये हैं और उन के पशु हो रहे हैं।

(६५) पर जब कोई बलवान् पुरुष वेदों पर श्रद्धा करके

ऋषि मुनि के वचनों और निश्चयों को जानता हुआ निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ," तो फिर बात उलटी हो जाती है, अर्थात् वही देवता जो उपास्य थे सेवक हो जाते हैं, और यह उनका स्वामी। क्योंकि इस निश्चय से यह सर्व का स्वामी हो जाता है और देवता का भी आत्मा हो जाता है। फिर कोई उसके इस ज्ञान में बाधा डालने की शक्ति नहीं रखता, बरन् सब उसकी सेवा में यों उठते हैं जैसे कि चाकर।

(६६) ऐ भाइयो! ज्यों ज्यों तुम उन्हें ईश्वर करके मानते हो वे तुम्हें अपना पशु जानते उसी तरह तुम्हें बाँधते हैं जैसे पशु का स्वामी भी पशु को बाँध कर रखता है, पर तुम तो अनजान हो, भेद की बात नहीं जानते, इस श्रुति वाक्य के अनुसार बलवान् बनो और इस निश्चय का अवलंब करो। फिर देखो, क्या विचित्र बात होती है। स्वामी सेवक और दास प्रभु हो जाता है। तथास्तु।

(६७) हम इस विषय में अपनी ओर से एक उदाहरण सुनाते हैं कि कल्पना करो दस मनुष्यों ने जो यात्रा जाना चाहते थे, दो-दो रुपया चंदे की भाँति एकत्रित करके एक सांझे का टट्टू ख़रीद लिया जिससे यात्रा में उस पर अपना बोझ लादें, और जब चलने का समय हुआ, तो प्रत्येक ने अपनी अपनी गठरी जहाँ तक संभव था, भारी करके लाद दी, किसी को भी टट्टू की चिंता न हुई कि यह बोझा उठा सकेगा या नहीं ?

(६८) बरन् यदि एक दूसरे को संकेत करे कि तेरा भार अधिक है निकाल लो, नहीं तो टट्टू नहीं चल सकेगा, तो वह कहेगा क्या मैंने इसके मूल्य में चंदा नहीं दिया, मैं तो नहीं निकालूँगा, तुम अपना निकाल लो। इस प्रकार जब वाद-विवाद में किसी ने अपना असबाब न निकाला और चाबुक मार कर टट्टू को अंत में रवाना किया, तो बेचारा टट्टू बड़ी कठिनाई

से जिस तरह हो सका, धीरे-धीरे अपनी जान मार्ग-निवास (पड़ाव) पर ले गया।

(६६) जब मार्ग-निवास पर पहुँचे, तो सब ने अपना-अपना बोझ उतार लिया, टट्टू की फ़िक्र किसी ने न ली। वह तो कहे देवदत्त दाना-घास देवेगा, देवदत्त कहे, यज्ञदत्त ला देवेगा, किसी ने घास दिया न चारा। स्वयं ही बेचारे टट्टू ने रोड़ी पर फिर कर जो मिला खा कर पेट भर लिया। सवेरा हुआ, तो सब सिद्ध होगए, अपना बोझ किसी ने भी कम न किया।

(७०) अब विचार कीजिए कि रात को तो किसी ने चारा भी न दिया, भूखा रहा, सवेरे शक्ति से अधिक भार उठाना पड़ा। अन्ततः टट्टू ने इस प्रकार दो-तीन मार्ग निवास पूरे किए और मर गया।

(७१) ऐ भाइयो! जो बहुत देवताओं को पूजता है, वास्तव में बहुतों का टट्टू होता है जब जिसका दिन आता है, तो अपना भोग तो वह नहीं छोड़ता बरन् यदि न दे तो उसे हानि पहुँचाता है और जब कभी उसका पुत्र बीमार होता है या कुछ उसे चाहना होती है, तो कोई चिन्ता नहीं करता। महादेव कहता है देवी पूरा कर देगी, देवी कहती है, भैरव पूरा कर देगा। इसी तरह वे खयाल करते हैं जैसे टट्टू के मालिक टट्टू के बारे में खयाल करते थे और सांझे के टट्टू की तरह ऐसा उपासक निस्संदेह मरण पाता है।

(७२) जब कि वैदिक कर्मों की यह दशा है, तो उन्हों ने जो भूत प्रेतों को उपास्य मान रक्खा है, उनका क्या हाल होगा। हम देखते हैं कि कुछ तो पीरपीरों की ग्यारहवीं देते हैं और फिर सखी सरवर का रोट भी देते हैं, और गुरु साहब का कढ़ा प्रसाद भी कराते हैं, देवी की भेंटें भी देते हैं, और जितने भी यक्ष, सिद्ध और मरी-मसान हैं, सबके दिन नियत हैं और उनको

उनके नियत दिनों पर भेंटें नज़रें देते हैं।

(७३) जब कोई आवश्यकता पड़ती है तो प्रत्येक को ध्यान करते सब से मांगते हैं, ऐ पीर पीराँ! ऐ सखी सरवर! लालाँ वाले! ऐ देवी-देवता! मेरे लड़के को अच्छा कर दो, और वह उन पर चंदा वाले टट्टू के मालिकों की तरह ध्यान नहीं करते, अंत में मर जाते हैं। लड़का तो मर ही जाता है और उसकी कुशल में जो नज़रें बांधते हैं यदि वह न दें, तो फिर उन्हें फ़ौरन् आ पकड़ते हैं।

(७४) मैं शोक करता हूँ ऐसे हिन्दुओं पर जो भाइयों और चेलियों के निश्चय पर तो सांझे के टट्टू हो जाते हैं, पर वेद की श्रुतियों के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चय नहीं करते। यह अविद्या नहीं तो क्या है? मूर्खता नहीं तो क्या है? वेदों का यह तात्पर्य है कि संसार के लोक देवताओं के आश्रय हैं और देवता मनुष्य के आश्रय मनुष्य का वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इसलिये मनुष्य को अपनी देह के संबंध के कारण, जिस प्रकार राजा प्रजा का पालन करता है, उसी तरह देवताओं के पालन के लिये यज्ञादिक निष्काम करने चाहिएँ, और "मैं ब्रह्म हूँ उनका स्वामी सर्वरूप हूँ" ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

(७५) यह तो उन्हें खबर नहीं, विरुद्ध इस के स्वामी होकर दास बनते हैं और नज़रें भेंटें तथा बलियाँ धन-दौलत के लिये देते हैं जिससे कुछ भी लाभ नहीं, क्योंकि जो कुछ प्रारब्ध है उसे तो ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता, सखी-सरवर क्या कर सकता है? अथवा पीर पीरां से क्या हो सकता है?

(७६) मेरे निकट उस ब्राह्मण की तरह होना चाहिए जिस का उल्लेख उदाहरण की तरह मैं आगे करता हूँ। देखिए, दो ब्राह्मण तप के लिये बन में गये जहाँ सिंह व्याघ्र श्वान आदि

हिंस्र जंतु विद्यमान थे। जब वे तप करने लगे, तो वह आकर उन्हें कष्ट देते थे।

(७७) एक ब्राह्मण ने चिंता की और प्रत्येक का आहार एकत्रित किया। जो जंतु आवे उसका आहार थोड़ा-सा उसे दे देवे, और फिर जब चला जाय तो दूसरे दिन अवश्य आवे, वरन् अपनी बिरादरी के दूसरे पशुओं को भी साथ ले आवे, क्योंकि पशु का यही काम है जहाँ भोजन मिले वहाँ नित्य समय पर आ जाता है। इस प्रकार उस ब्राह्मण को तो उनके बचाव से अवकाश न मिला।

(७८) फिर दूसरे ने चिंता की कि यदि इनकी ख़ुराक दी जायगी तो अधिक बखेड़ा होगा, इसलिये अपने चारों ओर अग्नि प्रदीप्त कर दी और तप करने लगा। यह सब को ज्ञात ही है कि प्रत्येक वन्य पशु प्रकाश से भयभीत होता है, कोई भी उसके निकट न आया और निर्विघ्न अपना काम करता रहा।

(७९) ऐ भाइयो! देवी-देवता भी उस भेदवादी को जो उन को नज़रें देता है डराते और उस को आत्मा की पहचान का अवकाश नहीं देते हैं, परंतु वह जो बुद्धिमान है, एक ही ज्ञानाग्नि प्रकाशित करता है, फिर तो ये सब भाग जाते हैं, किसी को भी सामर्थ्य नहीं होती कि उन्हें कुछ कष्ट देवे, क्योंकि वह तो सब का आत्मा होता है, कौन है जो अपने आत्मा को कष्ट दे?

(८०) ईश्वर भी एक महान आत्मा है जो सब देवताओं का स्वामी है, परंतु यह (ज्ञानी) तो उस का भी आत्मा होता है, क्योंकर विचार उत्पन्न हो सकता है कि "अहं ब्रह्मास्मि" के निश्चय में वह (ईश्वर) अप्रसन्न और कष्ट देगा? कदापि नहीं, वरन् यही तो उसका प्रसाद है। अभेदता में सब का आनंद है। वह जो इस (अहं ब्रह्मास्मि) के निश्चय से डराते हैं, राक्षस

हैं और विरोचन के शिष्य हैं। उन की कदापि नहीं सुननी चाहिये। चाहे यह भेद (रहस्य) ज्ञात हो या न हो, प्रत्येक आर्य को इस निश्चय (मैं ब्रह्म हूँ) का अवलंबन करना चाहिये। क्योंकि सुवर्ण को सुवर्ण कहना ही ठीक है, सुवर्ण को पीतल कहना ठीक नहीं। और इस हेतु कि ज्ञानियों की रत्न-पारखी दृष्टि और वेद की श्रुतियों से भी यही सच है, तो उस के विरुद्ध विश्वास करना भेद वाद और कुफ़्र है।

(८१) कुछ भाषाविद् कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है, तो भी इस निश्चय में अहंकार पाया जाता है, इसलिये भी यह निश्चय अच्छा नहीं। तो हम जतला देते हैं कि अहंकार और बड़प्पन का रूप अनजान को एक ही ज्ञात होता है, यद्यपि अहंकार बुराई है और बड़प्पन बड़ाई या उत्तमता है। और यह सदाचार के पंडित जानते हैं कि बड़प्पन प्रशंसा किया गया है और अहंकार निंदा।

(८२) "मैं ब्रह्म हूँ" इस निश्चय में आत्मा का बड़प्पन है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता है जब कोई काम समक्ष में आप और दूसरे से हुआ हो और झूठा निश्चय करे कि "मैं ने किया है, उस को क्या शक्ति थी?" और यह बुरा है। उसी भेद के लिये हम एक वैदिक आख्यान का अनुवाद करते हैं जिस से इस का आप लोगों को भेद ज्ञात हो जायगा।

(८३) * हम सामवेद की तलवकार शाखा केनोपनिषद् में सुनते हैं कि ब्रह्म ने जो आत्मा है, देवताओं को असुरों पर विजय दी। जब इस प्रकार देवताओं को उन पर विजय दी, तो वे गौरवान्वित हो गये और उन्हों ने अहंकार किया कि यह हमारी विजय है। हम ही थे जो ऐसी विजय लाभ की, हमारा ही यह काम था और हमारी ही यह बड़ाई है। क्यों न हम

* देखो केनोपनिषद अध्याय दूसरा खण्ड पहला और दूसरा।

अपनी बड़ाई करें, हम तो बड़ाई के योग्य हैं। कौन है जो हमारी शक्तियों का सामना या अनुमान कर सके ?

(८४) अब ब्रह्म ने उन का अहंकार देखा, तो उसे तोड़ने के लिये संकल्प से यक्ष के रूप में वह शरीर धारी होकर आया। उन्हों ने न पहचाना कि यह कौन यक्ष है। उन्हों ने मिल कर अग्नि देवता को कहा—ऐ जातवेद! इस को जानो कि यह कौन यक्ष है ? उस ने कहा—अच्छा।

(८५) तब वह उस के पास गया। अभी अग्नि देवता ने कुछ नहीं कहा था कि यक्ष बोला—"तू कौन है जो निधड़क यहाँ आया है ? उस ने कहा—मैं अग्नि देवता हूँ, और जातवेद मेरा नाम है, क्या तू मुझे नहीं जानता" उस ने कहा—तुम में गौरव क्या है ? और क्या शक्ति हैं" बतलाओ। उस ने उत्तर दिया—मैं जो कुछ धरती में है, चाहूँ तो दम में भस्म कर दूं।

(८६) उस ने एक तिनका उस के आगे रख दिया कि इस को जलाओ। उस ने जहाँतक सामर्थ्य था जलाने के लिये शक्ति लगाई किंतु न जल सका। इसलिये डरा और अपने आप को शक्तिहीन जानता हुआ लौट आया और देवताओं को कहा—मैं नहीं जानता कि यह कौन यक्ष है, मैं तो इस के सम्मुख दुर्बल बरन् आसक्त ठहरता हूँ।

(८७) फिर उन्हों ने वायु देवता को कहा, ऐ मातरिश्वा! तुम इस को जानो कि यह कौन यक्ष है। उस ने कहा—अच्छा। तब वह उस के पास गया। अभी वायुदेवता ने कुछ नहीं कहा था कि यक्ष बोला—तू कौन है जो निधड़क यहाँ आया है ? उस ने कहा कि मैं वायु का देवता हूँ और मातरिश्वा मेरा नाम है ! क्या तू मुझे नहीं जानता ?

(८८) उस ने कहा—तुम में क्या गौरव है और क्या

शक्ति है बतलाओ। उस ने उत्तर दिया कि मैं जो कुछ धरती में है पाऊँ तो एकक्षण में उड़ा दूं। उस ने एक तिनका निकाल कर रख दिया कि इसे उड़ा दो। उस ने जहाँ तक शक्ति थी उड़ाना चाहा। किंतु न उड़ा सका। इसलिए डरा और अपने आप को अशक्त जानता हुआ लौट आया और उस ने कहा—मैं नहीं जान सकता कि यह कौन है। मैं तो इस के आगे कमज़ोर बरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८९) फिर उन्होंने इन्द्र को कहा—ऐ भगवन्! तुम तो इसे जानो कि यह कौन यक्ष है। उसने कहा—अच्छा। तब वह उसके पास गया। अभी वह निकट नहीं पहुँचा था कि वह यक्ष अंतर्द्धान हो गया, क्योंकि वह उसे अपना मुँह दिखाना नहीं चाहता था और उस का अधिक तिरस्कार करना चाहता था, इस लिये उस यक्ष की जगह एक स्त्री के रूप में सशरीरी हो गया। तब इन्द्र ने देखा कि अभी तो यहाँ यक्ष दिखाई देता था, अब उसकी जगह बड़ी बलवान स्त्री उमा (पारवती) दिखाई देती है जो हम सब की मां है। यह क्या आश्चर्य है?

(९०) तब इन्द्र ज़रा आगे बढ़ा और उस से पूछा, ऐ माता! यहां यक्ष कौन था? उस ने कहा—बेटा! वह ब्रह्म था जिस के बदौलत तुम ने असुरों पर विजय पाई और जिस विजय के कारण तुम गौरव और अहंकार करते हो। तुम तो क्या बैल भी अपने चरने पर डकारता है, जंगली गधा भी जंगल में रींगता है। तुम भी देवलोक में बक बक करते हो कि हम ने विजय की, हमारा ही यह काम था। क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बल, तुम्हारी शक्तियां अपनी नहीं, बरन् सब इसी की दी हुई हैं? क्या बुद्धिमान् यदि कोई वस्तु मांग लाता है, तो उस का स्वामी हो जाता है? और उस के कारण जो काम करता है, तो क्या अपना किया समझता है? फिर

क्यों तुम में ऐसा अहंकार हो गया ?

(६१) उस दिन से देवताओं ने अच्छी तरह से जान लिया कि हम कुछ भी सत्ता नहीं रखते, जब कि हमारा पृष्ठपोषक सर्व शक्तिमान, सर्वव्यापक, सब का आत्मा, सब से बड़ा है, जिसे चाहे विजय दे, जिसे चाहे पराजय दे। कोई भी विजय नहीं पाता, परन्तु वही; कोई भी पराजय नहीं खाता, मगर वही। उसी के चरित्र और उसी का सब विलास है।

(६२) इसी कारण ये तीनों देवता सब देवताओं से श्रेष्ठ देवता निश्चित हुये हैं, क्योंकि सब से पहले इन्होंने ब्रह्म को देखा और यही उस से मिले। और इन्हीं का घमंड पहले टूटा और वह तीनों अग्नि देवता या वायु देवता या इन्द्र हैं। उन में से यद्यपि तीनों ने उसे देखा, परन्तु वह दोनों तो यक्ष ही जानते हुए लौट आए किंतु इन्द्र ने देखा भी और उमा पार्वती के कारण यह भी जाना कि यह ब्रह्म है, इस लिये वह उन दोनों से भी बड़े पदवाला निश्चित हुआ। यह उसी के देखने और पहचानने की श्रेष्ठता (बड़ाई) है। आत्मरूप करके जानना, जो उसका साक्षात्कार है, उसकी तो क्या ही महिमा है।

(६३) फिर उन्हों ने उमादेवी से पूछा कि माँ! किस तरह उसे हम सदैव भी देखें और पावें? उस ने कहा—बेटा! उस का पाना बहुत कठिन है। यह तो जिस तरह बिजली चमकती है, उसी तरह चमकना और गुप्त हो जाता है। यह जो बादल और बिजलियां चमकती हैं, उन सब में है और यह ही उन में आया चमकता है। यह तो तुम्हारे अभिमान तोड़ने के लिये आँख की झपक की तरह देहवान् होकर आया था और पलक मारने में अंतर्द्धान हो गया था। यही इसका अधि· देव पद है। किंतु इस तरह उस का देखना वास्तव में उस का साक्षात्कार नहीं। साक्षात्कार का कारण दूसरा है और वह

यह है कि जिस तरह बाहर सब में व्यापक है, उसी तरह यह तुम्हारे भीतर भी व्यापक है।

(९४) जब तुम अंतर्मुख हो कर उसे अपना आत्मरूप मान-कर पहचानोगे, तो अभेदता पाओगे, अन्यथा बड़ी भक्तियों और बड़े पुण्यों से अपने भक्तों और विश्वासियों के लिये यह कभी-कभी बिजली की चमक की तरह या आँख की झपक की तरह सशरीरी हो आता है, और अंतर्द्धान हो जाता है। परन्तु साक्षात्कार चाहो, तो अपने भीतर की मनोवृत्तियों को देखो। ये जो मन में संकल्प उठते हैं, उन में साक्षी आत्मा की ज्योति प्रतिबिंबित होती है। यही उस का अध्यात्म-स्वरूप है। इसे जो पहचानता है और अपना आत्मा जानता है, उस से मिलाप पाता है।

(९५) अधिदेव रूप में जो मिलना है उस से एक नहीं होता है, वरन् भय रहता है, अध्यात्म में इस से एक होता स्वतंत्र वा बे परवाह हो जाता है और इस की अधिदेव विभूतियाँ सब उसी की हो जाती हैं, क्योंकि सब के भीतर सब का आत्मा वही है। इसी कारण उस को तद्वन बोलते हैं। और तद्वन नाम से उस की उपासना करनी चाहिये। संस्कृत में तद्वन नाम उस का है जो ईश्वर को अपना आत्मा करके भजन करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ"। और यह अहंकार नहीं वरन् उसका बड़प्पन है। वह जो तुम ने विजय पाने में अभिमान किया, अहंकार है। और यह उस का महत्त्व है। और यही तद्वन है। जो उसकी तद्वन उपासना को जानता है, उस को सब भूत (प्राणी या पदार्थ) चाहते हैं और उसी के हो जाते हैं। इस तरह उमा-देवी ने देवताओं को अहंकार और महत्व में भेद कर दिखाया और कहा कि इसी महत्ता का अवलम्बन करो। और इस अव-लम्बन में शम दम तप शुभ कर्म और वेदों का पढ़ना दत्त चित्त

से आरम्भ करो तो तुम्हारे भीतर में ही चिन्तन और ध्यान से आत्मरूप हो कर दिखाई दे जायगा और उस से अभेदता पा जाओगे। मैं इसी तरह उस से अभेदता पाई हूँ, और तुम सब इसी कारण मेरी विभूतियाँ हो। और जो ऐसा जानता है, अपने पाप दूर करके स्वर्ग लोक में अनंत समय तक रहता है। इस तरह पार्वती भी शिक्षा देकर अंतर्द्धान हो गई।

(९६) ऐ प्यारो! फिर तो उन का घमंड टूट गया और उन्हें चटक लग गई कि किस प्रकार हम उस से अभेदता पावें और उस की महिमा में प्रविष्ट होवें? उन्होंने पार्वती के कथन के अनुसार शम दम तप जप आरम्भ कर दिया। जब तप जप करके साधन-संपन्न हुए तो सत्संग की सभाएँ करके अपने भीतर उसे ढूंढने लगे। और यह नियम है कि जो ढूंढता है, वह पाता है। फिर उन्हों ने उसे पा लिया और महत्व में प्रविष्ट हो गये। जिस तरह उन्हों ने सभाओं में ध्यान करके पाया, वह भी सब सुनिये।

(९७) * उन्हों ने यों सोचा कि किस की प्रेरणा से चलाया हुआ यह मन उलटता-पुलटता है? और किस की इच्छा से यह पलौठा प्राण स्वांस लेता भीतर चलता है? और किस की आज्ञा से यह वाक् बात चीत करता है? ऐ भाइयो! कौन देवता है, जो आँख कान को उस में जोड़ता है।

(९८) सोचते-सोचते उन्हें यह फुरना हुई कि वह कान का कान और मन का भी मन है, और वाक् का वाक्, प्राण का भी प्राण और आँख की भी आँख है। इस तरह जो उसे जानता है, व्यक्तित्व बन्धन से विनिर्मुक्त होता है। और यहाँ से जाता अमृत हो जाता है।

---

* यहां से केनोपनिषद प्रथम से आरम्भ होता है और यह पहले मन्त्र का अनुवाद और व्याख्या है।

(९९) ऐ भाइयो ! वहाँ न तो आँख आ सकती है, न वाणी पहुँचती है, न मन जा सकता है, न हम स्वयं जानते हैं कि किस प्रकार उसे सिखावें। किंतु बुद्धिमानों से हमने यों सुना है, जिन्हों ने हमें सिखलाया कि "वह न तो ज्ञेय है न अज्ञेय, बरन् ज्ञेय अज्ञेय से परे अलग है", क्योंकि जो अनात्म या भिन्न है या ज्ञात होगा या अज्ञात, पर यह तो इन दोनों से अलग ज्ञान-स्वरूप है।

(१००) यहां श्रुति का तात्पर्य यह है कि यह जो ज्ञान में आ जाता है, वह तो ज्ञेय होता है और जो ज्ञान में नहीं आता अज्ञेय होता है। परंतु स्वयं ज्ञान न तो ज्ञान में आ सकता है और न ज्ञान से बाहर रह सकता है। इस हेतु कि यह स्वयं ज्ञान है और यह संभव नहीं कि आप ही ज्ञान ज्ञान में आ जाय या ज्ञान से बाहर हो। इसलिये न वह ज्ञेय है न अज्ञेय है, बरन् ज्ञान-स्वरूप व आत्म-स्वरूप है। उसी में वस्तुएं प्रकाशित होती ज्ञात होती हैं, उसी में शून्य हुई अज्ञान हो जाती हैं। वह जो ज्ञेय और अज्ञेय का दर्पण है, वही आत्मा है।

(१०१) जो वाणी से नहीं कहा जा सकता बरन् जिस से वाणी बोलती है, तुम उसे ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता या उपासना करते हो।

(१०२) जो मन से नहीं सोचा जाता, बरन जिस से मन सोचता है, उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता करते हो।

(१०३) जो आँखों से दिखाई नहीं देता, बरन् जिस से आँखें देखती हैं, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम दासता करते हो।

(१०४) जो कानों से नहीं सुनाई दे सकता बरन् कान जिस से सुनते हैं, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिस की तुम सेवकाई करते हो।

(१०५) जो नाक से नहीं सूंघा जाता, वरन नाक जिस से सूंघती है, उसे तुम ब्रह्म जानो। वह ब्रह्म नहीं जिसकी तुम सेवकाई वा उपासना करते हो।

(१०६) फिर उन्हों ने परीक्षा के रूप में एक दूसरे को कहा कि भला इस ज्ञान में कुछ कच्चापन तो नहीं है। पहले ने कहा- "यदि तू जानता है कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ" तो अभी तू नहीं जानता वरन् थोड़ा जानता है क्योंकि लिख चुके हैं कि वह ज्ञात व अज्ञात नहीं। जो कुछ तू जानता है कि मेरे भीतर है वह भी थोड़ा है, और जो कुछ तू जानता है कि देवताओं के भीतर है, वह भी थोड़ा है। अभी तुझे अधिक विचार करना चाहिये।

(१०७) दूसरे ने उत्तर दिया -" न तो मैं कह सकता हूँ कि मैं जानता हूँ और न यह कह सकता हूँ कि मैं नहीं जानता, परंतु वह जो हमारे इस कथन को समझता है कि मैं नहीं जानता और जानता हूँ, वही जानता है।"

(१०८) जिस ने कहा कि "मैं ने जाना", उस ने नहीं जाना। जिस ने कहा -" नहीं जाना", उस ने जाना। क्योंकि वह जानते हैं जो कहते हैं कि नहीं जाना जा सकता। और वह नहीं जानते जो कहते हैं कि वह जाना जा सकता है। सच तो यों है कि प्रत्येक ज्ञान का जो साक्षी है उसे जो जानता है, वही अमृत हो जाता है। जब कुछ आत्मा का भी जोर हो, तो ज्ञान से अमृत हो जाता है। जब तक आत्मबल नहीं, तो विद्या भी कुछ फल नहीं देती, क्योंकि दृढ़ विश्वास भी सुनने और जानने में आवश्यक है।

(१०९) यहां जीवन में यदि इस प्रकार जान लिया, तो सत है; नहीं जाना, तो बड़ी हानि है। जो बुद्धिमान प्रत्येक वस्तु में विचार करके उसे पाता है, यहाँ से जाता अमृत होता है।

यही उन्हों ने जाँच की और "हम ही सब में सब कुछ हैं" ऐसा निश्चय किया। इस तरह "मैं ब्रह्म हूँ और सब में सब कुछ हूँ," यह ज्ञान है, अंधकार या भूल नहीं, महत्व है अहंकार नहीं। अहंकार तो यही था जो उन्होंने (अर्थात् देवताओं ने) अपने विजय लाभ करने पर किया था जिन के लिये आत्मा शरीर होकर यक्ष के रूप मे उन्हें दिखाई दिया। इस ज्ञान में तो वही उनका आत्मा हुआ और मुक्ति का कारण हुआ। इसलिये, ऐ भाइयो! हमने भी अहंकार और महत्व में अंतर दिखला दिया है, जिससे भाषा जानने वाले इस निश्चय को अस्वीकार न कर सकें।

(११०) अब हम निवेदन करते हैं कि जो बात श्रुति, युक्ति, अनुभव से सिद्ध हो ठीक होती है और "मैं ब्रह्म हूँ" यह निश्चय श्रुतियों, युक्तियों और बुद्धिमानो के अनुभव से सिद्ध कर दिखा दिया है कि इसी पर प्रमाद निर्भर है, अब इस पर इनकार वास्तव में शुद्धात्मा का इनकार है। और वह जो ईश्वर का अपराध करता है, क्षमा होगा; परन्तु वह जो शुद्धात्मा का अपराध करता है, कभी क्षमा नहीं किया जायगा। इसी को आत्म-हत्यारा अर्थात् आत्मा का तिरस्कार करने वाला कहते हैं।

(१११) वेद का मंत्र आज्ञा देता है कि वह जो अपने आत्मा का तिरस्कार करता है कि 'मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ, सेवक या दास हूँ" उन अंधतम लोकों को मर कर प्राप्त होता है जहाँ से फिर मुक्ति की आशा नहीं। स्मृतियों में भी आया है कि सब पापों का प्रायश्चित तो शास्त्र ने लिखा है, किंतु आत्मा के तिरस्कार का प्रायश्चित कहीं नहीं लिखा। इसलिये कदापि अपने आत्मा का तिरस्कार न करो ज्ञान होने पर तो अपने आप यह निश्चय जारी हो सकता है। जब ज्ञान भी न हो, तो कर्म और उपासना की रीति से यही निश्चय करो और यह

विश्वास पक्का करो कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सब में सब कुछ हूँ और मैं सब में और सब मुझ में हैं"। इसी उपासना के कारण मृत्यु में देवयान सड़क मिलेगी और ब्रह्म लोक में स्वयं ब्रह्मा जी उसे उपदेश करेंगे। उस समय वह इस उपासना का ज्ञान भी पावेगा।

(११२) उसको जो इसकी उपासना करता है, यदि कोई बात बाधक न हो और यहां ही विचार करने और महात्माओं के सत्संग से ज्ञान हो जाय, तो प्रत्यक्ष मुक्ति है। और जिसको किसी रुकावट के कारण ज्ञान न हो, तो मृत्यु में उसके निकट यमदूत नहीं आ सकते, वरन् भाग जाते हैं। क्योंकि वास्तव में सिद्ध हुआ है कि यही सब का मालिक है। किंतु अपने आप को जानता नहीं, इसलिये संसारी होता है। पर जब नहीं जानता और उसकी उपासना करता है, तो यद्यपि बर्राट मारता है, तो भी यम तो भाग जाता है।

(११३) उदाहरणतः कल्पना करो कि किसी घर में चोर लगे और घर वाला सोता हुआ बर्राट मारता हो कि "चोर चोर," तो चोर यह नहीं निश्चय करता कि यह जागता है या योंही बर्राट मारता है, बरन यह बात सुनते ही भाग जाता है। इसी तरह "मैं ब्रह्म हूँ," वह जो अनजान होकर भी यही निश्चय करता है यम तो यह विवेचना नहीं करता कि समझ से कहता है या नासमझी से कहता है, बरन यह निश्चय सुनते ही भाग जाता है। इसलिये यही नियत हुआ है कि इसी निश्चय पर मुक्ति निर्भर है और यही निश्चय प्रसाद में प्रविष्ट करता है।

(११४) ऐ भाइयो! सब कोई मैदान में घोड़ा दौड़ाता है, बाज़ी किसी एक के नाम होती है, सब कोई अखाड़े में कुश्ती लड़ता है, परंतु पटका कोई एक ही पाता है। परंतु प्रत्येक घोड़दौड़ में अश्वारोही (शहस्वार) खयाल होता है, और प्रत्येक अखाड़े में पहलवान निश्चय होता है और प्रत्येक अपने

अपने पद के अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५) आप भी इस निश्चय के क्षेत्र में घोड़ा दौड़ाएँ और इस अखाड़े में लड़ें। यदि बाज़ी मार ली, तो यहां ही पटका आप का है, यदि बाज़ी नहीं मिली. तो देवयान सड़क तो यों ही पारितोषिक में विद्यमान है। और स्वयं ब्रह्मा इसकी शिक्षा देगा और प्रत्यक्ष आत्मा दिखला देगा। यही वेदों का वादा है किंतु धन्यवाद है कि हम तो बाजी ले गए और आजकल पटका हमारे नाम है, अब ज्ञानकांड में भाषाविदों के लिये इतना हम यथेष्ट समझते हैं। वह जो इसे पढ़ता, सुनता, विचार करता और विश्वास करता है, प्रत्यक्ष मोक्ष पाता है। तथास्तु इति शम्।



३-बंध और मोक्ष।

पहला अध्याय।

(१) वामदेव की कहानी में तुम सुन चुके हो कि मनुष्य में दो ब्रह्म प्रविष्ट हुए हैं, किंतु भाषा जानने वाला एक ही आत्मा अपने में पाता है। इसमें कर्त्ता भोक्ता जीव और साक्षी आत्मा का अंतर नहीं करता, इसलिये मुक्त नहीं होता, वरन् उपासना के बंधन में रहता है। इस कारण इस प्रकरण में उनका भली भांति अंतर किया जाता है जिससे वह कर्त्ता भोक्ता के पद से अकर्त्ता अभोक्ता वा साक्षी के पद में प्रवेश पावे और संसार के बंधन से मुक्त हो जावे।

(२) अब यों समझो कि मनुष्य के भीतर जो आत्मा है, वह दो आत्माओं से मिल कर एक हुई है। एक आत्मा तो करने की आत्मा है, दूसरी आत्मा देखने की आत्मा है। वह जो करती है देखती नहीं, वह जो देखती है करती नहीं। किंतु करने की आत्मा देखने की आत्मा में प्रति भासित हुई है, और देखने की आत्मा करने की आत्मा में प्रति भासित हुई है। इस प्रकार परस्पर अवभास वा प्रदर्शन के कारण एक होकर दिखाई देती है। उसका करना और इसका देखना एक दूसरे में प्रतिभासित और कर्त्ता-भोक्ता संसारी (जीव) है। इसी को बंध बोलते हैं और बंध को संस्कृत भाषा में 'सगुण ब्रह्म' कहते हैं।

(३) जब विवेक से उन आत्माओं को अलग करके छाँट लिया जाता है और देखने की आत्मा को करने की आत्मा से पृथक् जान लिया जाता है, जो अपना आत्मा है, तो फिर

अकर्ता-अभोक्ता असंसारी होता है। यही देखने वाली आत्मा, जो अकर्ता अभोक्ता असंग समस्त गुणों से निर्लिप्त है, मुक्त कहलाती है, और इसी को संस्कृत भाषा में 'निर्गुण ब्रह्म' कहते हैं।

(४) और इस हेतु कि वह कर्त्ता भोक्ता आत्मा भी वास्तव में इस साक्षी आत्मा को छोड़ कर कुछ सत्ता नहीं रखता, बरन् उसी की छाया उसी का प्रकाश है, इसलिये वही पवित्र अपनी छाया में मिला हुआ बंध या सगुण कहलाता है और वही पवित्रात्मा अपनी छाया या प्रकाश से रहित चुना हुआ मुक्त या निर्गुण ब्रह्म कहलाता है। इस तरह वही सगुण वही निर्गुण है। वास्तव में दो नहीं, बरन् एक ही है; तो भी कर्त्ता और भोक्ता देखने मात्र उस की छाया में है, और उसी के स्वरूप में योंही कल्पित होता है। वास्तव में न तो वह कुछ कर्त्ता न कुछ भोक्ता है, ज्यों का त्यों द्रष्टा है, और योंही अनहुआ अभिनय (तमाशा) छाया की भांति उसे दिखाई देता है। जब यह अपने आप को पवित्र और साक्षी जानता है, तो फिर अभिनय भी नहीं होता। इसलिये वह सब मिथ्या कहलाता है।

(५) देखो, मनुष्य और मनुष्य की छाया दो नहीं होते, बरन् एक ही मनुष्य होता है। क्योंकि जब कोई मनुष्य को पाता है, तो यही निश्चय करता है कि हमने अकेला मनुष्य पाया, यद्यपि उस ने छाया को भी उस के साथ पाया है। पर छाया कुछ सत्ता नहीं रखती, इसलिये उस के साथ उसे नहीं गिनता। इसी तरह यह कर्त्ता भोक्ता आत्मा भी उसकी छाया या प्रकाश है, सिवाय उसके कुछ सत्ता नहीं रखती, तो भी विवेचना के समय कहा जा सकता है कि मनुष्य की छाया मनुष्य से भिन्न है। इसी तरह ज्ञानी भी उस को पृथक् विवेचना करते हैं और इसी विवेक पर प्रसाद अवलंबित है।

(६) अब यों समझो कि जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य

में प्रकट होती है और मनुष्य ही उस का प्रकाश-स्थान है, इसी प्रकार यह कर्त्ता भोक्ता आत्मा भी देखने की आत्मा में प्रकट हुई है, और यही देखने की आत्मा उस का प्रकाशस्थान (द्योतक) है। परंतु कर्त्ता भोक्ता आत्मा दर्पण की भाँति स्वच्छ भी है, इसलिये फिर देखने की आत्मा उस में उसी तरह प्रकट होती है जिस प्रकार दर्पण में मुख। इसी तरह पारस्परिक प्रदर्शन के कारण वह इस में और यह उस में प्रकट होकर एक हो गए हैं, इसलिये उस के धर्म इस में और इस के धर्म उस में प्रकट हुए हैं।

(७) अन्य का अन्य में दिखाई देना वास्तव में वस्तु का आभास है। और जो कुछ अन्य में दिखाई देता है उसे प्रकट कहा करते हैं, और जिसमें वह अन्य दिखाई देता है, उसे प्रकाश-स्थान या द्योतक बोला करते हैं। जैसे मुख दर्पण में दिखाई देता है, तो वास्तव में मुख भिन्न है और दर्पण भिन्न। किंतु भिन्न भिन्न में दिखाई देता है, इसलिये यों कहेंगे कि मुख दर्पण में प्रकट है और दर्पण उसका प्रकाशक (द्योतक) है।

(८) या कल्पना करो कि पानी में नीलापन दिखाई देता है, तो पानी प्रकाशक है और नीलापन उसमें प्रकाशित है। क्योंकि जब उसमें से कुछ पानी हाथ में उठा कर देखते हैं, तो सफेद होता है, नीला नहीं होता। अतः ज्ञात हुआ कि कुंड के जल में जो नीलिमा दिखाई देती है, अनहुई दिखाई देती है। इसलिये नीलिमा श्वेतता के समान जल का गुण नहीं, बरन् उस में उसी प्रकार प्रकट है जिस प्रकार दर्पण में मुख प्रकट होता है।

(९) बहुधा मनुष्य रज्जु में सर्प और सीप में रजत देखता है और यह सब को ज्ञात है कि सर्प वास्तव में रज्जु का गुण नहीं या रजत सीप का गुण नहीं, तो भी सर्प, जो रज्जु से भिन्न है, रज्जु में और रजत, जो सीप से भिन्न है, सीप में दिखाई देता है। इसलिये यों निश्चय करेंगे कि सर्प का रज्जु

में और रजत का सीप में आभास है और सर्प और रजत तो प्रकट हुए हैं और रज्जु और सीप उन के द्योतक हैं।

(१०) फिर यों समझो कि आभास दो प्रकार का होता है. या तो प्रकाश्य अपने प्रकाशक में ही दिखाई देता है, उस से बाहर पाया नहीं जाता। या उस से बाहर भी पाया जाता है और उस में भी दिखाई देता है। उस पहले को कल्पना या ख़्याल और दूसरे को प्रतिबिंब कहा करते हैं। सर्प का रज्जु में और रजत का सीप में प्रकाशन काल्पनिक है और दर्पण में मुख का प्रदर्शन प्रतिबिंबी है।

(११) क्योंकि रज्जु में सर्प या सीप में रजत जो दिखाई देती है, अपने प्रकाशक से बाहर पाई नहीं जाती, इसलिये काल्पनिक है। और दर्पण में जो मुँह दिखाई देता है, दर्पण से बाहर देखने वाले की गर्दन में भी पाया जाता है, इसलिये कह सकते हैं कि उसी का प्रतिबिंब दर्पण में दिखाई देता है।

(१२) और फिर ये (आभास) बहुत प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं तो केवल गुण का प्रतिबिंब या ख़याल होता है, कहीं-कहीं केवल गुणी (वस्तु) का। कहीं इस का उस में और उसका इस में प्रतिबिंब या ख़्याल होता है।

(१३) कल्पना करो कि एक स्फटिक का स्वच्छ ग्लास है और लाल मदिरा से परिपूर्ण है, तो यह ग्लास भी लाल निश्चित होगा। यहां ग्लास में केवल लालिमा (गुण) का प्रदर्शन है, गुणी का प्रदर्शन नहीं। क्योंकि ग्लास लाल है, ऐसा निश्चय होता है, यों नहीं निश्चय होता कि ग्लास मदिरा है। तो ज्ञात हुआ कि मदिरा जो है, वह तो ग्लास के भीतर है और उसका गुण ग्लास में प्रकट हो रहा है और भिन्न गुणों से गुणी हो रहा है।

(१४) देखो, श्वेत वस्त्र को जब हल्दी में रंग कर तैयार करते हैं, तो यों निश्चय होता है कि कपड़ा पीला है, यों नहीं कहा

जाता कि कपड़ा हल्दी है। अतः सिद्ध हुआ कि हरिद्रा के भिन्न पीलापन से वस्त्र पीत-सा हो रहा है, वास्तव में पीत नहीं; क्योंकि जब उसे फिर स्वच्छ करते हैं, तो फिर पीत नहीं होता, और उस का कारण यही है कि हरिद्रा के गुणों का उस में आभास है, गुणी (हरिद्रा) का आभास नहीं।

(१५) मरुस्थल में कभी-कभी रेत का जल दिखाई देता है, और वन की बालुका में यों निश्चय होता है कि यह पानी है, किंतु पानी का गुण जो भिगोना और ठंढा करना इत्यादि है, यहाँ नहीं होता और उसके गुण भी वहाँ नहीं पाए जाते, तो यहाँ बालुका में जल का आभास केवल गुणी का आभास है, गुणों का नहीं।

(१६) मनुष्य यों निश्चय करता है कि मैं अंधा और बौला हूँ, किंतु यह नहीं निश्चय करता कि मैं आँख हूँ या कान हूँ। देखो, अंधापन या बौलापन नेत्रों या कानों का हानिकारी गुण है, उनके गुणों का तो अपने आत्मा में आभास पाता है और गुणी का अपने में आभास नहीं पाता। तो यहाँ भी गुणों का प्रदर्शन है गुणी का नहीं।

(१७) फिर इस हेतु कि मनुष्य यों भी निश्चय करता है कि "मैं शरीर हूँ" और यों भी कह सकता है कि "शरीर मेरा है," तो यहाँ इस निश्चय में कि "मैं शरीर हूँ" गुणी का आभास है। किंतु "मेरा शरीर है" इस निश्चय से वास्तव में शरीर उस का भिन्न है जो उसके स्वामित्व और वाहन में यावज्जीवन आया है और फिर यह भी निश्चय कर सकता है कि "मैं शरीर हूँ" या "शरीर मैं हूँ," तो इस प्रकार पारस्परिक प्रदर्शन है क्योंकि आत्मा में शरीर और शरीर में आत्मा का आभास पाता है।

(१८) इस प्रकार बुद्धिमान् को चाहिए कि जहाँ-जहाँ जिस

जिस गुण या गुणी से आभास पाया जाय, वहाँ-वहाँ उसी गुण या गुणी से उस आभास का नाम नियत करके उसके अगणित भेद जान लेवे। जैसे हम कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में प्रकट है और रज्जु का अस्तित्व और लंबाई सर्प में प्रकट है; तो यहाँ रज्जु में सर्प के रूप का आभास है और सर्प में रज्जु के अस्तित्व का आभास है। इस प्रकार अस्तित्वहीन सर्प भिन्न अस्तित्व से विद्यमान होता है।

(१६) उपर्युक्त उदाहरण में सर्प की असलीयत (नाम रूप) तो काल्पनिक है, परंतु अस्तित्व प्रतिबिंबित है क्योंकि उसकी असलीयत रज्जु की असलीयत से भिन्न है और रज्जु में दिखाई देती है और रज्जु से बाहर पाई नहीं जाती। और यह नियत हो चुका है कि जहाँ अन्य का अन्य में आभास हो और वह उससे बाहर पाया न जाय, वह आभास काल्पनिक होता है। किंतु काल्पनिक मिथ्या होता है, कुछ अस्तित्व नहीं रखता, तो भी रज्जु का अस्तित्व भिन्न उसमें प्रकट होता है और उससे बाहर रज्जु में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार दर्पण में देखा हुआ मुख भी अपनी गर्दन पर स्थिर पाते हैं, तो इस कारण (रसन के) अस्तित्व का आभास सर्प में प्रतिबिंबित है।

(२०) इस के अतिरिक्त इस काल्पनिक सर्प में अपना परिमाण भी नहीं है। वह भी भिन्न रज्जु का परिमाण उसमें प्रकट हुआ है। क्योंकि जितनी रज्जु लंबी होती है, उतना ही सर्प भी लंबा दिखाई देता है। तो सिद्ध हुआ कि रज्जु की लंबाई वास्तव में प्रतिबिंब की भाँति सर्प की लंबाई दिखाई देती है। इस प्रकार काल्पनिक सर्प भिन्न अस्तित्व और भिन्न परिमाण से विद्यमान और लंबा चौड़ा पाया जाता है।

(२१) इस प्रकार भाषाविदों को प्रत्येक वस्तु की खोज में जिज्ञासु होना चाहिए, और विवेचना के समय युक्तियों से ज्ञान

लेना चाहिए कि इसमें कौन-कौन से गुण अपने हैं और कौन कौन से पराए हैं। वह जो किसी कारण से उस से भिन्न न हो सके, वह गुण तो इसके अपने होते हैं, वह जो उस से किसी प्रकार से पृथक् हो जायँ, वह भिन्न होते हैं। और ये सब के सब भिन्न धर्म क्या काल्पनिक क्या प्रतिबिंबी जब किसी में भासमान हों, तो हम उन्हें कल्पित के शब्द से निश्चय किया करते हैं।

(२२) अब उपर्युक्त उदाहरण में यों कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में कल्पित है और रज्जु की लंबाई और अस्तित्व सर्प में कल्पित है। और यहाँ हमारा तात्पर्य यह होता है कि वास्तव में रज्जु सर्प के नाम रूप से या सर्प रज्जु की लंबाई और अस्तित्व से लगावट नहीं पाता, बरन् जिस प्रकार रज्जु सर्प नहीं हो गया उसी तरह सर्प लंबा चौड़ा या विद्यमान भी नहीं हो गया। वास्तव में जिस प्रकार रज्जु सर्प की लगावट से बिलकुल निर्लिप्त है, उसी तरह उसका अस्तित्व और लंबाई भी उससे असंग है, यों ही अनहुई भ्रांत दिखाई देती है।

(२३) जब आभास और कल्पित की असलीयत ज्ञात हो गई, तो अब प्रयोजन की बात यह सिद्ध हुई कि हमारे भीतर एक आत्मा है जो देखती भी है और करती भी है, परंतु हम कहते हैं जो देखती है वह अलग है और जो करती है अर्थात् कर्त्ता भोक्ता है, वह अलग है। क्योंकि इस समय जो हम जागते हैं, तो देखना और करना एक ही में पाया जाता है, और नींद में जब सो जाते हैं, तो देखना नहीं होता और करना होता है। देखो, साँस चलते रहते हैं, नाड़ी फड़कती रहती है, भीतर अन्न पचता है। यह सब करने वाली आत्मा के निजी गुण हैं, और वह देखना उस का निजी गुण नहीं बरन् भिन्न है, जो प्रतिबिंब की भाँति उस में कल्पित प्रकट होता है।

(२४) फिर इस हेतु कि अब हम जागते हैं, तो देखना भी होता है और करना भी होता है। इसलिये निश्चय हुआ कि करना तो उस कर्त्ता भोक्ता आत्मा का अपना काम है, जो निद्रा में भी करती थी और अब भी पूर्ववत् काम करती है; पर उसका देखना अपना नहीं, बरन् पराया है, जो जाग्रत के समय उसमें कल्पित होना है। और फिर यों भी निश्चय करते हैं कि वह जो देखता है करता नहीं, बरन् इस के काम उस में यहां कल्पित होते हैं।

(२५) और देखने वाली आत्मा हमारा अपना आप है, क्योंकि जब हम घन सुषुप्ति में होते हैं, तो जानते हैं, कि हम आराम में हैं। करना वास्तव में कष्ट है और कुछ न करना ही आनन्द है। और इस हेतु कि हम आराम का अनुभव भी निद्रा में पाते हैं, हमारा देखना निजी गुण उस समय भी विनाश नहीं होता। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मा का केवल देखना अपना गुण है।

(२६) यह नहीं मान लेना चाहिये कि घन सुषुप्ति में हम आराम की दृष्टि नहीं रखते, क्योंकि जब हम जागते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम दूसरों से बेख़बर और अपने आराम में थे। और बिना अनुभव के निश्चय होता नहीं, इसलिये आवश्यक है कि जो बीती बात का निश्चय करता है, उस समय उसने उसे देखा है, नहीं तो वह उस समय निश्चय भी न करता।

(२७) यह बात सच है कि घनसुषुप्ति में यद्यपि हम दृष्टि रखते थे किंतु निश्चय नहीं, क्योंकि वहाँ हम अपने मन से अलग हो गए थे, और जब जाग्रत् में मन में आए, तो वहाँ की दृष्टि का निश्चय पाते हैं। इस बात से सिद्ध हुआ कि निश्चय तो आत्मा का धर्म नहीं, केवल दृष्टि उस का धर्म है, अपितु निश्चय मन का धर्म है और वह भी एक शाखा इसी कर्त्ता

भोक्ता आत्मा की है।

(२८) निश्चय भी वास्तव में एक मन की गति है, जो वास्तव में कर्त्ता है, और दृष्टि तो केवल अनुभव या ज्योति है जो गति नहीं। मन में भी जब यह आत्म-ज्योति आती है और निश्चय की गति में बदलती है, तो उसे भी अनुभव करता और देखता है. अन्यथा इस निश्चय का निश्चय हम किस प्रकार कर सकते? इसलिये आवश्यक है कि इस निश्चय को भी हमने उसी अपनी दृष्टि से देखा है। इसी कारण फिर निश्चय का निश्चय कर सकते हैं और फिर इस का भी निश्चय के पश्चात् निश्चय कर सकते हैं।

(२९) इन बातों से ज्ञात हो सकता है कि आत्मा की दृष्टि न तो जाग्रत् न स्वप्न न सुषुप्ति में अस्त होती है, क्योंकि सुषुप्ति में यद्यपि निश्चय नहीं रखता, तो भी अपने आराम और दूसरों की बेख़बरी की दृष्टि रखता है, और जाग्रत में उसका निश्चय पाता हुआ उस निश्चय की भी दृष्टि रखता है, और अन्य वस्तुओं की भी दृष्टि रखता है, और साथ ही उन का निश्चय भी पाता है, बरन् नेत्र में आया रूप की और कान में आया शब्द की दृष्टि और निश्चय रखता है। तो ज्ञात हुआ कि निश्चय तो मन का धर्म है, आत्मा का नहीं, केवल रूप का ग्रहण या शब्द का श्रवण चक्षु और श्रोत्र का काम है और वह सब आत्मा में कल्पित होते हैं।

(३०) आत्मा तो क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति में केवल दृष्टि रखता है, अतः जब सुषुप्ति में सब का अभाव और बेखबरी और अंधकार उस के सामने आता है, तो उन्हें भी बिना निश्चय देखता है, और अपना आनन्द भी उसे स्वतः प्राप्त है, क्योंकि जिस प्रकार दृष्टि उसका अपना आप है, उसी प्रकार आराम भी उसका अपना आप है। और जब जागता

है, तो भिन्न निश्चय और भिन्न समझें उस में जो वास्तव में अकर्ता है, अधिक आ जाती हैं। और उस दृष्टि से मिल कर वही समझें और पहचानें कहलाती हैं। फिर तो देखता और पहचानता प्रत्येक वस्तु से बुद्धिमान् कहलाता है।

(३१) यद्यपि जाग्रत् में अपनी दृष्टि से भिन्न समझें और निश्चय और विचार उसमें कल्पित आ जाते हैं, तो भी उसकी अपनी दृष्टि और अपने आराम का लोप नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उन भिन्न समझों, भिन्न निश्चयों और भिन्न विचारों से, जो वास्तव में मन के व्यापार हैं, कष्ट भी उस में कल्पित होता है। और यह स्पष्ट है कि व्यापार ही वास्तव में कष्ट है, और उस का आराम यद्यपि दृष्टि की भाँति अपना आप है, उस से कभी भी पृथक् नहीं होता, तो भी इस कष्ट में मिला हुआ पाता है, जैसे मिसरी और सिरका की बनाई हुई सिकंजबीन भी शुद्ध मिठाई नहीं होती, बरन् खट्टी-मिट्ठी प्रकट होती है

(३२) फिर जब सुषुप्ति में जाता है, तो अपने से भिन्न कष्ट। अपने आप उस से उतर जाता है। वहाँ तो अपने आराम को बिना कष्ट पाता है, इस लिये जागता हुआ निश्चय करता है कि मैं आनन्द में था। उसका तात्पर्य यह होता है कि वहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं रहा था। जाग्रत् में अपने से भिन्न कष्ट में आया हुआ भी यद्यपि वही आराम रखता है, पर कष्ट की मिलावट से उसे पाता हुआ भी नहीं पाता सा होता है, जैसा कि सिकंजबीन का चखने वाला मिठाई पाता हुआ भी नहीं पाता।

(३३) देखो, जब कोई इच्छित वस्तु होती है, और उसे नहीं पाता, तो उसकी इच्छा मन में पाता है। और यह इच्छा भी एक इंद्रियों की गति है, जो कष्ट है। और यह आनन्द जो उसका अपना आप है, उसमें गुप्त होता जाता है। किंतु जब वह चाही वस्तु किसी प्रकार से मिल जाती है, तो वह इच्छा

दूर हो जाती है, और वही अपना शुद्ध आनन्द बिना कष्ट के अपने भीतर पाता है। इस लिये उस वस्तु का मिल जाना वास्तव में कष्ट दूर होने का कारण है, न केवल कष्ट दूर होने का कारण है बरन् आराम के निश्चय का भी कारण है। और वही सुख का ज्ञान कहलती है। इस प्रकार इंद्रियों के सुख में अपने आराम को शुद्ध पाता हुआ उस वस्तु के कारण नया हर्ष मानता है, यद्यपि वह आनंद नहीं, एक मनका ऐंद्रिय व्यापार है, तो भी वह आराम के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं।

(३४) जिस प्रकार सिरका मिसरी के विरुद्ध है, उसी प्रकार माँग और लोभ भी अपने आनंद से विरुद्ध है। पर जिस प्रकार मैदा और घी मिसरी का विरोधी नहीं, बरन् उन से हलवा बनाया हुआ मिठास देता एक दूसरे की तरह स्वाद देता है, उसी तरह सुख की वृत्ति भी जो उसी मन की ऐंद्रिय गति है, अपने आनन्द की विरोधिनी नहीं अपितु अनुकूल है। और उससे और अपने आराम से बनाई गई मन की दशा आनन्द कहलाती है। तो भी जिस प्रकार हलवे में मिठास तो मिसरी की होती है, घी या मैदे की नहीं, इसी तरह खुशी में आनन्द तो अपने आराम का है, जो आत्मानन्द है, सुख रूप मन की गति तो वास्तव में उसी प्रकार फीकी है जिस तरह घी और मैदा भी वास्तव में फीका होता है, तो भी वह वस्तु की इच्छा की नाई प्रतिकूल नहीं बरन् अनुकूल है।

(३५) क्योंकि जिस प्रकार मैदा और घी हलवे की बनावट में मिसरी की मिठास की भी रोक नहीं करते, उसी तरह यह सुख की अवस्था भी अपने यथार्थ आनंद के प्रकाश में रोक नहीं करती, बरन् दर्पण की भाँति उसके प्रकाश में प्रकाशक हो जाती है। और वह तृष्णा तथा लोभ की दशाएँ तो सिरका की भांति उस के प्रकाश में विरोधक होती हैं, इसलिये अपना

वर्तमान आनंद भी यद्यपि अविनाशी है, पर प्रकट नहीं होता।

(३६) विषयों का भोगना दो प्रकार का है, या तो अनुकूल या प्रतिकूल। वह जो अनुकूल हैं उन के मिलने से तो मन की सुखरूप वृत्तियां उठती हैं और अपना आनंद उनमें प्रकट होता है; और प्रतिकूल मिलने से पीड़ा और दुख शोक रूप मानसिक वृत्तियां उठती हैं जो उस आराम को ढाँपती और उस के प्रकट होने को रोकती हैं। इसलिये अंतःकरण की वृत्ति भी दो प्रकार की है—कोमल या अकोमल। वह जो कोमल है, सुख रूप वृत्तियाँ हैं और वह जो अकोमल हैं, दुख रूप वृत्तियां हैं।

(३७) किंतु आराम तो उसका अपना आप है, जैसे कि दृष्टि भी उस का अपना आप है। और यह सब सुख-दुख-रूप वृतियाँ भी उसी प्रकार भिन्न भिन्न उसमें कल्पित हैं जैसा कि निश्चय व विचार-रूप भिन्न मनोवृत्तियाँ भी उस में कल्पित हैं। और यह सब उसी कर्त्ता भोक्ता आत्मा की शाखाएँ हैं जिसको पृथक दर्शाने का हम यत्न कर रहे हैं।

(३८) अनुकूल विषयों के मिलने से यद्यपि सुख और आनंद आ जाता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तो भी वह शुद्धानंद नहीं जैसा कि हलवा भी शुद्ध मिठाई नहीं; बरन् जिस प्रकार मैदा और घी का फीकापन भी उस में मिला हुआ है, उसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ भी इनमें कष्ट रूप मिली होती हैं, और फिर इस हेतु कि ये कर्त्ता भोक्ता आत्मा के व्यापार हैं, भिन्न हैं, अपने नहीं जो अभाव न हों। और यह आवश्यक है कि भिन्न अंत समय तक अपने पास नहीं रहता, बरन् अंततः पृथक् होता है और अभाव हो जाता है, इसलिये यह भी अनंत नहीं।

(३९) बरन् जिन विषयों के मिलने से यह वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं तक रहती हैं, और अधिक भोग के कारण चाहे विषय दूर भी न हों, तो भी चाव जाता रहता है, और उनकी

विद्यमानता में भी ये हर्ष और सुख की वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं, और उन विषयों की सम्हाल और पालन में अन्य अगणित कष्ट होते हैं, इसलिये नाशमान और तुच्छ (हेय) हैं। परंतु दूर होना या तिरोहित होना केवल उन अन्तःकरण की अवस्थाओं के धर्म हैं, जो मनोवृत्तियाँ हैं। वह अपना आराम जो उनमें प्रकट होता है, यद्यपि दूर या तिरोहित नहीं होता, तो भी प्रकट नहीं रहता, इसलिये मनुष्य विचार करता है कि मेरा आराम जाता रहा।

(४०) जैसा कि कोई दर्पण में अपना मुँह देखे और दर्पण के दूर होने से फिर न देखे, तो निश्चय करे कि मेरा मुँह नहीं रहा, यद्यपि मुँह तो उसका अपना आप कभी दूर नहीं होता, किंतु विना दर्पण वह प्रकट नहीं होता; इसी तरह सुख और आनंद की वृत्तियाँ जो कर्त्ता भोक्ता आत्मा की तरंगें हैं, दर्पण के समान होती हैं, और अपना आराम उनमें प्रकट होता है। जब ये वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं, तो वह प्रकट नहीं होता और देखने में मनुष्य समझता है कि मेरा आराम दूर हो गया, यद्यपि उसका आराम अपना आप है जो अनंत कालिक है और इसलिये वह आराम पाता हुआ भी नहीं पाता-सा होता है।

(४१) किंतु वह जो जानता है, वह नहीं पाता हुआ भी उसे पाता है, क्योंकि बुद्धिमान् जानता है कि जैसे दर्पण के अभाव से मेरे मुँह का अभाव नहीं हो जाता, ऐसे ही इन वृत्तियों के जाने से मेरा आराम भी, जो अपना आप है, नहीं चला जाता। हां यह अवश्य है कि वह प्रत्यक्ष नहीं रहा है, तो भी यदि प्रत्यक्ष करना उसका प्राप्तव्य हो, तो विषयों के अतिरिक्त अन्य कारण से भी हो सकता है। और वह यों है कि विषयों का लोभ उनके दोष के स्मरण से उखाड़ दे, जैसे जब संन्यासी का लोभ किसी विषयों में नहीं रहता और भोजन भिक्षा पर संतोष करता है,

तो फिर विषय के मिलने या न मिलने से सुख या दुख नहीं पाता, बरन् एकाँत में एकाँतस्थित होकर नेत्र मूंद कर उन सब मनोवृत्तियों को रोकता है।

(४२) जब अभ्यास से उसकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और किसी निश्चय या विचार या सुख वा दुःख की वृत्ति में भी मन मौज नहीं मारता, तो स्वयं मन भी स्वच्छ दर्पण की भाँति हो जाता है, और वही अपना आनंद उसमें प्रकट होता है, और अपनी दृष्टि भी उस में प्रकट होती है। उस समय शुद्धानंद प्रत्यक्ष प्रकट पाता है जो परमानंद कहलाता है, और इसी को साधारण लोग समाधि कहते हैं।

(४३) विषयों के मिलने से तो बिजली की तरह सुख और आनंद की वृत्तियाँ उठती हैं और बिजली की तरह आराम प्रकट होता है। पर समाधि में बिना विषयों के जब मन स्थिर हो जाता है, तो उसी तरह यह आनंद प्रकट होता है जैसे कि जल-पूर्ण कुंड में जब निर्मल जल स्थिर होता है और सूर्य अपने आप उस में दिखाई देता है। विषयों के भोग से सुख तो पलक झलक में पाता था, यहाँ जब तक वह मनको रोके रखता है, तब तक पाता है। और वहाँ शुद्धाराम नहीं पाता क्योंकि लहरों में भी यद्यपि सूर्य का चमकारा झाँकी देता है, तो भी पूरे सूर्य की झाँकी नहीं होती, बरन् आँख को उसकी झलक दिखाई देती है। यहां स्थिर जल में तो उसकी पूरी झाँकी होती है और उसे देर तक पाता है।

(४४) फिर इस हेतु कि विषयों का मिलना उसके अधिकार में नहीं होता, बरन् प्रारब्ध पर होता है और यहाँ तो मन का रोकना अपने अधिकार में होता है, जब चाहे उसे रोक सकता है, इसलिये वह तो विषयों की खोज में कष्ट उठाता भाँति-भाँति के दुख-शोक में ग्रस्त होता है फिर भी आवश्यक नहीं कि उसे

सफलता हो। और यह तो न कुछ प्रयत्न करता है न परिश्रम, बरन् मुफ़्त पाता है।

(४५) फिर विषयों के अगणित भेद हैं, और प्रत्येक के कारण भाँति-भाँति की अवस्थाएँ अपने से भिन्न (कर्त्ता भोक्ता) आत्मा में उठती हैं, और उनके धर्मों से मिला हुआ यह आराम भी विविध भाँति का प्रकट होता है। देखो भोजन के आनंद और, पहनने के आनंद और, तथा स्त्रियों के आनंद और हैं। और उन का उदाहरण उसी तरह है जैसे जलेबी का स्वाद, लड्डू का स्वाद और शकरपारे का स्वाद भिन्न २ है। पर बुद्धिमान् जानते हैं कि एक ही मिसरी जलेबी, लड्डू और शकरपारे में आई हुई दूसरी प्रकार की मिठास देती है।

(४६) इसी तरह यही अपना आराम खाने, पहनने और स्त्रियों में विविध भाँति का हो कर प्रकट होता है, पर वह जिस को शुद्ध मिसरी मिलती है सब के स्वाद का आनंद उड़ा ले जाता है। इसी तरह समाधि में जो व्यक्ति शुद्धानंद विना विषयों के पाता है, सब का आनंद मुफ़्त उड़ा ले जाता है।

(४७) अनजान मनुष्य जानता है कि खाने के आनंद खाने में, पहनने के आनंद पहनने में और स्त्रियों के आनंद स्त्रियों में हैं, कदापि नहीं। क्योंकि ये सब विषय किसी कारण से उस कर्त्ता भोक्ता आत्मा की तरंगों के कारण होते हैं, और जब उन में यह तरंगें भीतर होती हैं, तो यही अपना आनंद उनमें टपकता है। अनजान जानता है कि खाने या पहनने या स्त्री से आनंद आया, यह उनका आनंद है।

(४८) किंतु थोड़ा विचार करे तो उसकी शुद्धता हो जाय। और वह सोच सकता है बरन् अनुभव कर सकता है कि जब प्यास न हो, तो पानी अच्छा नहीं लगता; भूख न हो तो भोजन आनंद नहीं देता; काम न हो तो स्त्री कुछ भी आनंद नहीं देती;

वरन् बहुधा जब तीक्ष्ण ज्वर होता है, तो अच्छे भोजन कड़वे होते हैं और स्त्रियों की चटक मटक बुरी लगती है; नपुंसक मनुष्य स्त्री की निकटता से कुछ भी आनंद नहीं पाता। तो ज्ञात हुआ कि न तो भोजनों में न वस्त्रों में और न स्त्रियों के सहवास में आनंद है, आनंद तो अपने आप में है। ये सब (विषय) किसी विशेष कारण से उन वृत्तियों की तरंगों के लिये हेतु हैं। जब वह वृत्तियां उठती हैं, तो अपना आनंद उन में प्रकट हुआ विविध रूपों में आनंद वाला हो जाता है।

(४९) विवेचना करने से सिद्ध हुआ है कि जब वीर्य का आवेग होता है और युवावस्था का स्वास्थ्य होता है, तो वीर्य के स्रोत में एक गुदगुदी होती है जिसमें वह शुक्रपात करे और यह गुदगुदी उसी प्रकार की वेदना या कष्ट है जो गर्भिणी स्त्री को बच्चा प्रसव करते समय होती है। क्योंकि हम लिख चुके हैं कि बच्चा वीर्य रूप होकर पहले पिता में गर्भित होता है और माता के उदर में सींचा हुआ पहला जन्म पाता है और स्त्री में बोया जाता है। तो स्पष्ट है कि जिस तरह स्त्री का गर्भ निकलने की चेष्टा करता है और उसे कष्ट देता है और उसके पूर्ण करने के लिये दाया की आवश्यकता होती है, उसी तरह पुरुष में भी जब वह जन्म चाहता है, तो उसके वीर्य-स्रोत में गुदगुदी करता है और स्त्री की मांग करता है जो उसे पूर्ण कर सकती है।

(५०) पर स्त्री की कुक्षि में इस वेदना को प्रसव-पीड़ा बोलते हैं और पुरुष में इसी को कामोत्तेजन कहते हैं। वास्तव में यह कष्ट एक ही प्रकार का है। फिर स्त्री में भी आर्तव के पश्चात् वीर्य के ग्रहण की इच्छा उसी तरह होती है जैसा कि क्षुधा के समय भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और इस ग्रहण की इच्छा को भी काम (वा विषय-वासना) बोलते हैं, और वह स्त्री भी इस इच्छा के पूरा होने के लिये पुरुषको चाहती है।

(५१) जब कभी ऐसे इच्छुकों का संयोग होता है और कोई शास्त्री बात निषेधक भी नहीं होती, तो वे दोनों अपनी-अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिये एकत्र हो जाते हैं। वह तो इस की इच्छा को और यह उसकी इच्छा को पूरा करते हैं। और यह इच्छा ही दुख रूप थी। इस प्रकार जब दोनों की इच्छा पूरी होती है, तो दुख रूप वृत्ति तो शाँत हो जाती है और उस शाँत वृत्ति में वही अपना अविनाशी आनंद प्रकट होता है, परंतु अनजान उसे अपना आनंद नहीं जानते, बरन् पुरुष तो अपने आराम को अपनी शांत वृत्ति में पाता हुआ स्त्री का आनंद समझता है, और स्त्री अपने आराम को अपनी शांत वृत्ति में पाती हुई पुरुष का आनंद मानती है। यही भ्रांति है।

(५२) क्योंकि स्त्री जो आनंद पाती है अपना पाती है, किंतु पुरुष उसकी इच्छा की शांति का कारण है। वैसा ही पुरुष जो आनंद पाता है, वह अपना ही आनंद पाता है, स्त्री तो उसकी इच्छा को पूरा करने के लिये उसकी शांति का कारण है, किस प्रकार हो सकता है कि पुरुष का आनंद स्त्री से और स्त्री का आनंद पुरुष से मिलाप पावे? हां, जब वह एक दूसरे की शांति के सहायक होते हैं, तो निश्चय होता है कि पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से आनंद आता है। किंतु इसके अर्थ यह हैं कि स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के अपने-अपने आराम के प्रकट होने में सहायक हैं।

(५३) देखो जब स्त्री को इच्छा नहीं होती, तो पुरुष यद्यपि उसे पकड़ता है पर वह भाग जाती है। और पुरुष भी जब इच्छा नहीं रखता, तो स्त्री कैसा ही हास-विलास करे कुछ ध्यान नहीं करता, क्योंकि उस समय दूसरे कारण से उन्हें शांति है और निजानंद उन में टपकता है। हम पशुओं की ओर दृष्टि करते हैं, तो अनुभव से उनमें भी यही बात पाई जाती है। तो बात

हुआ कि विषयों के आनंद में दुख और क्लेश पहले है और उन्हीं के दूर करने के लिये विषय की चाहना है। जब वह दूर होते हैं, तो अपनी-अपनी शांत-वृति में अपने ही आराम की झलक प्रकट होती है, विषयों में कुछ भी आनंद नहीं है।

(५४) क्योंकि जब तक वह भूख या प्यास-रूपी पीड़ाओं में बद्ध नहीं होता, तो खान-पान की वस्तुओं से स्वाद नहीं पाता। और जब स्त्री की कुक्षि भी वीर्य रूप आहार से भूखी नहीं होती, तो वह भी पुरुष से आनन्द नहीं पाती, और पुरुष भी जब तक अपने वीर्य-स्रोत में गुदगुदी की पीड़ा में ग्रस्त नहीं होता, स्त्री से आनन्द नहीं पाता। इस कारण सिद्ध होता है कि विषयों का आनंद विशुद्ध नहीं, बरन् पीड़ा और कष्ट में मिला हुआ है। जो कोई उनसे स्वाद ढूंढता है, साथ ही पीड़ा और कष्ट को ढूंढता है।

(५५) और भी बहुत से कारण हैं जिनसे सिद्ध हो सकता है कि विषयानन्द के आरंभ और अंत में बड़े बड़े दुख और पीड़ा हैं, क्योंकि खाने-पीने की वस्तुओं से जो आनंद है, आरंभ में तो भूख और प्यास-रूप दुख है और अंत में दुर्बलता और अजीर्ण है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के एकत्र होने में भी आरंभ में तो वीर्य की गुदगुदी और वीर्य-ग्रहण की इच्छा है, और अंत में स्त्री को गर्भ के कष्ट और पुरुष को दुर्बलता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र के विरुद्ध बात हो, तो लोक और परलोक के पाप होते हैं जिसमें लोक और परलोक के दंड मिलते हैं। इस लिये बुद्धिमान् उसे विषयों से नहीं, बरन् दूसरे कारणों से, जो अपने अधिकार में और शास्त्रीय हैं, चाहते और पाते हैं, और इन विषयों में दोष देखते हुए ध्यान नहीं करते।

(५६) कदाचित् भाषाविद् यों पूछे कि ये आनंद दूसरे प्रकार से भी विना विषयों के किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं

तो हम कहते हैं, यह संभव है, क्योंकि आवश्यक नहीं है कि स्त्री के सहवास से ही मनुष्य को वह आनंद आता है जो भोग में है। इस लिये वह आनन्द असली स्त्री का नहीं बरन् अपना है, और जिस प्रकार हो सके वही शाँन-वृत्ति उसके लिये आवश्यक है। देखो युवा पुरुष जब स्त्री के प्रसंग की इच्छा पाता है, और वह नहीं मिलती, तो स्वप्न में काल्पनिक स्त्री से प्रसंग करके वही शाँति पाता है और वही आनंद उठाता है। वहाँ स्त्री तो नहीं होती, अपना ही ख्याल होता है, और वीर्य-पात के कारण रिक्त भी हो जाता है। अतः किस प्रकार विश्वास हो कि विना स्त्री के हम वह आनंद नहीं पाते।

(५७) बरन् ध्यान से सोचें तो वहाँ आरंभ में गुदगुदी वीर्य की पीड़ा है और जब उसकी शांति के लिये स्त्री से प्रसंग करना है, तो चाह के कारण उस का चित्त एकाग्र होता है और यहां तक चित्त एकाग्र होता है कि उसे कुछ भी नहीं सूझता, एक अँधेरी सी आ जाती है, जिससे समस्त वृत्तियां फिरु जाती हैं, और जब वीर्य निकल जाता है, तो फिर शक्तिहीन हो जाता है और स्त्री को नहीं चाहता। तो ज्ञात हुआ कि न तो वीर्य की गुदगुदी में आनन्द है न निकलने में, बरन् पीड़ा और दुर्बलता है।

(५८) हां, भोग के समय जो वह आनंद पाता है उसमें अवश्य वक्तव्य है। यहां हमको सोचना चाहिये कि उसकी सत्यता क्या है ? हमने जहां तक सोचा और श्रुतियों से ज्ञात किया तो यही पाया कि वास्तव में भोग में कुछ आनन्द नहीं, बरन् भोग प्राकृतिक बात है जिससे मन की दूसरी वृत्तियां उसके अँधेरे में रुक जाती हैं, और एकाग्र चित्त के कारण मन पूर्ण रुक जाता है, जैसा कि योग में भी योगी का मन पूर्ण स्थिर होता है और वही अपना आनंद उसमें पूरा-पूरा विराजमान

होता है जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है।

(५९) इस प्रकार चित्त के एकाग्र होने के कारण (चाहे वह भोग से स्वाभाविक रीति से हो, चाहे वह योग के द्वारा संकल्प की रीति से हो) बराबर दोनों की चित्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं, किसी बात में मन तरंग नहीं मारता है, और शान्त आत्मा का पूरा प्रतिबिंब ग्रहण करता है। भोगी तो उसे भोग में और योगी योग में पा जाता है। वही आनन्द जो भोगी स्त्री के भोग में पाता है, वही आनंद योगी बिना स्त्री की सहायता के योग में मुफ़्त उठाता है।

(६०) वरन् भोगी तो दुख-शोक और दुर्बलता से मिला हुआ पाता है, योगी न तो वीर्य की गुदगुदी के आरंभ में वेदना रखता है, न अङ्ग में दुर्बलता पाता है, अपितु अपेक्षाकृत शुद्ध पाता है। और फिर भोगी तो जब तक वीर्य नहीं निकलता पाता है, और वीर्य का पतन उस के अधिकार में नहीं वरन् बल के अधिकार में है, और योगी का योग तो उस के संकल्प के अधिकार में है, इसलिए भी अन्तर है। और यह स्पष्ट है कि जो उस आनन्द में अधिकार नहीं रखता कि जहाँ तक चाहे पावे, स्वाधीन की अपेक्षा दोषी है, पूर्ण नहीं। इस लिए भोगी का भोग दोषपूर्ण और योगी का योग पूर्ण है।

(६१) इस बात में तर्क नहीं करना चाहिये कि भोग के समय ही भोगी को आनंद है, क्योंकि हम युवकों को देखते हैं कि वैद्यों से स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की ओषधियाँ मांगते हैं और सिद्ध करते हैं कि भोग तक ही आनंद है, और वह चाहते हैं कि अधिक समय तक रहे, पर ऐसा नहीं हो सकता।

(६२) क्या वह उष्ट्र आदि पशुओं की समता करना नहीं चाहते जो स्तम्भन (वीर्यपुष्टि) की इच्छा करते हैं? ऐ भाइयो! भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, मनुष्यों का गुण नहीं।

जो जिसका गुण होता है उसी में पूर्ण होता है। उसे तो योग में गति नहीं, इसलिये प्रकृति ने उसे भोग की पूर्ण शक्ति दी है। तुम्हें तो योग में मार्ग है जिसके कारण वह पूर्णानन्द प्राप्त हो सकता है। भोग का मार्ग संक्षेप में तो संतति के लिये पैत्रिक ऋण में मिला है जिस से शास्त्र विधान से बंश भी बढ़ावें और योग के द्वारा शुद्ध आनन्द जहां तक चाहें उड़ावें। फिर वह जो उसे नहीं पाते, भोग में पशुओं से सम्मिलित होते हैं, उन्हें मानुषी जन्म से क्या लाभ है? आकृति में यद्यपि मनुष्य हैं, स्वभाव में वही पशु हैं।

(६३) हम और भी कारण रखते हैं कि स्त्री के भोग और योगी के योग में एक ही आनन्द है, बरन् योगी उस से बढ़ जाता है। क्योंकि हम कह चुके हैं कि जिस क़दर स्त्री के भोग में काम की शक्ति से एकाग्रता और अँधेरे के कारण बेखबरी होती है, उतना ही आनन्द अधिक होता है। देखो मद्यपी मद्य पीकर नशे में भोग करता हुआ अधिक आनन्द पाता है। इस का कारण यह है कि मदिरा एक अँधेरी लाती बेख़बरी दिलाती है, उसी को सर्व साधारण नशा बोलते हैं। और काम भी भोग में काम मय अँधेरा लाता है और नशा उसे दूना करता है और अधिक बेख़बरी होती है। इसी कारण भोग में आनंद भी अधिक होता है तो ज्ञात हुआ कि जितनी बेखबरी अधिक, उतना ही आनन्द अधिक होता है। और बेख़बरी वास्तव में मन का निरोध है, तो यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार मन का निरोध अधिक होता है, उतना ही अपने आत्मा का प्रतिबिंब पूरा पूरा पड़ता है, और योग और भोग में भी मन का निरोध है।

(६४) मैं सच कहता हूँ कि मदिरा भी कुछ नहीं करती, बरन् प्राणों को रोकती है और उन के रुकने से मनोवृत्तियां

भी रुकती है। उसे सर्वसाधारण नशा बोलते हैं। जितना वह अधिक करते हैं, उतना ही मन अधिक रुकता जाता है, यहाँ तक कि अन्ततः वह अचेत हो जाते हैं और शरीर तक की भी खबर नहीं पाते। और हम देखते हैं कि मदिरा पीते समय मूर्ख जब तक अचेत नहीं हो जाते, प्याले पर प्याला मांगते हैं। अतः स्पष्ट हुआ कि ज्यों-ज्यों बेखबरी होती जाती है, त्यों-त्यों वह आनन्द में उन्नति पाते जाते हैं। ये लोग भी यदि मन का निरोध नहीं चाहते तो और क्या चाहते हैं? और मन के निरोध पर ही पूर्णानन्द नहीं, तो किस में है? और यह भी स्पष्ट है कि जैसा योग में मन रुकता है, वैसा मदिरा और स्त्री-भोग में नहीं रुकता। और फिर मदिरा और भोग में यद्यपि मन रुकता है, परंतु गँदला होता है, शुद्ध नहीं होता। योग में तो केवल सतोगुण से स्वच्छ जल की तरह होता है।

(६५) और यह स्पष्ट है कि 'कुण्ड का जल यद्यपि स्थिर है, पर निर्मल जल में जो सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता है, वैसा गँदले में नहीं पड़ता। मदिरा और भोग में रजोगुण और तमोगुण की मिलावट रहती है, योग में केवल सतोगुण। इसलिये स्त्री और मद्य का भोग जो आनन्द देता है वह मैला और गँदला है, और योग का निर्मल। इसलिये भोग में यद्यपि आनन्द है, पर योग में परमानन्द है, और वह अपना आप जो स्थिर और निर्मल मन ही में प्रकट होता है, चाहे वह विषयों के द्वारा हो, चाहे वह योग से हो।

(६६) इसलिये ज्ञात हुआ कि विषयों में भी इसी परमानंद बिंदु हैं जो किसी कारण से उन के भोगों में भोगे जाते हैं। और वह जो अनजान हैं, उन्हीं बिंदुओं पर अपनी जान खोते हैं, जैसे कुत्ते भी हड्डी पर लड़ते हैं, पर परमानन्द तो मुक्त योगी उड़ाते हैं। न तो उन्हें उस में कोई झगड़ा है, न कोई कष्ट

न कोई अनधिकारिता। इसलिये शास्त्र मनुष्य को विषयोंसे रोकता और परमानंद की ओर आकर्षित करता है, क्योंकि इस में इस के पाने की योग्यता है। परंतु पशुओं में तो इस के पाने का मार्ग भी नहीं, वह तो उन्हीं बिंदुओं को पाते जीवन करते हैं, इसलिये उन्हें शास्त्रीय कष्ट है।

(६७) अब सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार देखने की आत्मा केवल देखना अपना निजी गुण रखती है, उसी तरह परमानंद भी उसका निजी गुण है और दुख-सुख रूप वृत्तियाँ तो उस में भिन्न रूप कल्पित हैं, जैसे रज्जु में सर्प, किंतु उस में भी उस का अस्तित्व और आनंद उस प्रकार कल्पित है जैसे रज्जु का अस्तित्व भी सर्प में कल्पित होता है, या मुख दर्पण में प्रकट होता है, पर अस्तित्व तो क्या दुख क्या सुख सब में प्रकट है, और आराम केवल सुख रूप वृत्तियों में नहीं, इसलिये अनजान सुख रूप वृत्तियों को तो चाहता है, दुख रूप वृत्तियों से भागता है।

(६८) भाषा जानने वाला अनुभव से ज्ञात कर सकता है कि इसी के अस्तित्व से वह वृत्तियाँ सत्तावान् होती हैं, जैसे कि रज्जु के अस्तित्व से सर्प भी विद्यमान होता है, क्योंकि रज्जु यदि न हो, तो सर्प भी नहीं हो सकता, पर सर्प न हो तो यह नहीं कि रज्जु भी न हो। इसलिये ज्ञात हो सकता है कि सर्प का अस्तित्व अपना नहीं बरन् पराया रज्जु का उस में दिखाई देता है।

(६९) यहाँ भी यही दशा है। क्योंकि जब हम सुषुप्ति में जाते हैं, तो यह आत्मा मन से निकल कर हृदयाकाश में आराम पाता है, और ये समस्त वृत्तियाँ बरन् स्वयं मन भी फिर नहीं रहता, यदि वह होता, तो अपने काम करता। पर यहाँ न तो कुछ दुःख या सुख-रूप वृत्तियां और उन के निश्चय या

विचार रहते हैं और न इंद्रियां। यदि वह भी होतीं, तो आँख देखती, कान सुनता, जिह्वा बोलती। पर उस समय कोई भी उन के काम नहीं होते। तो ज्ञात हुआ कि इन सब में जाग्रत् काल में भिन्न अस्तित्व इसी आत्मा का था, और इसी के पृथक् होने से वह कुछ भी न रहे।

(७०) यद्यपि सुषुप्ति में न तो इंद्रिय न मन, और न उस की वृत्तियां रहती हैं, तो भी पञ्च प्राण विद्यमान होते हैं। क्योंकि सोया हुआ मनुष्य श्वास बराबर लेता है और भीतर नाड़ियाँ चलती रहती हैं और भोजन पचते रहते हैं, और यदि यह प्राण विद्यमान न रहते, तो यह काम भी बंद हो जाते। इस से ज्ञात हुआ कि वह सोच समझ रूप ज्ञान-इन्द्रियाँ तो जाती रहती हैं, और ये दूसरी कर्म करने की आत्माएँ (पञ्च प्राण) विद्यमान रहती हैं, जिस से शरीर की रक्षा और पालन रहे।

(७१) किंतु जिस प्रकार उस का अस्तित्व उन मानसिक अवस्थाओं में कल्पित है, उसी तरह इन पंच प्राणों में भी कल्पित है, उन का अपना नहीं है, क्योंकि अपना अस्तित्व अपना आप होता है, और अपना आप अपने से अलग नहीं हो सकता। यदि उन में अपना अस्तित्व होता, तो वह भी विद्यमान होते और शरीर में अनंत कालिक काम करते और शरीर का अनंत-कालिक जीवन होता; परंतु मृत्यु में ये सब जाते रहते हैं, इसलिये ज्ञात हुआ कि उन में भी अपना अस्तित्व नहीं वरन् भिन्न है, क्योंकि भिन्न अनंत-काल तक पास नहीं रहता, अंततः पृथक् हो जाता है।

(७२) जीवन में भी उनमें दोष और हानि पाई जाती है। जब पाचन दूषित होता है, तो प्रायः उत्तम भोजन नहीं पचता। जब यौवन अवस्था हो चुकती है, तो फिर अभिवृद्धि शक्ति काम नहीं करती, बरन् बुढ़ापे में शरीर घट कर जीर्ण हो जाता है।

और जो दोष या हानि वाले होते हैं, अपना अस्तित्व नहीं रखते। इस हेतु कि ये पँच प्राण भी दोष और हानि वाले हैं, अपना अस्तित्व नहीं रखते, बरन् भिन्न अस्तित्व उसी प्रकार पाते हैं जिस प्रकार श्वेत वस्त्र भी भिन्न लालिमा से रंगा हुआ लाल निश्चय होता है।

(७३) अब यों समझो कि वह ज्ञान-इन्द्रियां जिससे सत्ता वा अस्तित्व पाती हैं. उसी से प्राण भी अस्तित्व पाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी उसी प्राण का खंड है, जो कर्त्ता भोक्ता आत्मा कहलाती है। और ऊपर सिद्ध हो चुका है कि ज्ञान-इंद्रियां भी इसी आत्मा से कल्पित अस्तित्व पाती हैं. इसलिये इन (प्राणों) का अस्तित्व भी इसी आत्मा से उद्धार में आया है और कुछ समय तक ऋण में लिया गया है, और इनमें उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार कि अन्तःकरण में कल्पित है। परन्तु उन कर्मों की समाप्ति तक, जो इस जीवन के भोग देने के लिये उदय होते हैं, ऋण की भाँति क्या जागृत क्या स्वप्न क्या सुपुप्ति में वह प्रकट रहता है।

(७४) इस प्रकार के अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि यह देखने वाली अर्थात् साक्षी आत्मा वास्तव में दृष्टि रूप, आन्द रूप, अस्तित्व रूप है, और कोई भी आकृति या कर्म या निश्चय अपना नहीं रखता, बरन् ये सब बातें जाग्रत और स्वप्न में भिन्न धर्म की भाँति उसमें कल्पित होती हैं। अपने स्वरूप में वह अकर्ता, अभोक्ता, केवल द्रष्टा या साक्षी है। इसी आत्मा को संस्कृत में चेतन बोलते हैं, और देखना, आराम और अस्तित्व उसका अपना है, क्योंकि सुषुप्ति में भी विद्यमान है, दूर नहीं। और अपने आनंद में भी कोई भिन्न पीड़ा या दुख वहां नहीं देखता है, क्योंकि वहाँ सिवाय उसके दूसरा नहीं है जिसे देखे। और भिन्न निश्चय भी वहाँ नहीं रहा जिससे अपने आप को और

अपने सुख को और साथ ही दृष्टि को निश्चय करे।

(७५) परन्तु जब जाग्रत् होती है, तो भिन्न मन का निश्चय पाता है। उस समय अपनी सुषुप्ति की सत्यता को निश्चय करता है कि मैं आराम में था, दूसरा कोई भी मेरे साथ न था, इसी कारण अचेत और अनजान था। और यह स्पष्ट है कि जो देखा जाता है, उसी का निश्चय होना है। सुषुप्ति में वह अपना आनन्द देखता था, और यही प्रामण्य है।

(७६) अब पूछते हैं कि वह समझ और ज्ञान की वृत्तियाँ सुषुप्ति में कहां गई थी? तो तनिक विचार करने से जान सकता है कि सब इसमें उसी प्रकार लय हो गई थी जिस प्रकार सर्प का अस्तित्व भी रज्जु में लय हो जाता है और रज्जु ही रज्जु दिखाई देती है, सर्प कुछ भी नहीं दिखाई देता। किंतु जाग्रत् में जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं करता, तब तक ये क्रियायें उसी प्रकार प्रकट होती हैं जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रकट होता है, जबतक कि रज्जु प्रत्यक्ष नहीं करता।

(७७) वरन् ऐसा कह सकते हैं कि जाग्रत् में वह क्रियाएँ यों ही भासमान होती हैं जिस प्रकार सीप में रजत भासमान होता है। और यह पहले सिद्ध कर चुके हैं कि यह आत्मा स्वयं द्रष्टा है, और अब सिद्ध हुआ कि अन्य आत्माएँ केवल आभास मात्र हैं, इस कारण जाग्रत् और स्वप्न में जो संसार दिखाई देता है, केवल दृष्टिरेव सृष्टि है; दृष्टिरेव सृष्टि के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं। दृष्टि तो आत्मा है और सृष्टि जगत् है, जिसे संसार बोलते हैं।

(७८) जाग्रत् या स्वप्न में जो कुछ करना, पाना, दुख, सुख, कष्ट और आराम है, सब के सब दृश्य वा आभास होते हैं, और यह केवल दृष्टि रूप स्वयं उनमें आया हुआ परिच्छिन्न कहलाता है और यही सुषुप्ति में केवल दृष्टि विना दृश्य के मुक्त कहलाता

है, क्योंकि वहां वह किसी भी आभास के बंधन में नहीं है, वरन् अकेला पूर्ण मुक्त होता है। इस मुक्त को निर्गुण ब्रह्म और बद्ध को सगुण ब्रह्म बोलते हैं, क्योंकि गुण नाम संस्कृत में बन्धन का है। बंधन वाले को सगुण कहा करते हैं और बिना बंधन वाले को निर्गुण, जिसका अनुवाद सूफ़ी लोग 'मुतलक' करते हैं। और हम इसको मुक्त वा स्वतंत्र कहते हैं और उसको बद्ध वा परतंत्र।

(७९) इस कारण हम कह सकते हैं कि वही निर्गुण है और वही सगुण है, क्योंकि जब हम दृश्य में भी उसे केवल दृष्टि मात्र पाते हैं, वही अनंत कालिक स्वतंत्र है पर जब दृष्टि को सृष्टि के साथ तद्रूप निश्चय करते हैं, वही बद्ध है। और ये समस्त नाम रूप उसी के प्रकाश हैं, उसके सिवा कुछ सत्यता नहीं रखते। अपनी ही किरणों में आप ही प्रकाशित हुआ परिच्छिन्न वा बद्ध है। जब वह अपनी किरणों को अपने में लय करता है, वही पूर्ण स्वतंत्र वा मुक्त है।

(८०) यह प्राण भी उसी का प्रकाश और उसी की छाया है। छाया या प्रकाश न तो उससे भिन्न होता है और न वही होता है। भिन्न तो इसलिये नहीं कि इसका अस्तित्व बिना उसके नहीं है, और वही वह इसलिये नहीं कि यों ही कल्पना की तरह वह रज्जु में सर्प और सीप में रजत की भांति भिन्न विचित्रताएँ उसमें कल्पित करता है जो उससे लगाव नहीं पा सकते। इसलिये वास्तव में भिन्न है और तुच्छ है, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता।

(८१) अब यों समझो कि जिस प्रकार मनुष्य की छाया भी दीपक की गति से गति करती है, लंबी और छोटी होती है कभी दहिने और कभी बाएँ बदलती है; उसी तरह यह प्राणात्मा भी जो उसकी छाया है, कर्मों के बंधन में भांति-भांति

के रूप धारण करता है। पहले तो यह स्थूल और फिर सूक्ष्म हो जाता है। इसकी स्थूलता तो सब तत्व शरीर और देहें हैं, और इस की सूक्ष्मता वही करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) है जो शरीरों में सब कुछ करती और भोग पाती है।

(८२) इसके समझने के लिये उत्तम है कि मनुष्य अपनी जिज्ञासा (छानबीन) करे, क्योंकि स्थाली पुलाक न्याय से जो कुछ इस करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) की विचित्रताएँ यहाँ (इस मनुष्य में) पाई जाती हैं, वही दूसरों में हैं। क्या ऊर्ध्व लोक क्या यहां, सब की सब इसी की शाखाएँ हैं और यह सब का मूल है।

(८३) अब यों समझो कि यह करने की आत्मा एक बड़ा राई का पेड़ है। जिस प्रकार राई का पेड़ बहुत छोटा-सा होता है, परन्तु जब बोया जाता है और फैलता है, तो सब से बड़ा पेड़ हो जाता है। इसी तरह यह (प्राण) भी मिथ्या अर्थात् तुच्छ है, वास्तविकता नहीं रखता, तो भी उस आत्मा के अस्तित्व में अस्तित्ववान् हुआ कर्मों के जल से हरा भरा हो कर संसार रूप अगणित शाखाओं में फैलता है।

(८४) इस प्राण का काम, जो करने की आत्मा है, दो प्रकार का है—या तो ज्ञान वाला है या ज्ञान-रहित। क्योंकि जब वह ऐसा काम करता है जिससे उसकी करतूतें समझ सोच और सूझ रूप होती हैं, तो वह ज्ञानात्मा कहलाता है, और जब उस के काम सोच समझ के नहीं होते, तो उसे शक्ति वा क्रिया की आत्मा बोलते हैं।

(८५) देखो, जब किसी बात के विषय में मन के भीतर स्मरण करते हैं, तो यह ज्ञान की आत्मा तरंग करती उन्हीं रूपों के अनुसार, जो स्मरण किए जाते हैं, बनती हुई हमारी अपनी दृष्टि के आगे उठती है और वही निश्चय वा ज्ञान की

वृत्तियाँ कहलाती है, और जब हम नेत्र खोल कर किसी वस्तु की ओर दृष्टि करते हैं, तो यही वृत्तियां सूर्य की करणों के समान नेत्रों द्वारा बाहर निकलती हैं और उस वस्तु पर लग कर उसी तरह उसकी आकृति पर बनती हुई उससे एक हो जाती हैं, जैसा कि सूर्य की किरणें भी किसी वस्तु पर पड़ती हुई उससे एक होती हैं।

(८६) जब ये मनोवृत्तियाँ आँख से निकलती हैं, और किसी वस्तु की आकृति धारण करती हुई उससे एक होती हैं, तो हमारी आत्म-दृष्टि के दिखाने का कारण होती हैं और इसी कारण इनको समझें (बुद्धियां) बोलते हैं। क्योंकि जब ये ज्ञान की वृत्तियाँ इस प्रकार काम नहीं करतीं, तो हमारी आत्म-दृष्टि में पहचान का वर्ताव नहीं होता। पर जब जानने और पहचानने के लिये उसमें काम करती हैं, तो कह सकते हैं कि हम इसे जानते और पहचानते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि जानना और पहचानना भी एक काम है जो हमारी दृष्टि में उन्हीं वृत्तियों के कारण कल्पित होता है, किंतु हम वास्तव में न तो जानते न पहचानते हैं, वरन् उस वस्तु को और उस जान-पहचान को भी एक साथ देखते हैं, क्योंकि देखना तो हमारा अपना है, किंतु जान-पहचान के वर्ताव हमारे अपने नहीं, वरन् इसी भिन्न करने वाली आत्मा (प्राण) के धर्म हैं।

(८७) जिस प्रकार नेत्र से मनोवृत्तियाँ निकलती हैं, उसी तरह कान से भी निकलती हैं, और शब्द की जान-पहचान का काम करती हैं, परंतु हम वास्तव में न तो शब्द को जानते और पहचानते हैं, वरन् शब्द और उसकी जान पहचान को अपनी आत्म-दृष्टि से केवल देखते हैं। और यह पहले लिख आए हैं कि निश्चय विना दृष्टि के नहीं होता, और हम स्पष्ट रूप से शब्द और उस की जान-पहचान का निश्चय करते दिखाई देते हैं, तो ज्ञात

हुआ कि हम शब्द को और उसकी जान-पहचान को अपनी आत्मा दृष्टि से केवल देखते हैं किंतु ये जान-पहचान के काम इसी भिन्न आत्मा के धर्म हैं जो हम में कल्पित हैं, वास्तव में हम तो केवल देखते हैं।

(८८) वह जो जान-पहचान का काम करती हैं, वास्तव में मनोवृत्तियाँ हैं और वही फिर स्मरण के समय भी हमारे भीतर पूर्ववत् जान-पहचान का काम करती हैं किंतु दूसरी शाखाएं भी मन से भिन्न निकलती हैं जो आँख कान, नाक में रहती हैं और जान-पहचान का काम नहीं करतीं, वरन् आँख में केंद्रित इन्द्रिय तो हमारी दृष्टि के लिये विशेष रूपों के दिखाने का साधन होती है, और कान की इन्द्रिय विशेष शब्द के सुनाने के लिये विशिष्ट होती है। यही कारण है कि नेत्र के द्वारा हम रूप तो देख सकते हैं और उसकी जान-पहचान भी कल्पित पाते हैं, परन्तु शब्द का श्रवण और उसकी जान पहचान नहीं पाते।

(८९) और फिर इस हेतु कि हम कान के मार्ग से शब्द का श्रवण और उसकी जान-पहचान पाते हैं, किंतु रूप का दर्शन और उसकी जान-पहचान नहीं पाते, तो ज्ञात हुआ कि आँख के रास्ते से सब जान-पहचान की वृत्तियाँ, जो मनोवृत्तियाँ हैं, निकलती हैं, तो साथ ही उनके आँख की इन्द्रिय भी किरण की तरह निकल उस वस्तु की आकृति होती हुई उस से एक होती है और उसी के दिखाने और जान-पहचान में विशिष्ट होती है। और ऐसे ही कान के मार्ग से जब जान-पहचान की वृत्तियाँ निकलती हैं, तो कान की इन्द्रिय भी किरण की तरह उन के साथ मित्र होकर निकलती है और शब्द का आकार होकर उससे एक होती है और उसके सुनाने और जान पहचान के लिये विशिष्ट होती है।

(९०) इस प्रका नेत्र में रूप के लिये, कर्ण में शब्द के लिये, जिह्वा में स्वाद के लिये, नासिका में गंध के लिये और त्वचा में शीतोष्ण के लिये पाँच भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ केंद्रित हैं जो इस करने वाली आत्मा (प्राण) की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं और और भाषाविद् उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। क्योंकि ये रूप, शब्द, गंध और स्पर्श के ज्ञान का विशेष काम करती हैं।

(९१) इनका काम यही है कि जब ये किसी वस्तु पर किरण की भाँति जा पड़ती हैं, तो उसके अज्ञान को उसी प्रकार दूर करती हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरण जिस पर जा पड़ती है उसके अँधेरे को दूर करती है। भौतिक अँधेरा एक ऐसी अवस्था है, जहाँ होता है, उसके अंशों को ढाँप लेता है, नेत्र को देखने नहीं देता। इसी तरह अज्ञान भी एक ऐसी अवस्था है कि हमारी आत्म-दृष्टि को उन्हें दिखाने नहीं देता, वरन् जिस प्रकार आँखों में अंधेरा छाया हुआ स्वयं ही दिखाई देता है, उसी प्रकार सबमें अज्ञान भी छाया हुआ है, और जब तक ये भिन्न इन्द्रियाँ अपना अपना काम नहीं करतीं, तब तक वह दूर भी नहीं होता और हमारी आत्म-दृष्टि में स्वयं ही दिखाई देता है।

(९२) यही कारण है जिस-जिस वस्त पर इन इन्द्रियों का काम नहीं हो जाता, हम तब तक उनका अज्ञान निश्चय करते हैं कि हम उसे नहीं जानते। किंतु जब किसी वस्तु में इन इन्द्रियों से हम बर्ताव कर चुकते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम उसे जानते पहचानते हैं। इस कारण ज्ञात हुआ कि ये इंद्रियाँ भी विशेष काम करती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अज्ञान दूर कर देती हैं। और जब इस प्रकार अज्ञान दूर हो जाता है, तो हमारी आत्म-दृष्टि उन्हें देखती है जिस प्रकार कि आँख भी जब सूर्य की किरण से किसी वस्तु का अंधेरा दूर हो जाता है, तो उसे देखती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि र्य सूकी किरण

प्रत्येक वस्तु का अंधेरा दूर करती है, पर उसे स्वयं नहीं देखती, इसी तरह आँख भी अज्ञान को दूर करती है, स्वयं नहीं देखती, वरन् देखता वही आत्मा है जो देखने वाला है, और वही हमारा आत्मा और वही साक्षी है।

(९३) अब विश्वास हो सकता है कि क्या मनोवृत्तियाँ, क्या ज्ञानेन्द्रियाँ, सब की सब अज्ञान के दूर करने के यंत्र हैं, स्वयं दृष्टि नहीं, और उसी तरह जड़ हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें। किंतु दर्पण की तरह स्वच्छ हैं और हमारी आत्म-साक्षी की द्योतक हैं। और आत्मा उन में प्रकट हुआ जहाँ-जहां वह अपना काम करती हैं उन को, उन के कामों को और उन वस्तुओं को भी, जिन में ये काम करती हैं- एक साथ देखता है। उस की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। जब वस्तु में अज्ञान होता है तो उन्हें अज्ञात देखता है, जब उन में ज्ञान-इंद्रियाँ काम करती हैं तो उन्हें ज्ञात देखता है। इसलिये जैसा वह होती हैं और जिस गुण से गुणवान् होती हैं वह उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशता है, और बे परवाह है।

(९४) अज्ञात के अर्थ न मालूम के हैं, ज्ञात के अर्थ मालूम के हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, उसे अज्ञात बोलते हैं, और जब इन मनोवृत्तियों वा ज्ञान की इंद्रियों से उस वस्तु का अज्ञान दूर होता है, जैसा कि वर्णन किया गया है, और फिर वह (वस्तु) ज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, तो उसे मालूम या ज्ञात बोला करते हैं। इस हेतु कि विद्या का गुण या ज्ञान का वर्ताव उस वस्तु में इन्हीं वृत्तियों के कारण होता है, इसलिये वास्तव में यही मनोवृत्तियां और इंद्रियों की किरणें ज्ञान या समझ का तत्व हैं। वह साक्ष जो दृष्टि रूप और कूटस्थ है, स्वयं बुद्धि नहीं, वरन् उन में बद्ध हुआ बुद्धिमान् कहलाता है।

(६५) पाश्चात्य विद्वान् जो आज कल तत्वज्ञान का दावा करते हैं, इस समझ की आत्मा (विज्ञान) को और इस साक्षी को नहीं जानते। यद्यपि वह अपनी बुद्धि को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह बुद्धिमान् कहलाते हैं, तो भी वह इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं कि यह आत्मा भिन्न है, और वह भिन्न। बरन् कुछ तो केवल मस्तिष्क का गुण मानते हैं जो कुछ भी कारण नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि इन दोनों आत्माओं की स्पष्टता मन और मस्तिष्क की स्वस्थता में होती है, इसलिये इस संबंध के कारण उन को भ्रांति होती है कि यह मस्तिष्क का धर्म है! यह उसी प्रकार का भ्रम है जैसा कि स्फटिक का श्वेत ग्लास लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चय होता है। इन मनोवृत्तियों का द्योतक वास्तव में मस्तिष्क है और उन के धर्म मस्तिष्क में उसी तरह दिखाई देते हैं, जैसे मदिरा की लाली ग्लास में दिखाई देती है।

(९६) यदि तनिक भी बिचार करें और अपने तत्वज्ञान को छोड़ दें, तो तत्काल इस विज्ञान के, जो समझ की आत्मा है, क़ायल हो जायँ। क्योंकि यह नियम है कि जो जिस का स्वाभाविक गुण होता है, वह कभी भी उस से पृथक् नहीं होता; बरन् वही पृथक् होता है, जो भिन्न होता है। सुषुप्ति में मस्तिष्क स्वस्थ भी होता है, परंतु ये समझें उस समय उस में नहीं होतीं और जाग्रत् में जब निर्विकल्प समाधि होती है, तो भी मस्तिष्क इन से रहित होता है किंतु जब समाधि और सुषुप्ति से हम निकलते हैं, तो फिर इन्हें मस्तिष्क में पाते हैं।

(९७) निस्संदेह समझ की वृत्तियाँ हमारी जान पहचान के शस्त्र हैं और मस्तिष्क उन का बर्तन है, जहाँ उन्हें हम रखते और उन का बर्ताव करते हैं। और स्वप्न के समय वह मस्तिष्क से उतर कर सूक्ष्म नाड़ियों में जाती हुई हम को ज्ञात

होती हैं, और हम भी उन के साथ उतरते दृष्टिगोचर होते हैं। बरन् जब तक हम हृदयाकाश में नहीं उतर जाते, तो इन्हीं नाड़ियों में एक विचित्र स्वप्न-संसार रचते हैं और उस की जान-पहचान इन्हीं साधनों से करते हैं। और जब हम हृदयाकाश में उतर जाते हैं, तो इन्हें भी छोड़ जाते हैं। यही सुषुप्ति है। उस समय हमारी अपनी दृष्टि तो होती है किंतु उन आत्माओं के काम, जो जान-पहचान हैं, नहीं होते। इसलिये हम बेसमझ तो हो जाते हैं, परंतु जिस तरह बुद्धिमानी के समय बुद्धि को देखते हैं, यहां बेसमझी को भी देखते हैं, क्योंकि जाग कर अपनी नासमझी को स्वीकार करते हैं।

(६८) हम लिख चुके हैं कि यही बेसमझी वास्तव में अज्ञान है और इस हेतु कि सुषुप्ति में समझ का बर्तव जो भिन्न आत्मा (विज्ञान) का है, नहीं होता हम में अज्ञान का गुण भी भिन्न आरोपित होता है। इसी कारण से हम अपने आप को अज्ञान के गुण में देखते हैं किंतु पहचानते नहीं, क्योंकि "वहाँ बेसमझ हैं", ऐसा निश्चय नहीं पाते, बरन् केवल नासमझी को और अपने आप को देखते हैं। और जाग्रत् में जब यह समझ की आत्मा (विज्ञान) किसी कारण हम में भिन्न आ जाती है, तो अपने अज्ञान को दूर करते हैं और वहाँ जो उसे दिखाई देता था, उस का निश्चय भी करते हैं और पहचानते हैं कि हम बेखबर बेसमझ या अज्ञान हो गये थे। तो इस प्रकार के विचार से हम जान सकते हैं कि क्या ज्ञान और क्या अज्ञान, दोनों हम में भिन्न धर्म कल्पित हैं। हम दोनों से पृथक् केवल दृष्टि-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप, सतस्वरूप हैं। और यह अज्ञान भी उसी आत्मा का मूल है, कि जो करने की आत्मा (प्राण) है।

(६९) ये आत्माएँ (बृत्तियाँ) सुषुप्ति के समय इस अज्ञान

में उसी तरह लय हो जाती हैं जिस तरह कि वृक्ष की शाखाएँ और पत्ते उस के बीज में लय होते हैं; और इसी अज्ञान से यों निकलती हैं जिस प्रकार बीज में से भी उत्तम लहलहाती शाखाएँ, पात और फूल निकलते हैं।

(१००) सच तो यों है कि अज्ञान की असलियत समझ का न होना नहीं, बरन् यही समझ की आत्मा (विज्ञान) जब लपेट खाती है और लिपट जाती है, अज्ञान है, और यही जब फैलती है और नाना वृत्तियाँ रूप शाखा-प्रशाखा होती हैं, समझ कहलाती है। विचार करने वाले पुरुष पर स्पष्ट हो सकता है कि जब यह ज्ञान की वृत्तियाँ लपेट खाती हुई मस्तिष्क से उतर कर भीतर को एकत्रित होती जाती हैं, तो नींद आती है और जब पूरे तौर पर हृदय के भीतर एकत्रित हो जाती हैं और बेसमझ हो जाती हैं, तो सुषुप्ति आ जाती है। इसलिये ज्ञात हुआ कि अज्ञान वास्तव में विज्ञान का परिच्छिन्न वा संकुचित होना है, ज्ञान का न होना नहीं।

(१०१) क्लारोफ़ार्म के सूंघने से भी ये विज्ञान की वृत्तियाँ झटपट संकुचित हो जाती हैं और वह मूर्च्छित सा या मृतवत् होजाता है। इस कारण सिद्ध हो सकता है कि इनका संकुचित या परिच्छिन्न होना अज्ञान है और इन का खुल जाना और विचार तथा निश्चय का काम करना समझ है। यदि ये वृत्तियाँ प्राकृतिक रूप में एकत्रित होती हैं, तो निद्रा कहलाती हैं। यदि बिना प्राकृतिक रीति पर, तो मूर्च्छा कहलाती, हैं किंतु जब ये खुलती हैं और मस्तिष्क कान आँख तक आ जाती हैं, तो जाग्रत् होती हैं, उसी का सचेत बोलते हैं और जब ये मस्तिष्क से बिलकुल संबंध छोड़ देती हैं, तो मृत्यु होती है। इससे ज्ञात हुआ कि समझ और अज्ञान मस्तिष्क का अपना धर्म नहीं, भिन्न धर्म है, हां मस्तिष्क उनका द्योतक अवश्य है।

(१०२) और भी बहुत से कारण हैं जिन से सिद्ध हुआ है कि यह मस्तिष्क का अपना गुण नहीं क्योंकि मस्तिष्क ऐसी वस्तु नहीं जो किरण की तरह आँख कान से निकल कर वस्तुओं का पता लगावे। परन्तु ये वृत्तियाँ तो झटपट आकाश तक उसी तरह जा पहुँचती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी सूर्य से झटपट धरती तक आ जाती हैं, क्योंकि जब हम चंद्र की ओर दृष्टि करते हैं तो यह (वृत्तियाँ) चंद्र में वरन् तारों में जा लगती हैं, उनके रूप में बनती उन से एक होती हुई उनकी दृष्टि और जान-पहचान का काम करती हैं और चंद्र से लग कर शीतल शांति होती हुई हमारे नेत्र और मस्तिष्क को ठंढक देती है।

(१०३) फिर जब हम किसी से दो-चार होते हैं, तो एक दूसरे की मनोवृत्तियाँ परस्पर घात-प्रतिघात करती हैं, और हम निश्चय करते हैं कि हमारी दृष्टि उनकी दृष्टि से लड़ती है। और जब हम चंद्र या किसी यति की ओर देखते हुए आँखें मीचते हैं और फिर मन में उसका ध्यान करते हैं, तो ये मनो-वृत्तियाँ जो असली चंद्र से टकराकर भीतर प्रविष्ट हुई थीं, मन के भीतर उसी चंद्र का आकार एक नया चंद्र बनाकर दिखाती हैं जो बुद्धिजन्य चंद्र कहलाता है।

(१०४) अतः जहाँ बुद्धि और वस्तु एक होती है वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष विद्यमान होती है, और जहाँ केवल समझ होती है और वस्तु की आकृति पर बनती है किंतु वस्तु उसके भीतर प्रवेश नहीं पाती तो वह केवल उसका ज्ञान होती है जैसा कि विचार के समय भी मस्तिष्क के भीतर ध्यान में बाह्य चंद्र तो नहीं होता, तो भी उसकी समझ होती है।

(१०५) स्वप्न में भी यद्यपि जगत् भीतर विद्यमान नहीं होता, तो भी उस की समझें जगत् के रूप में मनुष्य को निद्रा के समय दिखाई देती हैं, तो सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क जगत् के रूप

पर नहीं था, बरन् यही आत्मा जो समझ की आत्मा (विज्ञान) है जगत् के रूप पर बन जाती है, और यही बाहर जगत् में फैल कर जगत् की आकृति पर बनती हुई जगत् को अपने से बाहिर दिखाती हैं। अतएव ज्ञात हुआ कि यह समझ और अज्ञान मस्तिष्क का धर्म नहीं, बरन् मस्तिष्क से भिन्न समझ की आत्मा (विज्ञान) का धर्म है, जो मस्तिष्क में यावज्जीवन केंद्रित है।

(१०६) पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार है कि जब सूर्य की किरणें आँख पर पड़ती हैं और उस के परतों के भीतर प्रथम दृष्टि-पटल (retina) पर प्रत्येक वस्तु का चित्र छापती हैं, तब वह वस्तु दिखाई देती है। क्या यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि सूर्य या दीपक की किरण वस्तु से टकरा कर हमारी आँख में दृष्टि-पटल पर चित्र छापते और उनके दिखलाने का कारण होती, तो उन चित्रों का भी ज्ञान हो जाता जो कि हर समय आँख में छपती हैं, परंतु मन की अनुपस्थिति के कारण ज्ञान नहीं होतीं।

१०७) और यदि बाहर की वस्तुओं के चित्र नेत्र में छप कर वस्तु के दिखलाने का कारण होते, तो आँख क्योंकि बहुत छोटी वस्तु है और जो छाप उस पर पड़ती हैं बहुत ही छोटी होती हैं, इस लिये ये वस्तुएं भी छोटी मालूम होनी चाहिए थीं, परन्तु ऐसा नहीं होता। बरन् क्या मनुष्य, क्या नदी, क्या पहाड़ क्या आकाश, सब को हम पूर्ण परिमाण में देखते हैं संक्षिप्त और छोटा नहीं।

(१०८) नेत्र में दृष्टि-पटल पर चित्र उल्टे और संक्षिप्त चित्र छपते हैं, जैसा कि फोटो के शीशे या गोल दर्पण पर दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु हम को सीधे और पूरे परिमाण में दिखाई देते हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि हमारा मन बाह्य किरणों से आँख पर छपी हुई वस्तुओं से परिचित नहीं होता।

(१०६) वरन् बाह्य वस्तु पर पहले प्रकाश की किरणें पड़ती और अँधेरे को दूर करती हुई उसकी आकृति धारण करती हैं। फिर दृष्टि की किरण आँख से निकल कर उसी प्रकाशित वस्तु पर पड़ती हुई उस के रूप के आकार होती हैं, और इस दृष्टि पर सवार विज्ञान किरण की तरह निकल कर उस वस्तु का रूप धारण करती है। जब इस प्रकार यह विज्ञान किसी वस्तु का रूप धारण करता है, तो आत्म-दृष्टि उसे अनुभव करती है जिससे वस्तु का अनुभव होता है। यह कारण है कि पूरे परिमाण की वस्तु से परिचय होता है, क्योंकि सूर्य की किरण दृष्टि की किरण और विज्ञान की किरण का गुण है कि जिस वस्तु पर पड़ती है, उसके बराबर उस के रूप पर बन जाती है। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि बाहरी किरणों के कारण जो चित्र आँख में छपता है उस से मन परिचित नहीं होता वरन् उस रूप से परिचित होता है जो मन अर्थात् विज्ञान ने ग्रहण किया हो।

(११०) कल्पना करो कि उनके घमंड को बहाल भी करलें, तो भी दार्शनिक नियम से वह बहाल नहीं रहता, क्योंकि नेत्र में जो दृष्टि-परल वह नियत करते हैं, स्वयं शरीर है और शरीर का गुण यह है कि यदि उस पर एक रेखा वा चिह्न करें और फिर उस पर दूसरी रेखा वा चिह्न लगा दें, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। जैसे एक काग़ज़ के टुकड़े पर मोहर करें और फिर उसी पर मोहर को या दूसरी मोहर को वहाँ छाप दें, तो दोनों मोहरों की रेखाएँ बिगड़ जायँगी और स्पष्ट होकर दिखाई नहीं देंगी।

(१११) यहाँ भी प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु को हम देखते हैं जिससे एक चित्र के पश्चात् दूसरा चित्र छपता है। वही कहना होगा कि यह खराब हो जाना चाहिये न कि ठीक दिखाई देने

का कार। । दूसरी आपत्ति यह है कि यह चित्र तो प्रायः आँख में छपते हैं और उनकी दृष्टि बाहर या मस्तिष्क में फिर किस प्रकार होती है ? अतः अवश्य है कि मस्तिष्क के मार्ग से कोई आत्मिक तत्व आँख में आवे और उस में चित्र को घेरे, वही ज्ञान है। तो इस दशा में भी उन्हें मानना पड़ता है कि कोई वृत्ति मस्तिष्क से उतर कर आँख में आती और चित्र को, व्याप्त करती है, जो ज्ञान कहलाती है, परन्तु वह चित्र तो स्वयं ज्ञान नहीं है।

(११२) पाश्चात्य विद्वानों को बाहर देखने में बड़े बड़े गुमान और अनुमान हैं जिनका अंतिम परिणाम उन्हों ने यही पाया है कि देखना तो आँख के भीतर है, और बाहर जो अपने स्थान पर वस्तु दिखाई देती है, भ्रांति है। ऐसी अवस्था में तो इन्द्रियों को प्रमाण नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस खोज में कोई हेतु भ्रांति का पाया जाय, तो उनके ज्ञान-यंत्र प्रमाण नहीं कहलाते वरन् वही तहक़ीक़ात के यंत्र प्रमाण होते हैं कि जो अपनी खोज में सत्यता रखते हैं।

(११३) फिर इस हेतु कि ये नियत करते हैं कि जो वस्तु आँख के भीतर छपती है, प्रतिबिंबित छपती है, जैसा कि चित्र फ़ोटो के शीशे में भी प्रतिबिंबित छपता है और उसको सीधा देखने में बड़े २ तर्क-वितर्क करते हैं जो दार्शनिक नियम से ठीक नहीं, और उसका कोई कारण नहीं वर्णन करते कि जब हम आँख बंद करके किसी वस्तु का ध्यान करते हैं और उसकी आकृति भीतर दिखाई देती है, तो किस प्रकार बिना छपने के बन जाती है ? क्योंकि यह तो संभव नहीं कि ध्यान के समय सूर्य की किरणें मस्तिष्क के भीतर जायँ और बिना इसके कि वस्तु विद्यमान हो, छाप दें।

(११४) ध्यान में तो हम वह वस्तुएँ भी जो कभी विद्यमान

नहीं कल्पना कर सकते हैं। देखो गणेश जी की आकृत संसार में किसी ने नहीं देखी। पर हम बाणी से ही उस की आकृति ऐसी अन्दर ध्यान कर सकते हैं जिस का सिर हाथी का और शरीर मनुष्य का होता है। फिर यह कौन बात है जो इस तरह ध्यान के समय आकृति-वान होता और बदल जाता है? अतः यह मानना पड़ेगा कि यह वही समझ की आत्मा विज्ञान है जिसे हम मन कहते हैं और वही आँख और कान के मार्ग से किरणों की तरह निकल कर जहाँ वस्तु होती है जाती है, उस की आकृति पर पड़ती है और दिखाने का कारण होती है।

(११५) हाँ, इस में संशय नहीं कि जहां अंधेरा होता है, तो वह अंधेरे की शकल में बनती है। उस के भीतर जो वस्तु होती है, उस के खयाल में अंधेरा उसे रोकता है। सूर्य की किरणे तो उस की सहायक होती हैं, क्योंकि वह केवल अंधेरे को दूर करती हैं, परंतु वस्तुओं के अज्ञान को नहीं दूर करतीं। और यह समझ की आत्मा (विज्ञान) तो उस की आकृति पर बनती हुई उस के अज्ञान को भी उसी प्रकार दूर करती है जिस प्रकार किरणें अंधेरे को दूर करती हैं, और साक्षी आत्मा जो उन में प्रकट होता है, उन्हें अनुभव करता है। यही सत्य दृष्टि है।

(११६) किंतु जब हम आँख या कान बंद करके उन का फिर विचार करते हैं, तो हमारे ध्यान के भीतर वही वृत्ति उन की आकृति पर बनती है। इस हेतु कि वह वस्तुएँ उस के अधिकार में विद्यमान नहीं होतीं, इसलिये उसे विचार या केवल ज्ञान कहते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि यह करने की आत्मा जो इस प्रकार बर्ताव करती है, वास्तव में ज्ञान है और साक्षी उसे भी ध्यान में देखता है, इस समझ को संस्कृत में विज्ञान बोलते हैं, और उस साक्षी को जो उस में प्रकट है विज्ञानमय

कहते हैं, क्योंकि वह उस समय विज्ञान में बद्ध ह, और यही सगुण ब्रह्म है।

(११७) किंतु जब वह सुषुप्ति में जाता है, तो इस विज्ञान के बंधन से निकल जाता है और पूर्ण स्वतंत्र वा मुक्त होता है। इसी कारण वहाँ किसी की पहचान का निश्चय नहीं होता, क्योंकि वह तो समझ के बन्धन से निकल गया और यही मुक्त स्वरूप या निर्गुण ब्रह्म है। विज्ञान के बंधन में भी आया वास्तव में बद्ध नहीं होता, क्योंकि उस में भी वह उसी तरह प्रकट होता है, जिस तरह दर्पण में मुख दिखाई देता है। और जिस तरह प्रतिबिंब भी दर्पण में निश्चय के अधीन है, परंतु जिसका प्रतिबिंब है, वह तो कभी भी दर्पण के वशीभूत नहीं होता, इसी तरह वास्तव में तो वह बद्ध नहीं होता, तो भी बद्ध-सा निश्चय होता है।

(११८) जब यही विज्ञान नेत्रों से किरण की तरह निकलता और आँख में केंद्रित इन्द्रिय भी जो चक्षु कहलाती है, किरण के समान साथ ही निकलती है। और विशेष रूप के दिखाने के लिये उस के अधीन होती है, तो उस समय उसे चक्षुमय बोलते हैं। जब कान से यही विज्ञान निकलता है, तो उस के साथ कान की इन्द्रिय जो श्रोत्र है किरण के समान निकलती है और शब्द की पहचान के लिये विशिष्ट होती है, और इसलिये इसे श्रोत्रमय कहते हैं।

(११९) सुतराँ भिन्न इन्द्रियों के बन्धन में आकर उन्हीं के नामों से वह नाम पाता है। अधिक क्या लिखें, यही शरीर के बन्धन में आया हुआ मनुष्य है, और इन बन्धनों से निकला हुआ यही पूर्ण स्वतंत्र परमात्मा है। और वास्तव में तो अब भी बंधनो में आया हुआ बद्ध या मनुष्य नहीं, उसी तरह मुक्त परमेश्वर है। तथास्तु।

(१००) दूसरी आत्माएँ शक्ति की आत्माएँ हैं। वह वही है जा शरीर के भीतर खींचती, निकालती, पकाती, रोकती और बनाती हैं जिसे पञ्चप्राण के नाम से हम कर्मकांड के प्रकरण में ब्योरेवार लिख आए हैं। और उनके बंधन में आया हुआ यही प्रजापति बद्ध, हर्ता-कर्ता, और स्रष्टा है। परंतु ये शक्ति की आत्माएँ शाखाओं के समान हैं, और वह समझ की आत्माएँ (अर्थात् वृत्तियां) शाखा-प्रशाखा और वह इंद्रियाँ उनकी पत्ती और फल हैं। इस प्रकार यह करने की आत्मा (प्राण) शरीर के भीतर फैली हुई कर्मों के भोग के लिये इस शरीर में इस प्रकार स्थिर की गई है जैसे घर में खम्भे और मनुष्य की आकृति कहलाती हैं।

(१०१) अब यह सुनो कि वह मुक्तस्वरूप इस में किस प्रकार बद्ध होता है, वह समझ की आत्मा (विज्ञान) जो शरीर के भीतर सिद्ध की गई है अनेक वृत्तियों से इस प्रकार विकीर्ण होती है जिस प्रकार सूर्य भी अपनी अनंत किरणों में विकीर्ण होता है। किंतु बुद्धिमानों ने समिष्ट रूप से उसे चार प्रकारों में नियत किया है, या तो वह संकल्प वा खयाल करती है, या स्मरण करती है, या खोज करती है या अभिमान करती है। जब संकल्प वा खयाल करती है, तो उसे मन बोलते हैं; जब स्मरण करती है तो उसे चित्त बोलते हैं; जब जाँच-पड़ताल करती है तो उसे बुद्धि बोलते हैं, जब अभिमान करती है तो उसे अहंकार कहते हैं।

(१०२) वह जो पञ्च प्राण हैं, उन में उस चेतन-आत्मा के अस्तित्व का प्रकाश होता है, किंतु उस की ज्योति का प्रतिबिंब नहीं पड़ता, इसलिये वह विद्यमान तो हैं, पर ज्योतिर्मय नहीं। और उन में चेष्टा उसी तरह आ जाती है जिस प्रकार चुम्बक के कारण लोहे में चेष्टा आ जाती है। किन्तु इन

पहचान की आत्माओं अर्थात् अन्तःकरण में उस चेतन के अस्तित्व का प्रकाश भी होता है और उस की ज्योति का प्रतिबिंब भी पड़ता है। इस लिये वे गति रूप होने के अतिरिक्त चेतन और ज्योतिर्मय भी हो जाती हैं। परंतु उस की अहंता का प्रादुर्भाव और किसी में नहीं होता केवल अहंकार में होता है इसलिये अहंकार को उस आत्मा का अनजान को अंतर करना कठिन हो गया है वरन् अहंकार आत्मा और आत्मा अहंक को निश्चय हो रहा है।

(१२३) जब कि अहंकार उस आत्मा में है और उस की अहंता आप समस्त गुणों के साथ अहंकार में कल्पित है, तो इस बंधन में आया हुआ वह इस शरीर का अभिमानी होता है, क्योंकि ये सब वृत्तियाँ इसी अहंकार के वश में हैं और इसी के लिये बुद्धि दरियाफ्त करती या सोचती है। सोचने के पश्चात् संकल्प होता है और शक्ति की आत्माएँ अर्थात् कर्म-इंद्रियाँ उठती हुई हाथ-पाँव चलाती हैं, और मनुष्य का व्यापार करती हैं और मनुष्य के समस्त व्यापार इसी अहंकार के द्वारा उस में कल्पित होते हैं, वास्तविक नहीं।

(१२४) इस हेतु कि वह तो अहंकार उस के बर्ताव, और उस की सेना के बर्ताव को केवल देखता है। यही कारण है कि वह अपने अहंकार को भी जानता-पहचानता और उस के बर्ताव को अपने में निश्चय करता है, और फिर उन निश्चयों को भी निश्चय करता है, और उन सब को अपनी दृष्टि से केवल देखता है भिन्न अहंकार से अहंकारी, भिन्न जिज्ञासा से पहचानने वाला, भिन्न शक्तियों से कर्त्ता भोक्ता होता है वास्तव में वह न तो कुछ करता न भोगता, केवल देखता है, तो भी भिन्न बंधनों से बद्ध, जिस में अहङ्कार का बन्धन सब से महान् है, बद्ध होता है।

(१२५) जब यह अहंकार के बन्धन को विवेक से तोड़ता है, बरन् उसको अपने में भिन्न कल्पित जानता है (और यह तब ही होता है, जब अपने आप को केवल साक्षी पहचानता है), तो फिर यह उन में प्रकट हुआ भी बद्ध नहीं होता, बरन् वही मुक्त का मुक्त होता है। इस प्रकार बन्धनों से मुक्ति पाकर मुक्ति पाया होता है। इसी अहंकार से छूटना वास्तव में मुक्ति है और यही प्रमाद है। शास्त्र में इसी अहंकार को निर्बल किया जाता है, ज्ञान से इसी की जड़ उखाड़ी जाती है। इसी अहंकार को सूफी लोग नफ़्स नाम देते हैं और वह पहचान की वृत्तियां जो इसके अधीन हैं, सब नफ़्सानी कहलाती हैं और ये दूसरी हैवानी।

(१२६) इस प्रकार अहंकार में बद्ध हुआ अहंकारी और प्राण में बद्ध हुआ प्राणी और शरीर के बंधन में आया हुआ मनुष्य कहलाता है, परंतु उस के ये सामान्य बन्धन जो मनुष्य में ही दिखाई देते हैं, पशुओं में उस से कम और वनस्पतियों में उससे भी कम हैं, क्योंकि उन में कम इन्द्रियां वा वृत्तियां हैं। देखो वनस्पतियों में पञ्चप्राण तो हैं अहंकार नहीं और पशुओं में अहंकार तो है, बुद्धि नहीं। इस लिये वनस्पति का पशुओं से और पशुओं का मनुष्य अंतर से किया जाता है।

(१२७) फिर मनुष्यों में भी कुछ मंद बुद्धि और कुछ तीव्र बुद्धि हैं। यह सब न्यूनाधिकता उसी करने की आत्मा (प्राण वा अन्तःकरण) की है, कुछ आत्मा की नहीं, बरन् अकेला आत्मा क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या बनस्पति, सब का देखने वाला, साक्षी, सब में एक है, किंतु जिस-जिस व्यक्ति में प्रकट हुआ है, उस के अहंकार में कल्पित अभिमान का सम्बन्ध पाता है, उसी को अपना आप समझता है, और उसी के हानि-लाभ को अपने में मानता है। इस हेतु कि ये सब बातें अपनी दृष्टि

के अतिरिक्त उस में भिन्न आत्मा की कल्पित होती है, यही कारण है कि देवदत्त की मनोवृत्तियों से जानी-पहचानी वस्तुएँ यज्ञदत्त के मन से निश्चय नहीं कर सकता, या यज्ञदत्त की मनोवृत्तियों से जानी पहचानी वस्तुएँ देवदत्त की मनोवृत्तियों से नहीं पहचानता।

(१२८) यदि जान-पहचान भी दृष्टि के अनुसार, उस की अपनी होती तो अवश्य था कि देवदत्त का जानना यज्ञदत्त का पहचानना हो जाता। परन्तु देवदत्त की जान-पहचान तो भिन्न आत्मा की इस मे आई है यद्यपि यज्ञदत्त में भी अकेला प्रकट है, किंतु देवदत्त की मनोवृत्तियां वहां नहीं है, वरन् यज्ञदत्त की मनोवृत्तियां दूसरी भिन्न हैं, इस लिये वहां की समझें यहां की और यहां की समझें वहां की नहीं हो जातीं, वरन् सब से असंग और पवित्र है और सब उसी में कल्पित होते हैं।

(१२९) जिस प्रकार यही शुद्ध इकलौता आत्मा देखने वाला क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पशु-पक्षी और उनकी व्यक्तियों यों में प्रकट हुआ है, उसी प्रकार ऊर्ध्व लोक में क्या पितर क्या देवता क्या प्रजापति सब में यही अकेला शुद्धात्मा साक्षी स्वरूप प्रकट है और प्रत्येक के अहंकार में अहंता का भ्रांत संबन्ध पाता पितर, देवता और प्रजापति कहलाता है, किंतु उन(मनुष्य, पशु इत्यादि) के अहंकार तो व्यक्ति गत वा व्यष्टि रूप हैं और इन (देवता, पितर इत्यादि) के अहंकार समष्टि रूप। और उनकी समझें संक्षिप्त हैं, इन की समझें व्याप्त वा सर्वोपरीय। इसी कारण इनमें आया हुआ यह सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ कहलाता है; परंतु वहां भी जो सबमें सब कुछ होता या सब में सब कुछ जानता है, इस का अपना धर्म नहीं; वरन् उसी भिन्न आतमा का धर्म है जो मानसिक और प्राण रूप शाखाओं से ऊर्ध्व लोक में दूसरे चमत्कार से खुलती हैं और यह उनमें बद्ध

हुआ उनके गुणों से गुणवान होता है, पर अपने स्वरूपमें वह ज्यों का त्यों पवित्र अकर्त्ता, अभोक्ता केवल साक्षी रहता है।

(१३०) देखो जब हम सुषुप्ति या समाधि में जाते हैं, तो अपनी संक्षिप्त उपाधियों अर्थात् मानवी समझों और मानवी करतूतों से निकल जाते हैं और स्वतंत्र तथा साक्षी स्वरूप होते हैं। इसी प्रकार इन्द्र या प्रजापति भी जब सोता या समाधि में होता है, तो यही मुक्त स्वरूप साक्षी-मात्र होता है। यही कारण है कि समाधि या सुषुप्ति में सब एक हैं जाग्रत् में भिन्न शरीरों भिन्न मनों में आप एक ही अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार यह इकलौता शुद्ध स्वरूप भिन्न-भिन्न उपाधियों में आया हुआ नाना रूप से प्रकट हुआ विराट् भगवान् कहलाता है।

(१३१) उन्नति में तो सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ यही है पतन में अल्प-शक्तिमान अल्पज्ञ यही है, किंतु क्या सर्व शक्ति और सर्वज्ञता, क्या अल्प-शक्ति और अल्पज्ञता नाना भिन्न उपाधियों के धर्म हैं उस के अपने नहीं। वह जो उन्हें भिन्न जानता है उन में नहीं फँसता, वरन् उपाधि के रूप में भी मुक्त होता उन का साक्षी रहता है और "मैं ब्रह्म हूँ" खुल्लम-खुल्ला निश्चय करता है। यही विचार प्रत्यक्ष फल है।

(१३२) जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने करने की आत्मा (प्राण) से मिला हुआ मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार समस्त धरती और आकाश और जो कुछ उन में है एक समष्टि शरीर है और वही करने की आत्मा उस शरीर में मिली हुई विराट् भगवान कहलाती है जिसे सूफी लोग इन्सान अर्थ करते हैं। परन्तु जिस तरह मानवशरीर के विचार से उस की अन्तरात्मा वा अहंकार कहलाती है, उसी तरह समष्टि शरीर के विचार से इन्सान की अन्तरात्मा परमेश्वर कहलाती है जिसे हम हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं।

(१३३) मनुष्य का शरीर वास्तव में विराट् के शरीर का एक अंश है और मनुष्य का अहंकार वा जीव वास्तव में परमात्मा का एक अंश है। परन्तु आत्मा तो सब में एक है। इस प्रकार मनुष्य विराट और जीव परमेश्वर है, और आत्मा पवित्रात्मा है। उसी विराट् और ईश्वर को पिता, इसी मनुष्य और जीव को मिला कर पुत्र, और इसी आत्मा को शुद्धात्मा बोलते हैं, और ये तीनों वास्तव में एक हैं, क्योंकि कल्पित अपने प्रकाशक (द्योतक) से भिन्न कुछ भी नहीं होता। इस हेतु कि क्या पिता क्या पुत्र, सब शुद्धात्मा में कल्पित हैं, इसलिये एक हैं। यह विषय आरंभ से ईश्वर कृत पुस्तकों में चला आता है।

(१३४) जिस प्रकार एक समतल के कई खंड कर दें, तो प्रत्येक खंड अपने समस्त से बाहर नहीं होता बरन् उस में प्रविष्ट होता है, इसी तरह क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी विराट् से भिन्न नहीं बरन् प्रत्येक वही है, और प्रत्येक परमात्मा से प्रथक् नहीं बरन् वही है। किंतु जो कुछ समष्टि कर सकता है, व्यष्टि नहीं कर सकता, इसलिये मनुष्य तो अल्प शक्ति वाला है और विराट् सर्व सामार्थ्यवान् और जिस प्रकार मनुष्य में फैली हुई आत्मा (प्राण) चक्षु, श्रोत्र, मन, बुद्धि अहंकार नाना वृत्तियां रूप होती हैं, इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भी जो विराट् की आत्मा है, नाना देवता रूप होता उपास्य होता है और यह प्रत्येक भिन्न देवता कहलाता है।

(१३५) जिस प्रकार चक्षु का स्थान नेत्र विशेष है, श्रोत्र का कर्ण, इसी प्रकार इन देवताओं के भी विशेष स्थान हैं, और सब में सब कुछ करते हैं। जैसे चक्षु तो विशेषतः रूप दिखाने का काम करता है और श्रोत्र शब्द सुनाने का। इसी तरह देवता भी अपने विशेष काम संसार में करते हैं, एक को दूसरे में प्रवेश नहीं। इन्हीं विशेष कामों और विशेष स्थानों के कारण इन्हें उन

का देवता कहते हैं और इन्हीं के नाम पर उनका नाम होता है।

(१३६) उदाहरणतः, जो महानात्मा (प्रजापति) की शाखा सूर्य में स्थिर है और आँख तक फैली हुई है और दिखाने का काम करती है, वही सूर्य देवता कहलाती है और जो उसकी शाखा चंद्रमा में केंद्रित और हृदय कमल तक फैली हुई है और विशेष सोच-समझ का काम करती है, वही चंद्र देवता कहलाती है, और उन्हीं का सूफी लोग सूर्य और चंद्र का मुअक्कल या देखने सोचने का फरिश्ता कहा करते हैं। और ये सब देवता वा इन्द्रियां अपने विशेष काम में बद्ध यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न नाम रखती हैं, किन्तु सब प्रजापति की शाखाएँ हैं जो करने की आत्मा है। और शाखाएँ वास्तव में भिन्न नहीं होतीं, बरन सब की सब एक वृक्ष होती हैं, इसलिये ये देवता भी सब के सब एक ईश्वर हैं।

(१३७) इसकी विवेचना में यद्यपि हमारे पास बड़ी-बड़ी दार्शनिक युक्तियाँ हैं, किंतु हम इसलिये नहीं कहते कि यह सूक्ष्म युक्तियाँ अदार्शनिकों की समझ में नहीं आ सकतीं। उत्तम है कि हम वैदिक आख्यानों से भाषा जानने वालों पर उन्हें खोलें। इसलिये हम 'दो तत्ववेत्ताओं का विवाद" वेदों से अनुवादित करते हैं जो एक सगुण विद्या का विद्वान् अर्थात् इसी करने वाली आत्मा का ज्ञाता और ज्ञानी था, और दूसरा इस देखने वाली आत्मा से भी परिचित था और इसको भली भाँति जानता था। पहले का नाम बालाकी गर्ग गोत्र का ब्राह्मण है; दूसरे का नाम अजातशत्रु है, जो काशी का राजा था। यह गार्ग्य तो केवल करने वाली आत्मा (प्राण) को जानता था और वह राजा देखने वाली आत्मा को भी पहचानता था।

(१३८) * यजुर्वेद के आरण्यक भाग में हम यों सुनते हैं

* देखो बृहदारण्योपनिषद अध्याय दूसरा आरम्भ से

कि बालाकी नाम ब्राह्मण जो गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने के कारण गार्ग्य भी कहलाता था, सगुण विद्या का बड़ा ज्ञाता व विद्वान् था और सगुण ब्रह्म को जानता था। वह अजातशत्रु काशी नरेश के यहाँ आ निकला और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्म बतलाता हूँ। अजातशत्रु बोला कि मैं तुझे केवल इस वाक्य पर कि "ब्रह्म बतलाता हूँ" सहस्र गौवें देता हूँ। तुम धन्य हो जो तुमने इतना भी कहा और धन्य हूँ मैं कि ब्रह्म के सुनने पर दान देता हूँ क्योंकि लिखा है कि जनक ही वास्तव में दाता है और जनक ही वास्तव में सुनने वाला है। इसी कारण ब्राह्मण राजा जनक की ओर दौड़ते थे।

(१३९) इस प्रकार राजा को श्रद्धावान पाकर गार्ग्य बोला, यह पुरुष जो सूर्य में और नेत्र में एक होकर उनका अभिमानी नेत्रों के मार्ग से मनमें आया हुआ कर्त्ता-भोक्ता है मैं उसे ब्रह्म देखता हूँ, और मैं उसी को "ब्रह्म करके" उपासना करता हूँ और तुम्हें भी कहता हूँ कि उसका अवलंबन करो।

(१४०) राजा ने सिर हिलाया और कहा नहीं नहीं। इसमें झगड़ा न करो क्योंकि मैं इसे जानता हूँ। यह उच्च कोटि में एक आत्मा है जो समस्त देह और देहाभिमानियों का सर्व-शिरोमनी और राजा है। मैं भी उसका अवलंबन करता हूँ। वह जो इसका अवलंबन करता है वस्तुतः उत्तम पद पाता है, बरन् समस्त देह और देहाभिमानियों का शिरोमनी होता है।

(१४१) तब उसने कहा कि यह पुरुष चंद्रमा और मनके भीतर आया हुआ उनका अभिमानी कर्त्ता भोक्ता है। मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ और तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो। राजा ने सिर हिलाया और कहा, नहीं-नहीं, इसमें झगड़ा न करो। मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक विराटात्मा है। उसका श्वेत पोश है। यही

जलों से शरीरी हो कर उन्हीं में तैरता वनस्पति के रूप में आया हुआ यज्ञों में काम आता है, जिसे सोम बोलते हैं, और इसी को वेदविद् ब्राह्मण सोमराज कहते हैं। इसी को चंद्र, वनस्पति, अन्न और मन में उनका अभिमानी जानता हुआ उपासना करता हूँ। वह जो उसे इस प्रकार उपासता है, दिन-दिन उसके वंश की उन्नति होती है, दूध पूत अन्न सब कुछ उसके होता है, घटता नहीं।

(१४२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बिजली त्वचा और हृदय कमल में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४३) राजा ने सिर हिलाया और कहा कि नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक तेजोमय देवता है और मैं इसे बिजली, देह की त्वचा और मन के भीतर एक ही व्यापक हुआ उनका अभिमानी और निज तेज में कर्त्ता भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है आप भी तेजस्वी होता है और उसकी संतान भी तेजस्वी जीवन व्यतीत करती है।

(१४४) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बाहर के आकाश और हृदय आकाश में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४५) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इस में भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक देवता है जो सब में पूर्ण हुआ सब कुछ करता है और देखने में उखड़ता नहीं। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो

इसे इस तरह उपासता है, वह भी सन्तान और पशुओं से पूर्ण होता है और उस की सन्तति का क्रम भी कभी भंग नहीं होता।

(१४६) तब गार्ग्य बोला—जो पुरुष वायु, श्वासों और हृदय में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१४७) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा—नहीं नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक बड़ी शक्ति का देवता है, इसका नाम इन्द्र देवता है। यही वैकुंठ धाम में रहता है। सब पर विजयी है। इसको किसी ने विजय नहीं किया। इसकी सेना भी अनंत विजयी है। मैं इसकी भी उपासना करता हूँ और बाहर और भीतर की वायु में एक ही देखता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, अनंत विजयी रहता है, और कोई दूसरा उसका साथी वा संगी नहीं हो सकता।

(१४८) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो अग्नि, वाणी और हृदयमें एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी की उपासना करो।

(१४९) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा, नहीं नहीं, इसमे भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक देवता है जो समस्त करने की आत्माओं (प्राणों) का मुहाना है। इस में आहुति दी हुई सब देवता खाते हैं। मैं भी इसको आग, वाणी और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इस तरह इसको उपासता है, सबका मुंह होता है। सब उसी के द्वारा खाते हैं। उस की संतान भी ऐसी

होती है और उस संतान के भी सब आश्रय या उपजीवी हो जाते हैं।

(१५०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो पानियों, वीर्य और हृदय में एक हो कर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ, तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१५१) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा, नहीं-नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक देवता है। इसे प्रतिरूप बोलते हैं। मैं भी इसको पानियों, वीर्य और हृदय में एक अभिमानी देवता कर्त्ता-भोक्ता, उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, उसकी संतति में शुद्ध संतान ही उत्पन्न होती हैं, उसकी जाति में जारज (हराम की) संतान उत्पन्न नहीं होती।

(१५२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी हो कर कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि तुम भी उसका अवलंबन करो।

(१५३) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक आत्मा है, जिसे मन-मोहन कहते हैं। मैं भी इसे दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता देवता जानता हुआ उपासता हूँ। वह जो इसकी इस तरह उपासना करते हैं, आप मन-मोहन होते और संतान भी मन-मोहन उत्पन्न करते हैं। उन्हीं पर प्रत्येक देख कर मोहित हो जाता है। वास्तव में यह सदाचार और सौंदर्य का देवता है।

(१५४) तब गार्ग्य बोला, वह पुरुष जो इदं, तत् इत्यादि संकेत, और इसके साथ २ प्राणात्मा में जीवन का कारण है ओ

हृदय में एक हो कर कर्त्ता और भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसकी उपासना करता हूँ, तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो ।

(१५५) राजा ने फिर भी शिर हिलाया और कहा नहीं-नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो । क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ । यह आयु का देवता है । मैं भी इसे इसी तरह उपासता हूँ । वह जो इसे इस तरह उपासता है, प्राकृतिक जीवन पाता है, बीच में नहीं मरता और कठिन रोग भी उसको नहीं आते ।

(१५६) तब गार्ग्य बोला यह पुरुष जो दिशाओं कानों और हृदय में एक अभिमानी देवता और कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसी की उपासना करता हूँ । तुम्हें भी कहता हूँ उसी का अवलंबन करो ।

(१५७) राजा ने फिर [illegible] नहीं-नहीं। इस में झगड़ा न करो क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ । यह एक देवता है जो जोड़ा हो रहा है और [illegible] है । और इसी को अश्विनी कुमार कहा करते हैं मैं भी इसे दिशाओं और कानों और हृदय में एक अभिमानी देवता जानता हुआ उपासता हूँ । वह जो इसे दिशाओं, कानों और हृदय में एक देवता हुआ उपासता है जोड़ा वाला होता है, अपने जोड़े से जुदाई या दूरी नहीं [illegible]

(१५८) तब गार्ग्य [illegible] पुरुष जो भौतिक अँधेरे और अज्ञान में [illegible] अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और [illegible] उपासना करता हूँ । तुम्हें भी ऐसा ही कहता हूँ कि [illegible] अवलंबन करो ।

(१५९) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा नहीं-नहीं । इस में भी झगड़ा मत करो क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ । यह एक देवता है जिसमें [illegible] है । मैं भी इसे अंधेरों

मोहों और हृदय में एक करके जानता-पहचानता हूँ और उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, दीर्घ-आयु पाता है और नियत काल तक जीवित रहता है, बीच में नहीं मरता।

(१६०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो प्रजापति, बुद्धि और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि तुम इसी की उपासना करो।

(१६१) राजा ने फिर शिर हिलाया और कहा नहीं-नहीं। इस में भी झगड़ा मत करो क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक मनुदेव है जो निकटवर्ती देवता है, और सब देवता इसी एक की शाखाएँ हैं, हम इसी को हिरण्य गर्भ कहते हैं, साधारण लोग इसी को ईश्वर कहते हैं, और यही तत्त्वविदों में प्रथम बुद्धि (सोच) सूक्ष्मियों में पहिला संकल्प या फुरना अथवा आदि कारण कहलाता है। मैं इसे प्रजापति, बुद्धि और हृदय में व्यापक देखता हुआ सबका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है बुद्धिमान और विचारवान् कहलाता है, और उसी की सन्तान भी बुद्धिमान होती है।

(१६२) तब गार्ग्य चुपका हो गया। आगे कुछ न बोला। क्योंकि देवताओं की आरम्भ से अन्तिम पंक्ति तक जितने देवता हैं वह उस ने क्रमानुसार बतलाए, यहाँ तक कि जो आदि संकल्प रूप ईश्वर का पद है उसे भी प्रकट कर दिया, और ये सब देवता उसी की शाखाएँ हैं हमने करने की आत्मा (प्राण) विवेक करके दिखलाई है। राजा ने सब से शिर हिलाया और उन की उपासनाओं के फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिए, जिस से कि गार्ग्य जान ले कि राजा उन्हें जानता और पहचानता है, और यह कि निस्संदेह

वे सब उपास्य हैं और भिन्न-भिन्न विशेष विशेष फल देते हैं, किंतु मोक्ष के स्वामी नहीं, बरन् 'करनी भरनी' रूप निमम के अधीन हैं। वह जो प्रसाद की आत्मा है, करने वाली नहीं, केवळ देखने वाली है, और यह उपास्य सब उस (देखने वाली आत्मा) की सेवा की आत्मएँ हैं; वास्तव में उसे ब्रह्म कहते हैं, इन्हें ता केवल कहने मात्र में ब्रह्म बोला जाता है, वास्तव में ये ब्रह्म नहीं, बरन् देवता हैं।

(१६३) जब गार्ग्य इस प्रकार चुपका हो गया, आगे न बोला, तो राजा ने कहा-"क्या तुम इतना ही जानते हो या कुछ आगे भी ज्ञान है?" उसने उत्तर दिया कि मैं तो यहाँ तक ही जानता हूँ, आगे नहीं जानता। तब गार्ग्य बोला मैं आप का शिष्य होता हूँ। मुझे आप बतलावें कि इससे बढ़कर कौन सा ब्रह्म है?

(१६४) राजा बोला—यह उल्टी बात है कि ब्राह्मण शिष्य हो और क्षत्री गुरू। अस्तु, तुम गुरु ही बने रहो। मैं यों ही बतला देता हूँ। अतः राजा ने उसका हाथ पकड़ा और उठाया, और वहाँ चले गए जहाँ राजमहल में एक मनुष्य घन सुषुप्ति में सोया हुआ था, और उच्च पदस्थ, हितकर, वस्त्रधारी, सोम-राज आदि जिन-जिन देवताओं का उसने उल्लेख किया था, उन-उन नामों से उसे पुकारा, परन्तु वह न जागा। फिर राजा ने हाथ से जगाया, तो जाग उठा। इससे सिद्ध कर दिखाया कि गार्ग्य की समझ ठीक नहीं।

(१६५) यह न समझना चाहिए कि सोए हुए के पास जाना, उसे बुलाना और उसे हाथों से जगाना किस प्रकार सिद्ध करता है कि गार्ग्य की समझ ठीक नहीं? तो हम यह कहते हैं कि गार्ग्य तो उन देवताओं को, जो उसने वर्णन किये इस शरीर का स्वामी इसमें कर्त्ता-भोक्ता मानता था, और राजा का यह मनोगत अभिप्राय था कि ये सब देवता सेवा करने के देवता

और सेवक हैं। स्वामी तो वही अकेली देखने की आत्मा है जिसके लिये ये सब काम करते हैं। बिना इस के ये सब बेकार वा व्यर्थ होते हैं, और कुछ नहीं जानते। यद्यपि वास्तविक करना उस (साक्षी आत्मा) में नहीं, तो भी उसके लिये जो यह सेवक (देवता) करते हैं, वही अकेला आत्मा उसका स्वामी उसमें कर्त्ता भोक्ता है।

(१६६) सोए हुए के पास जाना इसलिये आवश्यक था कि जाग्रत् में करने की आत्मा (प्राण) और वह देखने की आत्मा दोनों स्वामी और पति की तरह मिली हुई आँख, नाक, कान में काम करती हैं, अनजान को एका-एक अंतर नहीं हो सकता कि उनमें कौन-सी है जो देखती है और कौन-सी है जो करती है? क्योंकि उनके अपने-अपने धर्म दूसरे के ज्ञात होते हैं, वास्तव में वह जो देखती है स्वयं दिखाई नहीं देती, और वह जो करती है, दिखाई देती है, स्वयं नहीं देखती। जागृति में उसका देखना इसका देखना प्रतीत होता है, क्योंकि देखने वाली तो स्वयं दिखाई नहीं देती। फिर किस प्रकार उसका देखना इसका समझा जाय? वरन् यह जो करती दिखाई देती है, उसमें प्रकट हुई एक होती है, इसलिये उसका देखना इसका देखना अनुमान होता है।

(१६७) नींद में करने की आत्मा (प्राण) तो आँख नाक कान में विद्यमान होती है, परंतु देखने की आत्मा उससे अलग हो जाती है, जिस कारण से सामान्य लोग उसे नींद में बेखबरी की अवस्था बोलते हैं। यहां उन का विवेक हो सकता है कि करने की आत्मा अलग है, देखने की आत्मा अलग। और यह स्पष्ट है कि करना वास्तव में सेवक का धर्म है स्वामी का धर्म नहीं। वरन् जिस लिये कियाजाता है, वही भोक्ता, वही स्वामी होता है।

(१६८) देखो जब संरक्षक की वाणी काम करती है, तो वाणी भोक्ता नहीं बरन् संरक्षक ही भोक्ता होता है। या राजा की सेना देश पर विजय पाती है, तो उसका भोक्ता और स्वामी राजा होता है, सेना नहीं होती। इसी तरह वह देवता जो गार्ग्य ने मनुष्य के शरीर में ब्रह्म दर्शाये, राजा ने उन्हें सेवा करने के देवता सिद्ध कर दिखाये, जो असली आत्मा के सेवक हैं, और आत्मा जो केवल देखता है स्वामी है, उसी के भोग के लिये ये सब इस (शरीर) में एकत्रित हैं।

(१६९) सोए हुए में उन देवताओं का नाम लेकर पुकारना इसलिये था कि यदि वह देखते या सुनते होते, तो बुलाने से उत्तर दे देते, क्योंकि जिसको जिसके नाम से बुलाया जाता है, वह उत्तर देता है। इस हेतु कि आत्मा के बिना वह जड़, मृतक के समान हो जाते हैं, इसलिये वह बुलाने से उत्तर न दे सके, जब तक कि वह आत्मा उनका स्वामी, जो सब का जीवन है, उनमें न आ जाय। और उसका उनमें आ जाना वास्तव में जाग्रत् है। और यह श्रुति ने दर्शाया है कि देवताओं के नाम लेने से वह सोया हुआ नहीं जागा।

(१७०) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि जिन देवताओं के नाम से सोए हुए को पुकारा गया, वह भी सोये हुए थे, इसलिये उत्तर न दिया। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गार्ग्य उन देवताओं को अविनाशी कर्त्ता-भोक्ता निश्चय करता था, और मानता था कि वह शरीर में मृत्यु तक अपना काम करते रहते हैं, थकते नहीं (क्योंकि वह जो थक जाता है, दीन होता है और वह ब्रह्म नहीं हो सकता), और गार्ग्य उन्हें ब्रह्म समझ कर उपासना करता था।

(१७१) इस प्रकार सोए हुए के पास ले जाकर राजा ने उसे निश्चय दिलाया कि सेवा करने के देवता बिना आत्मा की सहा-

यता के भोक्ता नहीं, क्योंकि यदि ये स्वयं भोक्ता होते, तो उस समय भी जब वे बुला गये थे वाणी को भोगते। यह नियम है कि जिसका जो भोग होता है, जब वह उसे मिले, तो वह भोग लेता है। देखो आग का काम जलाना और प्रकाश देना है, जब उसमें कोई तिनका फेंक दिया जाता है, तो उसी समय उसे जलाती और प्रकाश देती है। यदि ये (देवता) अपने आप कुछ सुनते समझते होते, तो बुलाने से वाणी को सुनते और समझ का प्रकाश देते। यद्यपि ऐसा नहीं हुआ। तो जिस तरह तिनका फेंकने से जब न जले तो निश्चय होता है कि यह अग्नि नहीं है, उसी तरह वाणी के न सुनने से निश्चय होता है कि गार्ग्य के उपास्य (देवता) अपने आप वाणी के भोक्ता नहीं। जिस तरह वे वाणी के भोक्ता नहीं, उसी तरह से देखने चखने और सूंघने इत्यादि के भी भोक्ता नहीं। मन भोग देने के लिये सेवक और साधन हैं। वह जो सेव्य और भोक्ता है, इन से पृथक् है और वही वास्तव में उपास्य है।

(१७२) देखो, सोए हुए में जिस प्रकार शब्द सुनाई नहीं देता, उसी तरह देखने की वस्तुएं भी यद्यपि पास धरी होती हैं, किंतु दिखाई नहीं देतीं, और ऐसे ही गंध की वस्तुएं भी पास होती हैं किंतु सूंघी नहीं जातीं, ऐसे ही मुख में यदि कुछ वस्तुएँ डालें तो न वह स्वाद देती हैं न खाई जाती हैं। इस लिये भाषाविदों को पूरा विश्वास हो सकता है कि जिस प्रकार पत्थर भी भोक्ता नहीं, उसी प्रकार सेवा करने की आत्माएँ (प्राण) भी जो देवता हैं अपने आप भोक्ता नहीं। जिस प्रकार चलाया हुआ पत्थर भी चोट देता है, उसी तरह ये करने की आत्माएँ भी ऐसे चेतन की चलाई हुई चलती और काम करती हैं, वास्तव में पत्थर के समान जड़ हैं। जिस प्रकार पत्थर को उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है उसी प्रकार प्राण को

भी उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है और क्या शरीर और क्या प्राण सब के सब आत्मा के सिवा सगुण ब्रह्म हैं।

(१७३) यह भी ख़याल नहीं करना चाहिए कि यद्यपि उन देवताओं का नाम ले कर सोए हुए को पुकारा गया किन्तु जैसे कभी २ जागते मनुष्य का भी नाम लेकर बुलाया जाय, और इस कारण कि उसका ध्यान दूसरी ओर हो और वह न सुने, तो वहां यह विश्वास नहीं हो सकता कि वह वास्तव में सुनने का भोक्ता नहीं, वरन् ख़याल होता है कि उसका ध्यान नहीं था, इसी तरह उस समय भी हो सकता है कि उन देवताओं का जो सेवा करने की आत्माएँ हैं ध्यान नहीं था, इसलिये उन्हों ने वाणी को पाते हुए भी सुना और नहीं भोगा, तो यह विचार भी मिथ्या है।

(१७४) क्योंकि गार्ग्य ने वह ईश्वर कल्पना करके वर्णन किए हैं। और यह संभव नहीं कि जब ईश्वर को स्मरण किया जाय, तो वह सुने नहीं, अन्यथा पूजा-पाठ और ध्यान के समय उससे प्रार्थना करना और उसे बुलाना व्यर्थ होगा। मनुष्य में तो संभव है कि भूल और प्रमाद हो, उसमें भूल और प्रमाद की संभावना नहीं। यह गार्ग्य का निश्चय है: इसलिये उसमें इस विचार का संदेह नहीं आ सकता।

(१७५) यदि कोई आपत्ति करे कि आत्मा भी तो बुलाने से सोए हुए में नहीं उत्तर देता, तो किस प्रकार सेवा करने के देवता पर यह आरोप आ सकता है? तो यह आपत्ति भी यहां बेसमझी की है, क्योंकि गार्ग्य के उपास्य देवताओं का नाम ले कर उसे बुलाया गया, वह किस प्रकार उत्तर दे? यद्यपि ये देवता उसके सेवक और प्रकाशक हैं और इन सब में वह (आत्मा) अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता स्वामी है, तो भी जैसे मनुष्य को उँगली या हाथ के नाम से बुलावें तो नहीं उत्तर देता, इसी

प्रकार ये देवता भी अंग और इंद्रियों के तद्रूत् हैं, किस प्रकार उनके नाम से वाणी को सुने ? इसी कारण से सेवा करने के देवता के नाम से राजा ने उसे बुलाया और जगाया, न जागा।

(१७६) गार्ग्य के मत में तो यही देवता कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी हैं, परंतु इस समय चेतन आत्मा से पृथक् हैं, अतः सुनते समझते नहीं। इसलिये सिद्ध होता है कि काम करने के देवता सेवक हैं, भोक्ता या सेव्य नहीं। यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि काम करने की शक्तियाँ यद्यपि देवता हैं, परन्तु मनुष्य के भीतर आई हुई वह सर्वसाधारण के निकट देवता नाम नहीं पातीं, बरन् इंद्रिय और प्राण नाम पाती हैं, और उन्हीं प्रसिद्ध नामों से नहीं बुलाया गया, इसलिये उन्हों ने नहीं सुना; तो यह गुमान भी ठीक नहीं। क्योंकि गार्ग्य ने सिद्ध किया था कि जो चंद्रमा में और सूर्य में है, वही चंद्र देवता है और वही स्वामी है। जब उपासना करने वाला उन्हें पहचानता है, तो क्या वे अपने नामों को नहीं जानते? जानते तो अवश्य हैं परन्तु जिस के कारण उन में पहचान होती है, वह प्रसाद की आत्मा उन में प्रकट नहीं, इसलिये वह सब मृतक और जड़ हैं।

(१७७) यदि कोई आपत्ति करे कि "अच्छा आत्मा के नाम लेने से भी तो आत्मा आवाज़ नहीं सुनता", तो यह भी आपत्ति बेसमझी की है, क्योंकि आत्मा तो कर्त्ता-भोक्ता राजा ने कल्पित किया है, और वह इस समय स्वप्न के भोग पा रहा है और जाग्रत के भोग देने वाले साधनों से सम्बन्ध छोड़ गया है, इसी कारण सामान्य लोग उसे सोता हुआ कहते हैं, सोया हुआ क्योंकर सुने?

(१७८) किंतु प्राण देवता तो सोया हुआ नहीं, बरन अपना काम करता है। देखो श्वास लेता है। यदि वह सोच समझ का गुण रखता, तो अवश्य था कि बाणी का भोग

पाता । पर पाता नहीं, इसलिये निश्चय हो सकता है कि वह वास्तव में करने का शस्त्र है, कर्ता का चलाया हुआ उसी तरह चलाया जाता है जैसा कि एक घड़ी चलाई हुई बराबर चलती है, पर वह सुनती-समझती कुछ नहीं. इसलिये जड़ है।

(१७९) यदि कोई आपत्ति करे कि गार्ग्य ने जो भिन्न-भिन्न देवता और उनके भिन्न-भिन्न नाम फल सहित वर्णन किए हैं, और स्वयं राजा ने भी उत्तर में उल्लेख किया है कि प्रत्येक अपने विशेष विशेष नाम के पुकारे जाने से समझ जाता है, परन्तु यहाँ राजा ने प्रत्येक का विशेष नाम नहीं, वरन् सब का नाम लेकर उन्हें बुलाया है, जिससे वह नहीं बोले और समझ न सके, तो यह आपत्ति भी बे समझी की है. क्योंकि गार्ग्य का तात्पर्य यहाँ भिन्न-भिन्न ईश्वर या उपास्य से नहीं वरन् एक ही महानात्मा (प्राण) के भिन्न-भिन्न काम और भिन्न-भिन्न नाम से है। ऐसा तो कोई विद्वान् नहीं जो अनेक ईश्वर या उपास्य निश्चय करता हो।

(१८०) और हमने कर्मकांड में इसकी व्याख्या कर दी है कि याज्ञवल्क्य मुनि ने जल्दे हुए शाकल्य के प्रश्न पर पहले ३३ देवता वर्णन किए, फिर संक्षेप करते करते एक ही प्राण देवता सिद्ध किया। इस लिये वास्तव में करने की आत्मा एक है जिसे सर्व साधारण संसार का ईश्वर निश्चय करते हैं। और वही अन्य रूप से काम करती देवता कहलाती है। किंतु यहाँ यह समझना चाहिये कि वह अपना निजी देखना या समझना नहीं रखती, वरन् आत्मा के आभास से उसमें देखना या समझना आता है। और चेष्टा भी उसमें स्वाधीन नहीं, वरन् वह .. उसमें श्वास फूंकने से उसी तरह आजाती है, जैसा कि चुंबक के कारण लोहे में गति आती है। वास्तव में यह जो सर्व-साधारण लोग हर्ता, कर्ता, सृष्टा उसे जानते और उपास्य स्वरूप ठहराते

हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि वह बद्ध और जड़ है, यद्यपि करने का साधन वा यंत्र है ।

(१८१) वह दूसरी आत्मा देखने को, यद्यपि निजी देखना रखती है, करना या निश्चय या निजी विचार नहीं रखती, तो भी इस प्राण देवता से इन्द्रियों की सेवाएं उस में कहने मात्र संबंध पाती हैं और इन दूसरों के कामों से यही कर्त्ता भोक्ता होता है, वही सेव्य और यही गुण है जिसे निर्गुण कहते हैं, और उसी की पहचान पर मुक्ति निर्भर है ।

(१८२) वास्तव में तो है कि यही आत्मा ईश्वर है, पर देखना तो उस का निजी गुण है और कर्त्ता भोक्ता पन परधर्म इस में कल्पित हैं। जो लोग ईश्वर को [illegible] और अन्य भोक्ता मानते हैं वास्तव में भूल करते हैं, क्योंकि यह इसी प्राणात्मा को जो करने की सामर्थ्य [illegible] और देखना गुण जो आत्मा का है इस में [illegible] हुआ इसी का पाते हैं, इस लिये इस को अकर्त्ता अभोक्ता और माया से कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं, और यही इस आख्यायिका का यहाँ फल है ।

(१८३) अब कदाचित् [illegible] पर दृष्टिक्षेप करे कि फिर क्यों राजा ने हाथ से उसे हिला-हिला जगाया और क्यों ज़ोर से पुकारा ? तो इसका कारण यह है कि जैसे तिनकों को आग पर रख कर हिलाते और फूंकते हैं, जिससेकि शिघ्र अग्नि तिनकों पर प्रज्वलित हो जाय, इसी तरह हिलाने और उच्च स्वर से पुकारने से तात्पर्य यह था कि ये सेवक देवता जो गार्ग्य के उपास्य हैं, उस चेतन आत्मा से प्रज्वलित और दीप्तमान हो जायें और वह दीप्तमान हो गये । इस लिये वह सोया हुआ जाग उठा और उस के आने से वह सोचता समझता हो गया और सत्कार पूर्वक राजा से बातें करने लग गया ।

(१८४) राजा का तात्पर्य यह था कि इन सेवा करने वाले

देवताओं से अतिरिक्त एक दूसरा शुद्धात्मा भी है, जो केवल ज्योति है, जिस के कारण से ये काम करने के देवता प्रकाशित होते हैं और वह शुद्धात्मा कुछ करता नहीं, नित्य आनन्द में है, उस में कर्ता-भोक्ता-धर्म इन सेवकों की सेवाओं से कल्पित आ जाता है, सुषुप्ति में उस का अपना आनन्द पाया जाता है। और जैसे दूर गये को ज़ोर से पुकारते हैं और वह नहीं सुनता, वैसे ही यह देवता भी इन से बहुत दूर थे और शब्द न सुन सके, इसलिये सोये हुये को राजा ने हाथ से हिलाया ताकि उस से ये देवता प्रज्वलित हो जायँ।

(१८५) इन बातों से यह परिणाम निकला कि वह जो देखने की आत्मा है, वह कुछ नहीं करती, वरन् नित्य आनन्द में है, क्योंकि करना वास्तव में कष्ट है, और स्वामी संभव नह कि कष्ट पावे, कष्ट तो सेवकों को है जो करते और चलते हैं। और जिस के लिये वह सेवक सेवाएँ करते और चलते हैं, भोग कल्पित उसी के हैं। इस लिये येसब काम करने के देवता साधन सामग्री और सेवक हैं, और वही देखने की आत्मा इन में शिरोमणि स्वामी और निर्गुण है। इस हेतु कि इन में आई हुई वह शुद्धात्मा यद्यपि भोक्ता या कर्त्ता-सी प्रतीत होती है, तो भी वह वास्तव में न तो कर्त्ता न भोक्ता है, वरन् इन के कामों की साक्षी और नित्य आनन्द में है, और यही मनुष्य का वास्तव में अपना आप है। इसी से हम उस को अपना आत्मा नाम करते हैं। तथास्तु।

(१८६) यह आत्मा यद्यपि इकलौता है, विकारी नहीं, और वह करने की आत्मा विकारी शाखा-प्रशाखा में फैलती है, तो भी यह (आत्मा) उस में प्रत्येक स्थान पर प्रज्वलित हो जाता है, जैसा वह इस सोए हुए में जगाने के समय प्रज्वलित हुआ, वैसा दूसरे जागते मनुष्यों में वही प्रज्वलित है, और उसी

तरह चन्द्रलोक और सूर्यलोक में और ब्रह्मलोक में जहाँ-जहाँ यह करने की आत्मा फैली है, सब में यह शुद्धात्मा प्रज्वलित हुआ उन में उन के कामों के कारण कर्त्ता-भोक्ता होता है।

(१८७) मनुष्य में जितने भोग देने के लिये यह करने की आत्मा (प्राण) कर्म के बंधन में संक्षिप्त खुली है, मानवी-भोग इसी के हैं। देवताओं में जितने अधिक भोगों के लिये खुली है, देवताओं के भोग भी इसी के हैं, और ब्रह्मलोक में उत्तम पुण्यों के कारण सत्य संकल्प रूप में खुली है, वहां सत्य संकल्प के भोग भी इसी के हैं। वास्तव में यही मनुष्य, यही प्रजापति है, तो भी प्रजापति के लोक में यह आत्मा इस करने की आत्मा (प्राण) के कारण सत्य संकल्प आदिक भोग पाता है और मनुष्य में इसी के कारण से असत्य संकल्प आदिक भोग पाता है, वास्तव में अकर्ता, अभोक्ता, दृष्टि स्वरूप, आनन्द स्वरूप है; किंतु अनजान इन सत्य संकल्पादि उपाधियों से उसे ईश्वर और असत्य संकल्प आदि उपाधियों से मनुष्य मानते हैं, और इन्हीं उपाधियों के कारण उसे बद्ध जानते हैं, यद्यपि वह इनके बंधन के अधीन नहीं (क्योंकि निद्रा में इन बंधनों से वह तत्काल चला जाता है, इस लिये बद्ध नहीं), वही निर्गुण का निर्गुण है। यह गार्ग्य को उसने जतलाया।

(१८८) फिर इस हेतु कि यह करने की आत्मा (प्राण) और शरीर गृह की तरह रचे जाते हैं, बिना शरीर के आत्मा कुछ नहीं कर सकती और बिना आत्मा के शरीर स्थिर नहीं रहता। जैसा कि खंभों के आधार पर घर स्थिर होता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के आश्रय में शरीर स्थिर है। जिस प्रकार कि खंभो के निकालने से घर गिर जाता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के उखड़ने से शरीर भी गिर जाता है। इससे ज्ञात हुआ कि संपूर्ण देवता, जो करने की आत्मा है, खंभे की तरह

इस घर का अंश हैं ।

(१८९) यह स्पष्ट है कि जो घर आदि संघात से तैयार होता है, वह घर या उसके अंश के लिये नहीं होता, बरन् दूसरे के लिये होता है जो उसमें रहता और उसके उपयोग का भोग पाता है। यह कोई भी बुद्धिमान् नहीं निश्चय करता कि घर या उसका कोई भी अंश घर या उसके अंश का भोग है, बरन् उसी का जो उस संघात का अंश नहीं अर्थात् उससे भिन्न जो मनुष्य है, उसका भोग है। जब कि प्राण अर्थात् करने की आत्मा इस संघात का अंश है इस लिये भी करने की आत्मा भोक्ता नहीं, बरन् वही आत्मा जो संघात का अंश नहीं, सब से अलग है उसका कर्त्ता भोक्ता है।

(१९०) यदि कोई आपत्ति करे कि आत्मा भी तो संघात में आया, इसलिये भी क्यों नहीं संघात का अंश निश्चय किया जाता, तो हम बतलाते हैं कि यह आपत्ति मिथ्या है, क्योंकि आत्मा को उसी प्रभु ने बनाया और उसमें बुलाया। यदि वह संघात का अंश होता, तो इससे क्यों निकल जाता और फिर क्यों उसमें आ जाता?

(१९१) देखो मनुष्य घर में आता जाता है, घर का अंश नहीं हो जाता। क्योंकि घर का कोई भी अंश घर से अस्तित्व पर्यन्त पृथक् नहीं हो सकता। इस लिये मनुष्य घर के संघात का अंश नहीं बरन् स्वामी और उसका भोक्ता है। आत्मा भी नींद में इस संघात से निकल जाता और जाग्रत् में आ जाता है, परन्तु करने की आत्मा (प्राण) इसका अंश है, यावज्जीवन इससे नहीं उखड़ती, इस लिये यही प्राण इसका मालिक या कर्त्ता भोक्ता नहीं, बरन् वही आत्मा, जो नींद में अलग हो जाता और जाग्रत् में आ जाता है, उसका स्वामी, कर्त्ता-भोक्ता इससे असंग है।

(१६२) दूसरा कारण यह है कि भोग कर्मों के कारण से होता है। संघात का संघात से या संघात के अंश का संघात से अपने कर्मों से संबंध नहीं, बरन् वही संबंध है जो अंश का संघात से होता है। और आत्मा का कर्म-संबंध भोग पर्यंत है और विविध है। जब उसे जाग्रत् के भोग पाने होते हैं, तो जागता है। जब नींद के भोग पाने होते हैं, तो सो जाता है। और फिर जाग्रत् में भी (भोग) विविध हैं, कभी दुःख कभी सुख, कभी मोह कभी विवेक, कभी भलाइयों कभी बुराइयों के संबंध दिखाई देते हैं, किंतु अंश का पूर्ण से एक ही प्रकार का संबंध होता है, विविध नहीं होता।

(१९३) देखो, क्या छत क्या दीवारें, क्या दीवार की ईंटें, क्या खंभे, सबको घर के साथ एक ही संबंध परस्पर जोड़ने का है, उस से विभिन्न नहीं। परंतु मनुष्य को उसमें बैठना-सोना, खाना-पीना, गरम-ठंढ़ी हवा पाना, कभी इस कमरे में कभी उस कमरे में आना-जाना विविध अपेक्षा से विभिन्न संबंध होते हैं, इसलिये मनुष्य भोक्ता है, घर भोग्य है, और शरीर भी सहित करने की आत्माओं के, जो गार्ग्य ने दिखलाईं, एक ही प्रकार का मिलाप-संबंध यावज्जीवन रखते हैं। आत्मा विविध कर्म-संबंध रखता है, इसलिये भी प्राण कर्त्ता भोक्ता नहीं, यही आत्मा जो देखने की आत्मा है उनका स्वामी और उनका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१६४) फिर इस हेतु कि खंभे, ताक, लकड़ी, दरवाज़ा इत्यादि जो घर के अंश हैं, अपने कर्मों के कारण अपना जन्म या अस्तित्व नहीं पाते, बरन् सब मनुष्य के लिये बनाये जाते हैं। और मनुष्य का उन में भोग पाना अपनी मज़दूरी के कारण होता है, चाहे वह स्वयं मज़दूरी करके बनाता है या दूसरे से धन देकर तैयार कराता है, या भाड़े पर उसे उपयोग में लाता है। फलतः उनकी तैयारी मनुष्य के कर्मों से होती है, अपने

कर्मों से नहीं होती, इसलिये देह या प्राण जो करने की आत्मा है, अपने २ कर्मों से अस्तित्व नहीं पाती, बरन् आत्मा के कर्मों से बनाई गई है। इसलिये इसका स्वामी और कर्त्ता भोक्ता भी आत्मा है, प्राण नहीं।

(१६५) फलतः इस में देखता सुनता जानता मानता केवल आत्मा है, वह करने की आत्मा नहीं। जिस प्रकार घर में उस के अंश और उस की सामग्री साधन आदि भी यद्यपि मनुष्य की करने की आत्मा के यंत्र हैं, पर वह देखते सुनते जानते पहचानते नहीं, इस लिये वह भोक्ता भी घर के नहीं होते, बरन् उस का भोक्ता भी मनुष्य होता है जो जानता-पहचानता है, और यही मालिक है। इसी तरह मनुष्य में क्या शरीर क्या आभ्यंतरिक करने की आत्माएँ (प्राण) सब करने के साधन हैं, कुछ तो चलने के साधन हैं, कुछ पकड़ने के, कुछ देखने के, कुछ सुनने के, कुछ सोच-समझ विचार तथा निश्चय के साधन हैं। इनमें से स्वयं कोई भी जानता-पहचानता नहीं, बरन् यह आत्मा जानता-पहचानता है, इस लिये यही इस का स्वामी और यही इस का कर्त्ता-भोक्ता है।

(१६६) यदि कोई आपत्ति करे कि जिस तरह मनुष्य चेतन वाला घर का कर्त्ता-भोक्ता है, देवता भी चेतन वाले सुनते-समझते हैं, वह भी भोक्ता हो सकते हैं। तो हम उत्तर देते हैं कि यह आपत्ति यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि सोए हुए मनुष्य में जो देवता अर्थात् करने की आत्माएँ हैं, उन से चेतन अलग भोक्ता था, इस लिए उस समय चेतन वाले नहीं थे, अतः भोक्ता और कर्त्ता भी नहीं, जाग्रत् में जब वह चेतन वाले होते हैं, तो बोल चाल में उन्हें भी भोक्ता कहते हैं। वास्तव में भोक्ता चेतन है, चेतन वाले नहीं।

(१६७) वह जो चेतन वाले को भोक्ता और कर्त्ता जानता

है, अविद्या और भ्रांति से जानता है, जैसा कि सर्व साधारण लोग भी घर का भोक्ता मनुष्य को समझते हैं, यद्यपि मनुष्य भी एक इसी आत्मा का पहला घर है, और फिर उस के द्वारा बाहर का घर बरन् संसार-रूप घर इसी के भोग के लिये तैयार हुआ है, और सब का स्वामी और भोक्ता यही चेतन-आत्मा है। हाँ क्रम यह है कि पहले उस का शरीर उस का भोग है, और फिर उस का घर और फिर सारा संसार। इस लिये मनुष्य जो घरों का भोक्ता उदाहरण में दिखलाया है, केवल बाह्य रूप से है, क्योंकि सर्व-साधारण अविद्या के कारण उसे चेतन वाला जानते और भोक्ता ख्याल करते हैं। वास्तव में सारे संसार का भोक्ता यही आत्मा है, दूसरा नहीं।

(१९८) यद्यपि सारा संसार क्या यह क्या वह, सब इसी के भोग हैं, परन्तु अविद्या और कर्मों के बंधन में कुछ भोग पाता है कुछ नहीं पाता, बरन् कुछ चाहता है, नहीं मिलते, तो अपनी दीनता देखता है, और जब विद्यावान् होता है, तो अपने आप को इन आत्माओं और कर्मों के बन्धन से मुक्त देखता है (क्योंकि निद्रा में उसे कोई भी बन्धन नहीं होता), तो फिर यह सब का भोक्ता हो जाता है। इस तरह अविद्या और कर्मों के कारण यही बद्ध और विद्या के कारण यही मुक्त होता है, बरन् अपनी स्वतंत्रता में वह कर्ता हुआ अकर्ता, और भोक्ता हुआ अभोक्ता होता है।

(१९९) जब विद्या के कारण वह अपना स्वरूप अकर्त्ता अभोक्ता, नित्य मुक्त, अविनाशी आनन्द, सच्चिदानंद जानता है, तो उसे उतनी ही देर है, जब तक कि प्रारब्ध समाप्त नहीं होती, और फिर तो वह सब में सब कुछ होता हुआ सब का स्वामी, सब का भोक्ता, सत्य संकल्प होता है। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को सोए हुए मनुष्य के निकट ले जा कर हाथ

से हिला जुलाकर देखने वाली आत्मा का करने वाली आत्मा से विवेक कर दिखाया कि "ये जो करने की आत्माएँ हैं बद्ध, जड़ और अनात्मा हैं, और उपास्य होने योग्य नहीं। यह देखने की आत्मा जो हाथ से जगाने में इन में प्रज्वलित हो आई, इन से अलग, असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता, आनंदस्वरूप है, और इन्हीं में आई हुई सब की कर्त्ता भोक्ता, सब की मालिक है।" इति।

(२००) यही तेरा आत्मा है और यही उपास्य और सेव्य है, शेष सब सेवा की आत्माएँ हैं। अविद्या के कारण उस सेवा की आत्मा को, जो समष्टि प्राण है, सर्व साधारण लोग ईश्वर और उपास्य जानते हैं, यद्यपि यह एक निकरवनी करने की आत्मा है, और इसी के लिये सब कुछ करती है। यही उस में प्रज्वलित हुआ वास्तव में मुक्त परमेश्वर है और उसी के भीतर आया वह बद्ध नाम पाता है, अतः वही सगुण वही निर्गुण वही बद्ध वही मुक्त है। ये बंधन और ये देह उस के तेज वा प्रकाश हैं, अपने ही प्रकाशों में बंदी-सा हुआ संसारी और बद्ध नाम पाता है, वास्तव में न वह बद्ध है न संसारी, अविद्या के कारण अपने तेजों को उपास्य मानता आप दास बनता है। यही उसकी माया है।

(२०१) जब इस प्रकार राजा ने सोए हुए मनुष्य को हाथ से जगाया और वह उठा तो कहा—क्या तू जानता है कि यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ कहाँ था और कहाँ से आया? "तब गार्ग्य ने कहा—"मैं नहीं जानता कि यह कहाँ था और अब कहाँ से आया है।"

(२०२) तब राजा ने कहा—"देख, यह विज्ञानमय पुरुष जो केवल देखने की आत्मा है, जब वह सोता था, तो इन करने की आत्माओं की शक्तियाँ विज्ञान से लेकर हृदय-कमल के भीतर जा सोया था। जब इस प्रकार यह हृदयाकाश में जो

जब का आकाश है चला जाता है, तो कहा जाता है कि वह सोता है, वास्तव में वह सोता नहीं, वरन् उन करने की आत्माओं का प्रयोग नहीं करता है और उन की शक्तियाँ इस के साथ चली जाती हैं। इसलिये यों कहा जाता है कि वह सूंघने, वाक्, चक्षु, और कर्ण की शक्तियों तथा मन की शक्ति को अपने साथ ले गया। यहां मालूम हो सकता है कि वास्तव में वह अकर्त्ता-अभोक्ता केवल दृष्टि और आनंद-मात्र है, उन के साथ मिलने से वह संसारी और बद्ध होता है। और ये संसारी बंधन उसे कोई बांध नहीं लेते, यदि बाँध लेते तो किस प्रकार ऐसी सुगमता से नींद में उन से अलग हो जाता।

(२०३) हे गार्ग्य ! इस प्रकार की दरियाफ्त से विवेक हो सकता है कि वह तेरा आत्मा है, क्योंकि तू उसके सोए हुए का निश्चय करता है कि मैं सो गया। और जब वह फिर इन करने की आत्माओं को बर्तता है, तू निश्चय करता है कि मैं सूंघता, बोलता, सुनता, सोचता और समझता हूँ। फिर ये सब गुण तुम में दूसरों के कल्पित होते हैं। इन कल्पित कामों के समय भी तू वास्तव में कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता। तो भी जैसे सेना लड़ती है, तो यही कहा जाता है कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ बिन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ बनाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नहीं हो जाता, वरन् कर्त्ता वह होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता भोक्ता, संसारी, बद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुतः ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्यमुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सब तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इस से बढ़ कर आगे कुछ नहीं।

(२०५) देखो, यदि यह करने की आत्माएँ उसे वास्तव में बद्ध कर लेतीं, तो बन्धन से बंदी (कैदी), जब तक बन्धन तोड़ा न जाय, नहीं छुट जाता। और यह तो इन बंधनों (उपाधियों) के होते हुए भी नींद में यों वेबंध (निरुपाधि) हो जाता है जैसा कि कभी भी बद्ध नहीं हुआ। और स्वप्न और जागृति में भी जब सैर करता है, तो यद्यपि इन उपाधियों में वह बंद-सा प्रतीत होता है, परंतु तब भी बद्ध नहीं होता, उसी तरह मुक्त का मुक्त है।

(२०६) क्योंकि देखो, जब यह स्वप्न में आता है, तो यह उसकी स्वप्न लोक की सैर है, यहाँ कभी तो महाराजा की तरह होता है, कभी महाब्राह्मण की तरह, कभी कंगाल, कभी अमीर, भाँति २ के पराये धर्म पाता उनके धर्मों से धर्म वाला-सा होता है। यद्यपि स्वप्न में वह उन्हें अपने धर्म मानता है, किंतु जाग्रत में आया निश्चय पाता है कि वह सब धर्म स्वप्न के अन हुए मैं देखता था। अतः इस निश्चय से सिद्ध होता है कि वह स्वप्न में आया स्वप्न लोक की सैर करता उनके बंधनों में नहीं आ जाता।

(२०७) जाग्रत में भी आत्मा जाग्रती सैर करता है, क्योंकि जिस तरह स्वप्न का लोक उस का स्वप्न-राज्य है, उसी तरह जाग्रत् का लोक उसका जाग्रत्-राज्य है। यहाँ भी इन्द्रियों के बंधन में आया हुआ बद्ध सा होता है, परंतु वास्तव में बंदी नहीं होता, वरन् जिस तरह स्वप्न-राज्य में खयालों के बंधन के कारण अन हुए भोग पाता है, उसी तरह इन्द्रियों की उपाधियों में आया हुआ इंद्रियों के अन हुए भोग पाता है। उन उपाधियों और उन उपाधियों के भोगों में लगावट नहीं पाता, उसी तरह असंग रहता है, जैसा कि स्वप्नलोक में स्वाप्निक सैर करता हुआ असंग रहता है।

(२०८) जाग्रत् और स्वप्न के बन्धन उसे बंदी नहीं करते, क्योंकि जहाँ उपाधियाँ किसी को बन्दी करलें, फिर दूसरे लोक में उसे सैर करनी नहीं मिलती। यहां तो निश्चय होता है कि वह सम्राट् के समान स्वतंत्र, दोनों लोकों में क्या जाग्रत क्या स्वप्न, जो उस के जाग्रत् और स्वप्न-राज्य हैं, सैर करता है। जिस प्रकार सम्राट् भी अपने राज्य में सैर करता बन्दी नहीं होता, वरन् स्वतन्त्र है, इसी तरह यह भी अपने साम्राज्यों में, जो जाग्रत् स्वप्न हैं, फिरता हुआ उन का अधीन नहीं, बरन् उन का स्वामी और पति है, और उसी से ये सब शक्तियाँ पाते उस के लिये काम करते हैं।

(२०९) जिस प्रकार सम्राट् भी अपने सेवकों की शक्तियाँ और उच्च पद छीन लेता है और काम से पृथक् कर देता है, उसी तरह यह भी इंद्रिय-रूपी सेवकों को काम से पृथक् करके सुषुप्ति में जो उस का सुषुप्ति-राज्य है चला जाता है, फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि वह इन्द्रियों या मनोवृत्तियों का बँधुआ (उपाधिवान्) या अधीनी है ? कदापि नहीं। सुषुप्ति में भी अविद्या और अज्ञान का बन्धन उस में उसी तरह कल्पित होता है जिस तरह स्वप्न में खयाल या कल्पना का बन्धन होता है, या जाग्रत् में इन्द्रियों का बन्धन होता है। यदि सुषुप्ति में अविद्या उसे बन्दी करती, तो किस प्रकार जाग्रत् वा स्वप्न में उसे सैर होती ? बरन् जिस प्रकार यह इंद्रियों और मनोवृत्तियों की शक्तियां छीन लेता और उन्हें काम से पृथक् करता हुआ सुषुप्ति में चला जाता है, उसी तरह अविद्या की शक्तियाँ छीन लेता और उन्हें फेंक देता हुआ स्वप्न और जाग्रत् में आ जाता है।

(२१०) तो ज्ञात हुआ कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, कोई भी इस सम्राट को बंदी नहीं कर सकता, बरन्

सब इसी के राज्य और इसी के सेवक, इसी के भोग और इसी की विभूतियाँ वा तेज हैं । अपनी ही विभूतियों में आप ही सैर करने वाला और आपही बंदी-सा होता पराये के बंधनों से बद्ध और पराये के दुख-पीड़ाओं से दुःखी और पीड़ित-सा प्रतीत होता है । तीनों लोकों में फिरता प्रत्येक लोक के बर्ताव और नियम व विधान अपने में मानता मनुष्य-सा निश्चत होता है ।

(२११) जब वह इस प्रकार विवेक करके जानता है कि न तो वह दृष्ट न कल्पित न बुद्धि-जन्य न अज्ञान-जन्य अवस्थाओं में बंदी होता है, वरन् दृष्ट में आया हुआ दृश्य को, कल्पित में आया हुआ कल्पना को, बुद्धि-जन्य में आया हुआ बुद्धियों को, अज्ञानमयी दशा में आया हुआ मूढ़ता को देखता है, तो वह क्या मूढ़ता, क्या बुद्धि, क्या शोच, और क्या दृश्य इन सब से परे सब से अलग, और सब से पवित्र, उन का साक्षी, देखने वाला है । यही पद उस का तुरीय है, और यही चतुर्थ पद उस का कैवल्य मुक्ति है। और तेरा भी यही पद है, पर तू जानता नहीं ।

(२१२) क्योंकि तू जानता नहीं, इसलिये सैर करता हुआ भी विषयों में बंदी हुआ विषय-स्पर्श के पीड़ा और सुख तू अपने में मानता है । देखो, यदि कोई तुम्हें मारता है, तो वास्तव में तुम्हारे शरीर को मारता है, और शरीर और संघात के मिलाप से जीता शरीर पीड़ा पाता है (क्योंकि जब विषय-स्पर्श छूट जाता है, तो फिर यह चोट से पीड़ा नहीं पाता, तो ज्ञात हुआ कि शरीर को सुख दुख विषयों के मिलाप के कारण से ह), और यह उस संघात का धर्म है, तेरा धर्म नहीं । तू तो उस का देखने वाला साक्षी है, क्योंकि तू उस चोट को, उस संघात को और उस की पीड़ा को देखता है और साक्षी देता है कि उसे चोट लगी और पीड़ा हुई । और स्पष्ट है कि जिसे चोट लगती है और पीड़ा होती है वह दूसरा है और दिखाई देता

है। और वह जो उसे देखता है और साक्षी देता है, दूसरा है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि तुझे चोट लगी और तुझे पीड़ा हुई ?

(२१३) किंतु तू जो अपने आप को साक्षी नहीं जानता, इस अविद्या के कारण उन्हें अपने में मानता है, बरन् अपने आप को संघात जानता है, और यह तेरा निश्चय भी कि "मुझे पीड़ा हुई", उसी प्रकार की भूल है जैसा कि उदाहरण में कहते हैं कि * "मारे जुमा तो फाते खैरा, यह तेरी बढ़ियाई"। इस प्रकार तू पराये के पापों से पापी और पराये के दुखों से दुखी होता दीन दास ठहरता है।

(२१४) तू बिचार करके देख कि जिस प्रकार तू जाग्रत् में जाग्रत् शरीर को अपना आप मानता है और उस के दुख-सुख से दुखी सुखी होता है, उसी तरह स्वप्न में भी तू काल्प-निक शरीर को अपना आप मानता है और कल्पित मनुष्यों से धक्के खाता और मार-पीट खाता-सा होता है। वहाँ स्वप्न में यद्यपि तू पीड़ा पाता और चिल्लाता है, किंतु वहाँ न तो तेरा शरीर होता है और न कोई मारने वाला। पर वहाँ ये सब तेरी निद्रा की बिचित्रताएँ हैं। ऐसे ही यहाँ जाग्रत् में भी न तो कोई मारता है न मार खाता है, ये तेरी जाग्रत् की विचित्रताएँ हैं। क्या नींद क्या जाग्रत्, तेरी अविद्या के रचित लोक हैं, और तेरा ही मोह संक्षिप्त संघात में तुझे अभिमान दिलाता दुखी-सुखी करता है और भोक्ता बनाता है।

(२१५) जब तू भली भाँति विचार करेगा और जान लेगा कि जैसे सुषुप्ति में जब वह जाता है, तो वहाँ न कोई काम होता है और न कोई दूसरा, बरन् ठीक आनन्द विद्यमान होता है। ऐसे ही तेरा स्वरूप वह है जिसे न तो तलवार काट सकती है,

* लखनऊ में इस तरह कहते हैं कि "मारे घुटना फूटे कपार"।

न आग जला सकती है, न पानी भिगो सकता है, और न वायु सुखा सकती है। तो जाग्रत् स्वप्न में ये (दैहिक दुख-पीड़ा इत्यादि) तुझे कुछ नहीं कर सकते। यह तब होता है जब यह इन नाड़ियों से सरकता है और अपने मुख्य लोक में हृदय के कोष के भीतर, जो आकाश है, चला जाता है।

(२१६) इस हृदय के कोष से जिसे संस्कृत में पुरीतका नाड़ी कहते हैं, एक नाड़ी निकलती है जिस से बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ शाखा प्रति शाखा होकर मस्तिष्क को आती जाती हैं, और ये नाड़ियाँ संस्कृत में हिता-नाड़ियाँ कहलाती हैं, क्योंकि जब यह नित्य नैमित्तिक तथा पुण्य कर्मों को करता है, तो इस हिता नाम नाड़ियों से निकलता देवयान सड़क पर चलता हुआ ब्रह्मलोक को जाता है, जहाँ इस की असलियत पूरी २ इसे खुलती है और स्वतंत्र वा मुक्त स्वरूप भी स्पष्ट पाता है। और इस हेतु कि यही उस का अंतिम हित है, और यह नाड़ी उस के पाने का द्वार है, इस लिये इसको हिता नाड़ी कहते हैं।

(२१७) इन हिता नाम नाड़ियों में से सरकता हुआ हृदय के कोष में उतर कर, आकाश में जो हृदयाकाश कहलाता है, जब सुख पाता है, तो उसे सुषुप्ति बोलते हैं, वहाँ दूसरी सेवा की आत्मा की पहुँच नहीं, इस लिये अपने निर्गुण स्वरूप को पाता है। और इस प्रकार आनन्द करता है जैसे कोई दुधमुँहा शिशु दुग्ध पान करके सो जाता है, या कोई महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी अपने विचार के वेग से अपने साक्षी आत्मा में स्थित रहता नित्य मुक्त होता है। इसी तरह यह भी स्वाभाविक (स्वरूप में स्थित) होता है, क्योंकि वह अंत में स्वामी है। किंतु हृदय के भीतर अविद्या अवश्य रहती है।

(२१८) परंतु वह व्यक्ति धन्य है, जो इसे पहचान कर निदिध्यासन करता है, और जीवन भर जाग्रत् और स्वप्न में

भी आकर अपने आप को साक्षी जानता, सब बर्ताव को उपाधियों के धर्म देखता, और अपने नित्य आनन्द में स्थित रहता है। वही वास्तव में महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है, और वही पूर्ण मुक्त है। वह जो इसे नहीं जानते, वही बद्ध जीव हैं। उस जीवन मुक्त को तो मृत्यु के पश्चात् फिर संसार नहीं, बरन् वही द्युलोक उस का सिंहासन है, और अविद्या तत्काल दूर हो जाती है, और सत्यसंकल्प आदिक भिन्न हिरण्य गर्भ के धर्म उस में सुफ्त प्रसाद में आरोपित आ जाते हैं। और यह बद्ध जीव जन्म-मरण-रूप संसार पाता है। इस कारण कि अविद्या और मोह में बँधा हुआ है, उसे जीव कहते हैं, और इसे ईश्वर। इस प्रकार राजा ने गार्ग्य को समझाया, और उस ने इस से प्रसाद पाकर धन्यवाद अर्पण किया।

(२१९) ऐ गार्ग्य! यही आत्मा जो अद्वैत, अखंड, सुषुप्ति में अकेला सिद्ध हुआ है, यही पर ब्रह्म है। इसी से समस्त करने की आत्माएँ, जो प्राण कहलाती हैं, निकलती हैं। सर्वलोक, सर्व देवता और सर्व भूत इससे इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कि अग्नि का प्रकाश अग्नि से उत्पन्न होता है, या जिस प्रकार मकड़ी से जाल के रूप में तारें निकलती हैं। उसकी उपनिषद यह है कि वह सत का भी सत है, प्राण भी सत है, और वह प्राणों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद अर्थात् पहचान है।

दूसरा अध्याय।

(१) संक्षिप्त तात्पर्य ऊपर की आख्यायिका का यह है कि "मैं तुझे ब्रह्म बतलाता हूँ", ऐसा गार्ग्य का दावा था और

करने की आत्माओं (प्राणों) को भी, जो उसने ब्रह्म बतलाया, राजा ने जड़ सिद्ध करके इस तरह संसार में उन्हें प्रविष्ट किया कि यद्यपि वे उपास्य हैं और उनकी उपासना से फल भी होते हैं, परन्तु वह फल भी संसारी हैं। और फिर देखने की आत्मा को करने की आत्मा से विवेक करके सुषुप्तिमें दिखलाया, जहाँ न तो किसी गुण का उसमें संबंध है और न कोई साधन या करने की आत्मा साथ है, और न कोई बिना आत्मा के उपादान है, बरन् उदय अखंड वस्तु मात्र अपना आत्मा वहाँ रहता है। वही आत्मा अकेला, क्यों कबसे रहित (अर्थात् देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित) है, क्योंकि न तो उस के लिये वहां साधन हैं न उपादान, जिससे संसार की रचना करे, बरन् आप ही उपादान कारण, आप ही जगत् का कर्त्ता है। विज्ञानोपाधि में जाग्रत के समय वही केवल ज्योति सिद्ध होता है, जैसा कि हाथ लगा कर जगाने में राजा ने उसे चेतन, ज्योतियोंकी ज्योति सिद्ध कर दिखाया। और जाग्रत् में उसी विज्ञानमय से ज्ञान-इंद्रियाँ प्रभा के समान, जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं।

(२) फिर उसी आत्मा को राजा ने, उनसे पृथक्, उन की शक्तियाँ छीन कर, अपनी महिमा में जो विशेषानंद है दिखलाया, और सिद्ध किया कि सब इन्द्रियाँ जो करने की आत्माएँ हैं, उसमें उसी तरह लय हो जाती हैं जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य डूबते समय सूर्य में लय हो जाती हैं। और जो जिसमें लय होता है उससे निकलता है। यह नियम है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी उदय काल में उसी से फिर निकलती हैं।

(३) और फिर अंत में ये उदाहरण दिये कि जिस प्रकार 'अग्नि की प्रभाएँ अग्नि से उत्पन्न होती हैं, और मकड़ी की तारें मकड़ी से निकलती हैं, उसी तरह आत्मा से क्या करने

की आत्माएँ, क्या लोक परलोक, क्या देवता जो उनके विश्वधानी और सबके उपास्य हैं, और क्या आकाश से पृथिवी पर्यंत भूत सबके सब उत्पन्न होते हैं। और ये सब सत हैं, और यही आत्मा इन सतों का भी सत है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान है। इस तरह राजा ने गार्ग्य को आत्मा ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४)* अब इसमें जो सूक्ष्म भेद हैं जिस की व्याख्या में मूर्त अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण वर्णन करते हैं, और हम भाषाविदों के लिये कहते हैं, वह ये हैं, कि सामान्य लोग यह जानते हैं, ईश्वर परमात्मा जगत् का करीगर है। जिस तरह कारीगर बढ़ई लकड़ी से तख्त बनाता है, इसी तरह ईश्वर भी असत् (शून्यता) से सत् (जगत्) बनाता है। और जैसा तख्त से बढ़ई जो उस का कर्त्ता है अलग है, इसी तरह ईश्वर भी संसार से अलग है जो किसी ने देखा-भाला नहीं।

(५) किंतु इस वैदिक आख्यायिका से, जो ऊपर अनुवाद की गई है, ईश्वर—आत्मा कारीगर तो सिद्ध होता है, परंतु जगत् से अलग नहीं कहा जाता, क्योंकि समस्त जगत् क्या शरीर, क्या प्राण, सब उसकी प्रभायें वा बिभूतियाँ सिद्ध की हैं, और वही उसका उपादान कारण और वही उस का रचयिता ठहरता है। और जब कि वही उस का उपादान है, तो नास्ति से जगत्की अस्ति नहीं होती, वरन् अस्ति से सत् होता है। और दार्शनिक नियम के अनुसार भी यही ठीक है, क्यों कि दार्शनिक तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं कि नास्ति से अस्ति का होना असंभव है। यदि नास्ति से कोई वस्तु उत्पन्न हो जाती, तो सब से सबकी उत्पत्ति हो जाती, और ऐसा होता

---

* बृहदारण्यकोपनिषद के द्वितीयाध्याय के दूसरे और तीसरे ब्राह्मण को शिशु और मूर्त अमूर्त ब्राह्मण कहते हैं।

नहीं। तो सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण में उसी का आत्म-रूप हो कर छिपा रहता है, और बर्ताव के समय उसी कारण से प्रकट हो आता है।

(६) देखो, जब मक्खन का चाहने वाला दूध को लेता है, मिट्टी नही लेता, तो वह जानता है कि दूध में मक्खन केंद्रित है, मिट्टी में नहीं, और कुम्हार दूध को नही बरन् मिट्टी को उठाता है, क्योंकि वह जानता है कि कूज़ा मिट्टी में केन्द्रित है दूध में नहीं। यदि नास्ति (असत) से अस्ति (सत) हो सकता, तो मक्खन का बिलोने वाला मिट्टी में से भी मक्खन बना लेता, और कूज़ा का बनाने वाला दूध से कूजा बना लेता, या जब कुछ भी उपादान न हो, तो यों ही दूध का दोहने वाला मक्खन असत् (शून्यता) से बना लेता, और इसी तरह कूज़ेवाला विना मिट्टी के कूज़ा तैयार कर सकता।

(७)देखो, तिरखान भी बिना लकड़ी चौकी नहीं तैयार कर सकता, इंजीनियर भी बिना मसाले के घर नहीं बना सकता, तो ज्ञात हुआ कि नास्ति से किसी वस्तु का बनाया जाना कठिन है, बरन् स्वयं उपादान अपनी दूसरी कांतिमें जो कारीगर उसे बनाता है, कार्य होकर दिखाई देता है। अतः वह कारण ही अपनी दूसरी कान्ति में आया कार्य कहलाता है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि यह विचित्र संसार असत से सत हो गया हो? बरन् वही ईश्वर-आत्मा अपनी विविधि महिमा और विभूतियों में प्रभावान् वा विभूतिमान् हुआ जगत् रूप हो रहा है। यही सत्य है। और जबकि वेद की श्रुतियाँ भी इसी बात का निश्चय करती हैं, तो तत्ववेत्ताओं की युक्ति को और भी दृढ़ता प्राप्त है।

(८) वह जो इसके विरुद्ध जगत् को असत से सत मानते हैं, अनजान हैं। तत्ववेत्ताओं और श्रुतियों के आगे उनकी सत्यता,

जो अनपढ़ हैं कुछ भी नहीं हैं। फिर इस हेतु कि श्रुति स्पष्ट वर्णन करती है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिस में स्थित रहता है, और विनाश के समय फिर जिस में लय होता है, वही ब्रह्म है। तो ज्ञात हुआ कि ब्रह्म उस का उपादान कारण भी है, किंतु तिरखान की तरह नहीं, क्योंकि तिरखान जो तख़त बनाता है, तो फिर वह तिरखान में स्थित नहीं रहता, बरन् संभव है कि तिरखान मर जाय और तख़त बना रहे। इसी तरह जब तख़त टूट जाता है, तो तिरखान में लय नहीं हो जाता।

(९) बरन् लकड़ी में तख़त उत्पन्न होता है और फिर लकड़ी में उत्पन्न हुआ स्थित रहता है। यदि लकड़ी न हो, तो फिर तख़त भी जाता रहे। फिर जब तोड़ा जाता है तो लकड़ी में लय हो जाता है। इस लकड़ी को तख़त का उपादान कारण कहते हैं। ईश्वर आत्मा भी वास्तव में जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि उस में यह जगत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ उसी में ठहरता है, और दूर हुआ भी उसी में लय होता है। ऐसा श्रुति निश्चय करती है।

(१०) यह तो कोई भी नहीं मान सकता कि ईश्वर परमात्मा न हो और जगत् ठहरा रहे, जैसा तिरखान न हो तो तख़त ठहरा रहता है। इस प्रकार के तर्क और श्रुतियों के द्वारा जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही निकलता है, जो सत है और जगत् भी उसी सत से निकला उसमें ठहरा हुआ सत है। और प्राण भी एक उसी जगत् का अंश हैं, वह भी उसी से जो असली सत् है निकलते उसी में ठहरते उसी में अस्तित्व पाते हैं। इसी कारण से राजा अजातशत्रु ने कहा कि प्राण सत हैं और वह प्राणों का भी सत है, यही उसकी पहचान है।

(११) निस्संदेह लकड़ी तख़त का उपादान कारण है,

परंतु कर्त्ता नहीं, क्योंकि जड़ है। वह जो जड़ होता है, उपादान तो हो सकता है, कर्त्ता नहीं हो सकता। फिर यह नहीं कि चेतन कर्त्ता तो हो सकता है, उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्प कभी कुंडली मारता है, कभी लंबा हो जाता है, ऐसा निश्चय होता है। इस प्रकार कुंडल मारने और लंबा होने का सर्प आप ही उपादान और आप ही कर्त्ता हो जाता है। देखो, देवदत्त खड़ा होता है और बैठ जाता है, तो बैठने और खड़े होने का देवदत्त ही कर्त्ता, देवदत्त ही उपादान है, इसी कारण ईश्वर परमात्मा चेतन देव में यह आपत्ति नहीं आ सकती कि वह कर्त्ता तो है उपादान नहीं हो सकता। वरन् निश्चय कर सकते हैं कि वह जगत् का आप ही कर्त्ता आप ही उपादान है।

(१२) जब कि वह जगत् का आप ही कर्त्ता आप ही उपादान हो सकता है, तो किस प्रकार निश्चय करें कि ईश्वर ने जगत् को असत् से सत् किया? वरन् निश्चय कर सकते हैं कि स्वयं परमात्मा जगत् रूप में प्रकाशमान हुआ है। और यही सत्य है, और वही उस का कारीगर है, जैसा कि एक अभिनय करने वाला जब तरह-तरह के स्वाँग बन-बन आता है, तो आप ही स्वाँगों का कर्त्ता और आप ही उपादान है, वरन् प्रत्येक स्वाँग में जुदा-जुदा रूप धारण करता विचित्र अभिनेता निश्चित होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की रचना करता विचित्र शिल्पी निश्चित होता है, जिस में तत्ववेत्ताओं की बुद्धि भी कुंठित (दंग) है।

(१३) कदाचित् कोई अनजान तार्किक यह आपत्ति करे कि उपादान जब बदलता है, तो कार्य उत्पन्न होता है। यदि परमात्मा को जगत् का उपादान मान लें, तो अवश्य है कि उसे बदलने वाला भी मानें। परंतु ऐसा नहीं होता, इसलिये मानना चाहिये कि वह असत् से विना उपादान के जगत् बनाता

है, तो उस की यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि जैसा उस का बदलना कठिन है, वैसा असत् से सत् होना भी कठिन है। दोनों नहीं हो सकते।

(१४) जब दीपक में उस की प्रभाएँ प्रकट होती हैं, तो दीपक वास्तव में बदल नहीं जाता, या सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, तो सूर्य विकारवान् नहीं हो जाता, सोने में सोनार भूषण बनाता है, तो सोना ताँबा नहीं हो जाता। मरु में मृगतृष्णा प्रतीत होती है, तो मरु जल नहीं हो जाता, रज्जु में सर्प का भान होता है, तो रज्जु सर्प नहीं बन जाती, सीप में चाँदी का ख्याल उत्पन्न होता है, तो सीप चाँदी नहीं हो जाती है। इसी तरह परमात्मा भी यदि नाना जगत् रूप होकर दिखाई दिया है, तो वह कुछ जगत् नहीं बन गया।

(१५) बरन् जिस प्रकार चाँदी के विचार में सीप सीप ही है, सर्प के निश्चय में रज्जु रज्जु ही है: मरुस्थल में यदि जल दिखाई देता है, पर बालू नहीं भीग जाती, दीपक यद्यपि अगणित किरणें मारता है, पर दीपक दूर नहीं हो जाता, बरन् सब किरणें दीपक की विचित्र दृष्टि गोचर होती हैं। इसी तरह परमात्मा भी कुछ जगत् नहीं हो जाता, बरन् संसार इसी की एक सामान्य चमक है। लाल की आब लाल रूप है, पर लाल अपनी आब में दिखाई देता है, बदल नहीं जाता।

(१६) जिस प्रकार दीपक की किरणें दीपक की केवल एक चमक है और उससे भिन्न नहीं, या लाला की आब ताब (कांति) उसी की चमत्कारी (स्पष्टिकरण) है, और उससे भिन्न नहीं,। इसी तरह नाना रूप जगत् भी चेतन (ज्योति) परमात्मा की चमक है जो उससे भिन्न नहीं। और यह स्पष्ट है कि दीपक की किरणों का उपादान वही दीपक है. या लाल की आब (चमक) का उपादान वही लाल है। और न तो दीपक बिना दीपक के हो

गया है, न लाल संगरेजा (तुच्छ पत्थर) बन गया है, वरन् दीपक अपनी किरणों में प्रकाशमान और लाल अपनी आब (चमक) में अनमोल सिद्ध होता है। इसी तरह ईश्वर परमात्मा भी अपनी संसार रूपी किरणों में परम ज्योति स्वरूप सर्व शक्तिमान प्रकट होता है, किस प्रकार विचार करें कि वह तख्त के समान काटा गया है, या मिट्टी के समान सड़ाया गया है, जो कूजा बनाने में गूंधी जाती है।

(१७) वरन् जिस तरह देवदत्त अपनी ऊठक बैठक में बदन ही बना रहता है, या सर्प अपने कुंडल मारने या लंबे होने में वही सर्प का सर्प बना रहता है, क्योंकि न तो देवदत्त बदलता है न सर्प, केवल उनकी आकृतियाँ (विभूतियां) बदलती हैं। इसी तरह ईश्वर परमात्मा भी जगत् रूप विभूति में आया हुआ आप नहीं बदलता, वरन् उसकी माया बदलती है। और यह माया उसकी महिमा (विभूति) है, जो उससे भिन्न नहीं।

(१८) जिस प्रकार सर्प कुंडल की महिमा (आकार) में आवे या लंबाई की शोभा पावे, या ऊपर को अपना फन उठाकर हिलावे, तो विविध आकारों (विभूतियों) में प्रकाश पाता है, पर साँप नहीं बदलता, वरन् आदमी उसे हर रूप में वही साँप पहचानते हैं। इसी तरह परमात्मा भी मानों अपनी माया की विचित्र आकृतियों में एक साथ जगत् रूप होकर प्रकट हुआ है, तो भी हम उसे हर रूप में वही अपना आत्मा पहचानते हैं, फिर उसकी आकृतियों की विचित्रता पर हम न्योछावर होते हैं, तत्ववेत्ता तो स्वयं विस्मित हैं।

(१९) यही कारण है कि राजा अजात शत्रु ने उदाहरण में यों जतलाया कि जैसे अग्नि की किरणें अग्नि से उत्पन्न होती हैं, इसी तरह इस ईश्वर परमात्मा से सर्व प्राण, सर्वलोक, सर्व देवता और सर्व भूत उत्पन्न होते हैं। अतः श्रुति का अभिप्राय

यहां यह है कि जैसे अग्नि अपनी किरणों की आप ही उपादान है, इसी तरह परमात्मा भी इन सब का आप ही उपादान है। किंतु इस हेतु कि अग्नि स्वयं जड़ है, उपादान तो हो सकती है, पर कर्त्ता नहीं हो सकती, बरन् उसमें से किरणें स्वाभाविक रूप से निकलती हैं। इस लिये दूसरा उदाहरण स्मरण किया कि जैसे मकड़ी भी अपनी तारें शिकार के लिये फैलाती है, वैसा ही उससे जगत् फैला है।

(२०) देखो, मकड़ी अपनी तारें फैलाने में स्वाभाविक रीति से विवश नहीं बरन् चेतन होने के कारण स्वाधीन है, चाहे फैलावे चाहे न फैलावे। इसी तरह यद्यपि जगत् भी परमात्मा की किरणें हैं, परंतु अग्नि की किरणों के रूप में उससे विवशतः नहीं प्रकट होतीं, बरन् उनके प्रकट होने में वह पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण सामर्थ्यवान् है। यही स्वाधीनता और यही पूर्ण शक्ति उसकी माया है। वह अपने अधिकार से उन्हें उत्पन्न करता और अपने ही अधिकार से उन्हें लोप करता है, यह श्रुति का अभिप्राय है।

(२१) किंतु मकड़ी में खयाल हो सकता है कि उससे पंच भौतिक शरीर भिन्न है और चेतन जीव जो उसमें केंद्रित है भिन्न है, शरीर तो तारों का उपादान है और जीव चेतन कर्त्ता है। इस लिये श्रुति ने अग्नि की किरणों को भी उदाहरण में सम्मिलित किया है कि जिस प्रकार अग्नि का तेज (किरण) अग्नि से भिन्न नहीं, उसी तरह जगत् की नाना किरणें भी चेतन से भिन्न नहीं, बरन् उसी की दमक चमक हैं। इस लिये स्वाधीनता में तो मकड़ी का उदाहरण युक्ततम है, और उसी का प्रकाश होने में अग्नि का उदाहरण युक्ततम है, और यह दोनों उदाहरण ठीक उतरते हैं।

(२२) देखो, अग्नि की किरण अग्नि से भिन्न नहीं, बरन्

अग्नि है, तो भी अग्नि में प्रकट हुई भिन्न नाम-रूप पाती है, क्योंकि उसे सर्व-साधारण अग्नि नहीं बरन् प्रकाश नाम देते हैं। और यद्यपि वह अग्नि का ही स्वरूप है, तो भी आँखों को झपका देता है, इस लिये उसका स्वरूप भी अग्नि से चमक मात्र कल्पना करते हैं, और फिर विवेचना करने से वह अग्नि के सिवा कुछ भी असलीयत नहीं रखता, बरन् केवल नाम रूप मात्र कथनीय है।

(२३) इसी तरह जगत् भी विविध गुणों अर्थात् नाम-रूप से प्रकाश की भाँति उस ज्योति स्वरूप परमात्मा में प्रकट हुआ है, क्योंकि जिस वस्तु में योग की दृष्टि से अर्थात् पूर्ण ध्यान देकर देखते हैं, तो या उसकी आकृति है, जो दूसरी वस्तु की आकृति से भिन्न होती है, या उस का नाम है जो हम ने उस की पहचान के लिये औरों से पृथक् कल्पित कर लिया है, शेष बिना नाम और रूप के केवल सत् है जो सब में सामान्य है, और वही सत् परमात्मा है। अतः ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार अग्नि में प्रकाश भी अपने नाम रूप से प्रकट होता है, और अग्नि ही उस में भीतर बाहर व्यापक रहती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु के नाम-रूप में अस्ति भी भीतर बाहर व्यापक रहती है, और इसी कारण प्रत्येक का निश्चय शब्द "है" से होता है। तो सिद्ध हुआ कि जगत् केवल नाम-रूप है, जो परमात्मा में दिखाई देता है, और परमात्मा की किरणें हैं, जो उस से भिन्न नहीं।

(२४) देखो, अग्नि की किरणों में बिना अग्नि के उन की सत्यता ज्ञात करें, तो केवल वह मिथ्या नाम रूप ही सिद्ध होगा। इसी तरह जगत् को भी बिना "है" के पता लगावें तो केवल नाम-रूप मात्र मिथ्या ही सिद्ध होगा। क्योंकि जो है। नहीं, किंतु दिखाई दे, वही मिथ्या, वही कल्पित कहलाता है।

देखो, मरुस्थल में पानी है तो नहीं, पर दिखाई देता है, इसी कारण सर्व-साधारण उसे मिथ्या कहते हैं। और यहाँ भी यदि बिचार से देखें, तो किरणों की असलीयत अर्थात् नाम-रूप मरुस्थल के जल की तरह विना "है" के, जो परमात्मा है, मिथ्या ह, किंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल बालुका के अस्तित्व में अस्तित्व पाया हुआ-सा दिखाई देता है, उसी तरह यह अस्तित्व हीन नाम रूप जगत् भी परमात्मा के अस्तित्व में प्रकट हुआ सत सा दिखाई देता है।

(२५) परंतु जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल का पानी भी सत होता है और बालुका उस की सत की भी सत है, उसी तरह जगत् भी सत है और परमात्मा उस के सत का भी सत है। यही परमात्मा की उपनिषद् या पहचान है।

(२६) यह न मान लेना चाहिये कि "मृग-तृष्णास्थल में यद्यपि पानी का नाम रूप मिथ्या (अस्तित्व हीन) है, किंतु इसलिये कि उस का पानी प्यास की शांति और स्नानादि की निवृत्ति नहीं कर सकता, इसलिये असत् निश्चित होता है; परंतु संसार का पानी तो प्यास बुझाता और स्नान का फल देता है, इसलिये किस प्रकार निश्चय करें कि मृग-तृष्णास्थल के जल के समान असत झलक रखता है"? तो यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मृग-तृष्णास्थल में केवल जल की आकृति और उस का नाम प्रकट हुए हैं, उसी तरह संसार के जल में उस का रूप और साथ ही उस के गुणों के नाम रूप भी प्रकट हुए हैं, इसलिये यह तो स्नान इत्यादि का फल देता है, वह नहीं देता।

(२७) देखो, स्वप्न में जब हम नदी प्रवाहित देखते हैं, तो वास्तव में वह असत अवश्य होती है, किंतु जिस प्रकार उस में रूप साथ है, उस के प्रभाव या गुण भी नाम-रूप से कल्पित

होते हैं, इसलिये कि वह स्नान-पान का स्वप्न में समस्त फल देती है । इसी तरह जाग्रत् के जल का भी हाल है । किंतु जैसे स्वप्न से जाग्रत् में आए हुए हम उन सब को असत निश्चय करते हैं, उसी तरह यहाँ की वस्तुएँ, उन के प्रभावों और बर्तावों को भी विचार से हम बिना अस्तित्व निश्चय कर सकते हैं, क्योंकि सब में विद्यमान "है" मात्र है । यदि उस "है" को अलग समझ लें और उन्हें (क्या वस्तु क्या प्रभाव) उस से अलग देखें, तो बिना "है" के असत होंगे, यद्यपि वे प्रभाव डालते हैं । यही पहचान है, यही उस की उपनिषद् ।

(२८) स्वप्न में जो लोक दिखाई देता है, यद्यपि उस में पूरा २ प्रभाव है और बर्ताव भी होता है, किंतु थिरता और श्रृङ्खला नहीं होती, बरन् एक क्षण में घोड़ा और दूसरे क्षण में हाथी होता है । परंतु यहाँ जाग्रत् में भी कल्पित स्थिरता कल्पित श्रृङ्खला होती है, इस कारण अनजान उसे सत जानता है, वास्तव में मृगतृष्णास्थल के जल के समान असत है ।

(२९) निदान आत्मा ज्योतिस्वरूप, प्रकाशों का प्रकाश है । समस्त कल्पित किरणें उसी ज्योति की हैं, किंतु कुछ स्थलों में तो केवल किरण रूपी आकृति से प्रकाशमान होता है, कुछ स्थलों में उस किरणरूपी आकृति के तेज से किरणों, प्रभाव और बर्ताव को भी साथ साथ देता है, कुछ स्थलों में किरणों की थिरता और श्रृङ्खला को भी मिलाता है । पहला प्रकाश तो मृगतृष्णास्थल में होता है, दूसरा स्वप्न के लोक में, तीसरा जाग्रत् के लोक में है । अतः क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या मृगतृष्णा, सब का सब आप ही उन्हीं किरणों में प्रकट होता है । यही सिद्धांत है ।

(३०) जहाँ वह किरणें अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव और थिरता और श्रृङ्खला से प्रकाशमान होती है, उसी को सर्व

साधारण लोग सत अर्थात् अस्तित्व संभव (अर्थात् जिस का होना तथा न होना दोनों, अथवा सत असत् दोनों संभव हैं) बोलते हैं, और वह स्वयं सत का भी सत् अर्थात् सत स्वरूप होता है, इसलिये उस की उपनिषद अर्थात् पहचान "सत का भी सत" है ।

(३१) अब हम उस की किरणों की शृंखला पर भी संक्षिप्त संकेत करते हैं कि पहले सृष्टि के आरंभ में उस का प्रकाश आकाश के रूप में होता है, और स्थिरता और शृंखला की किरणें भी उस के साथ २ होती हैं । इसलिये इसी आत्मा का इस आभास में आकाश नाम होता है । फिर इस के बाद वायु के रूप में प्रकाश निकलता है, उस में प्रकाशित हुआ यह वायु कहलाता है । और फिर आकाश और वायु में अंतर रूप प्रकाश लगता है, इसलिये आकाश और वायु दोनों पृथक् २ ज्ञात होते हैं । और फिर आकाश में कारण का और वायु में कार्य का प्रकाश लगता है, इसलिये निश्चय होता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है ।

(३२) फिर वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से मिट्टी (पृथ्वी) इस तरह उत्पन्न होते हैं । अतः वास्तव में सब के सब प्रकाश (अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव, स्थिरता और शृंखला) इसी ज्योति से उठते हैं । परंतु इन के पारस्परिक संबंध और अंतर और कारण-कार्य के हेतु से ये विचित्र पञ्च-विध भूत उत्पन्न होते दिखाई देते हैं, वास्तव में वही अपने इन प्रकाशों में प्रकाशमान पँच भौतिक रूप में प्रकट होता है जैसा कि स्वाँगी अपने स्वाँग बनाता है ।

(३३) फिर उन पँचविध प्रकाशों अर्थात् भूतों की छाँट होती है, प्रत्येक भूत का तत्व (सार) निकाला जाता है । वह तत्व (सार) या तो सूक्ष्मतर है, या सूक्ष्म या स्थूल । उन में

से जो सूक्ष्मतर निकलते हैं, उन्हें सतोगुण कहते हैं, जो सूक्ष्म निकलते हैं रजोगुण कहलाते हैं, और जो स्थूल प्रकट होते हैं तमोगुण नाम पाते हैं। वास्तव में सब उसी (आत्मा) की किरणें हैं, जो मिथ्या होती हैं, और उसी के अस्तित्व में चमकती हैं।

(३४) प्रत्येक भूत की सतोगुण किरणों की मिलावट से वह करने की आत्मा, जो पूछ ताछ वा जानने बूझने का काम करती है, बनाई जाती है, जिसे सर्व-साधारण लोग हृदय या अंतःकरण बोलते हैं। और उन की रजोगुण किरणों की मिलावट से वह करने की आत्मा, जो यावज्जीवन शरीर में खींचती-निकालती, रोकती, पचाती, कुछ का कुछ बनाती है, बनाई जाती है, और उसे पँच प्राण बोलते हैं।

(३५) फिर भिन्न २ सतोगुण की किरणों से ज्ञानेंद्रियाँ बनाई जाती हैं, और भिन्न २ रजोगुण की किरणों से वह शक्तियाँ जो कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं, बनाई जाती हैं। यह सब मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं, और प्रत्येक भूत की तमोगुण रूप किरणों से शरीर तैयार होता है जो स्थूल शरीर कहलाता है। और इन दोनों (सूक्ष्म और स्थूल शरीरों) के मिलाप से मनुष्य हो जाता है। और इस मनुष्य में प्रकाशित परमात्मा, जो देखने की आत्मा है, चमकता-दमकता देखता-सुनता बात चीत करता अपितु समस्त माननीय व्यवहार करता हुआ मनुष्य दिखाई देता है।

(३६) जैसे अग्नि के सतोगुण से चक्षु, आकाश के सतोगुण से श्रोत्र, वायु के सतोगुण से त्वच, पृथ्वी के सतोगुण से घ्राण, और जल के सतोगुण से रसना उत्पन्न होती है, जो ज्ञानेंद्रियां कहलाती हैं। फिर सब के सतोगुण से मिला हुआ मन होता है। फिर चक्षु तो मुख्य अग्नि का सतोगुण है, इसलिये अग्नि का धर्म जो रूप है उसे दिखाने का मुख्य कारण होता

है। इसी प्रकार श्रोत्र शब्द का, त्वक् शीतोष्ण दशाओं का, घ्राण गंध का और रसना मिठाई खटाई का कारण व साधन होती है, क्योंकि ये सब प्रकाश व किरणे उन्हीं के धर्म हैं, जिन से ये ज्ञानेंद्रियाँ प्राण की भांति निकाली गई हैं, इसलिये वह अपने जनक के धर्म को स्वीकार करके विषय (पदार्थ) का ज्ञान पाती हैं।

(२७) किंतु मन तो उन पँचभूतों के सतोगुण से मिलाकर बनाया गया है, इस लिये सबके धर्मों के प्रकाशों को ग्रहण करता है, सब की दरियाफ्त (जाँच पड़ताल) का कारण वा साधन होता है, और सब की सोच-समझ का काम करता है। किंतु वह ज्ञानेंद्रियां तो बाह्य अंगों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा, और त्वचा में रक्खी गई हैं, यह मन हृदयकमल और मस्तिष्क में रक्खा गया है, इसलिये भीतर की वस्तुओं का जो सुख दुख या आभास है पता लगाता है। बाहर की वस्तुओं का पता लगाने के लिये उन्हीं मार्गों से, जहां ज्ञानेंद्रियाँ केन्द्रित हैं, निकलता है। और उन ज्ञानेंद्रियों की सहायता से बाहर विशेष विशेष रूप आदि भी दरियाफ्त कर जाता है। पँच प्राण तो भीतर के काम करते हैं, और कर्मेंद्रियाँ बाहर के काम, जैसे चलना पकड़ना इत्यादि, और ये इस मन के संकल्प के अधीन होती हैं। परंतु पँच प्राण आभ्यंतरिक मन के भी प्रकाश से पहले प्रकाशित हैं, इसलिये इस मन के संकल्प के अधीन नहीं होते बरन् कर्मों के, जो भोग देने के लिये तैयार होते हैं, अधीन होते हैं।

(२८) यद्यपि ज्ञानेंद्रियां, कर्मेंद्रियाँ, मन और प्राण भिन्न २ अंग वा आभास हैं, किंतु उनका बर्ताव तब होता है जब मन तो प्राणों में और ज्ञानेंद्रियाँ मन और प्राणों में संबंध पाती हैं। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी पर लगने से प्रकाश और

राह का काम करती है उसी तरह मन प्राणों में और ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ मन और प्राणों में लगी हुई अपना २ व्यापार करती हैं। यही कारण है कि प्राणों के निकलने से ये सब साथ हो निकल जाते हैं जैसा कि कर्मकांड के प्रकरण में प्राणों के झगड़े से स्पष्ट कर दिखाया है।

(३९) इस प्रकार ये समस्त प्राण, मन व इन्द्रियाँ परस्पर संबंध पाई हुई और विविध किरणों व प्रकाशों से संयुक्त एक ही वस्तु हो कर आभ्यंतरिक मनुष्य अर्थात् सूक्ष्म शरीर कहलाती हैं। और इस हेतु कि यह सूक्ष्मतर तत्वों से बनाया गया है, इसलिये इंद्रिय-ग्राह्य और स्थूल भी नहीं होता, पर बुद्धि-ग्राह्य (बुद्धि से जाना जाता) है। और वह शरीर तो भूतों के स्थूल अंशों से बनाया गया है, इसलिये इंद्रिय-ग्राह्य और स्थूल है। और इसी के भीतर वह बुद्धिग्राह्य अंकित किया गया है, जैसा कि अनेक बार उल्लेख कर दिखाया है।

(४०) यही नहीं कि मनुष्य का शरीर ही इस तमोगुण से बनाया गया है, वरन् समस्त पशु-पक्षी जो जीवधारी हैं सब के शरीर बनाए गए हैं, और उन में परस्पर का आभास भी लगाया गया है, इसलिये वह परस्पर भिन्न २ दिखाई देते हैं। और फिर सूक्ष्म शरीर भी प्रत्येक में उसी प्रकार यंत्रों के ढंग पर प्रविष्ट हैं जैसा कि मनुष्य में प्रविष्ट हैं, और प्रत्येक अपना-अपना बर्ताव करते विचित्र प्रकृति दिखाते हैं।

(४१) जीवधारियों के शरीर ही नहीं वरन् वनस्पतियों के शरीर भी इसी तमोगुण प्रकाश से बनाए गए हैं, और उनके भीतर भी इसी सूक्ष्म शरीर का प्रकाश रक्खा गया है, क्योंकि वह भी जीवधारियों के समान भोजन करते, पानी पीते और फलते फूलते हैं। अधिक क्या लिखें, क्या पृथ्वी क्या वायु क्या जल क्या अग्नि क्या आकाश क्या सूर्य क्या तारे, जो

प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इसी तमोगुण प्रकाश से बनाए गए हैं, और उन के भीतर वही सतोगुण और रजोगुण प्रकाश से संयुक्त सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार रक्खा हुआ है जिस प्रकार मनुष्य में रक्खा हुआ है। यदि वह (सूक्ष्म शरीर) पृथ्वी में न होता तो पृथ्वी घास-पात को क्योंकर उत्पन्न करती? या वह गड़ी (दफन की) हुई वस्तु को किस प्रकार खा जाती? प्रत्येक वस्तु में दृष्टि करके देखें तो क्या अग्नि क्या जल प्रत्येक वस्तु को खा कर अपना रूप कर लेते हैं, और उन के भीतर वही पँच प्राण अर्थात् करने की आत्माएँ हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, और यह सब का जीव वा सूक्ष्म शरीर है।

(४२) जिस प्रकार मनुष्य के शरीर भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं, उसी प्रकार प्रत्येक के शरीर और देह भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्वों से संयुक्त हैं। देखो, मनुष्य के शरीर के अंतर्गत अस्थियाँ मांस मज्जा रक्त इत्यादि विभिन्न भाग हैं, इसी प्रकार बनस्पति-वर्ग और खनिज-वर्ग मे भी है जिस का अनुसंधान प्रायः प्राकृतिक विद्या अर्थात् (विज्ञान वा साइंस) में जिआलोजी (पृथ्वी-विद्या) द्वारा होता है। और यह सब उसी तमोगुण-रूपी किरणों से निर्मित होते हैं जिन के क्षोभ वा उत्ताप से सूक्ष्म स्थूल कोमल कठोर पाये जाते हैं।

(४३) फिर इस हेतु कि उन सब मानव शरीर के अङ्गों में, जो विभिन्न तत्वों के अंश से बना है, एक परस्पर मिलाप वा संबंध का आभास लगाया गया है, जिस सम्बन्ध के कारण वह एक शरीर दिखाई देता है। इसी प्रकार क्या धरती क्या आकाश क्या तारे यद्यपि विभिन्न तत्व पृथक् पृथक् अङ्ग वा अंश हैं, तो भी इन सब में एक परस्पर संबन्ध का आभास लगाया गया है। जैसे पृथिवी का संबन्ध आकाश, जल और

वायु से प्रत्यक्ष है, और फिर सूर्य और समस्त तारों का आकाश जल और वायु से प्रत्यक्ष है। तो ये सब के सेब एक प्रकाश के कारण एक बड़ा शरीर है, इसी को संस्कृत में विराट् कहते हैं।

(४४) किंतु जिस प्रकार मनुष्य-शरीर में छोटा सा सूक्ष्म शरीर है (जिसे जीव कहा जाता है), इसी प्रकार इस विराट् के शरीर में बड़ा सूक्ष्म शरीर है। इसी को दूसरे लोग ईश्वर बोलते हैं, और हम हिरण्यगर्भ या प्रजापति कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का छोटा सा सूक्ष्म शरीर उसी के (स्थूल) शरीर के भीतर काम करता है, उसी प्रकार यह बड़ा सूक्ष्म शरीर भी, जो ईश्वर या हिरण्यगर्भ है, सब में सब कुछ करता है, और उसी के कामों को सामान्य लोग ईश्वरीय काम प्रसिद्ध करते हैं। देखो, पृथ्वी से घास-पात निकलते हैं, आकाश से वर्षा उतरती है, तारे बराबर परिभ्रमण करते हैं, ये सब काम इसी करने की आत्मा के हैं जो ईश्वर या हिरण्यगर्भ है।

(४५) यह न मान लेना चाहिये कि ईश्वर जो हिरण्यगर्भ है एक असलीयत रखता है, बरन् जिस प्रकार मनुष्य का सूक्ष्म शरीर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और पञ्च-प्राण रूप विभिन्न तत्वों के प्रकाश से एक बनाया गया है, उसी प्रकार ईश्वर भी जो हिरण्यगर्भ रूप समष्टि सूक्ष्म शरीर है विभिन्न तत्वों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और पञ्च प्राण से एक बनाया गया है।

(४६) जिस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियां आँख, कान, नाक इत्यादि में रहती हैं, उसी प्रकार ईश्वर की ज्ञानेन्द्रियाँ भी सूर्य, दिशाओं, आकाश, अग्नि, वायु इत्यादि में केंद्रित हैं। और जिस प्रकार हमारा मन हमारे हृदय में रक्खा हुआ है उसी तरह उस का मन चंद्रमा में केंद्रित है। जिस प्रकार हमारे पँच प्राण प्रत्येक अंगों में केंद्रित हैं, उस के पँच प्राण भी विराट् के

प्रत्येक अंश वा भाग में केंद्रित हैं।

(४७) हम भी नेत्र से देखते हैं, वह भी सूर्य से देखता है, क्योंकि जैसे हमारी आँख हमारे देखने का स्थान है, वैसे ही सूर्य भी, जो उस की आँख है, उस के देखने का स्थान है। हम कानों से सुनते हैं, तो वह दिशाओं से सुनता है, वही दिशाएँ उस के कान हैं। हम मन में सोचते समझते और चिंता करते हैं, वह भी चंद्रमा में, जो उस का मन है, सोचना समझना और चिंता करता है, और जिस-जिस अंग में जिस-जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध हमारे शरीर में है, उसी प्रकार विशिष्ट विशिष्ट अङ्ग से ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ का विराट् शरीर से संबन्ध है। जिस प्रकार यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मांड और ईश्वर भी मिलकर विराट् पुरुष कहलाता है।

(४८) यही कारण है कि ज्ञानी जन निश्चय करते हैं कि मनुष्य विराट् पुरुष की आकृति पर उत्पन्न किया गया है, और हम कहते हैं कि हम उसी के पुत्र उसी का रूप हैं। हम पुत्र हैं, प्रजापति पिता है। वह धरती और आकाश का सम्राट् है, हम उसी के राजकुमार हैं और उस का उत्तराधिकार पाने वाले हैं। अब यों समझो कि जब वह सब में सब कुछ करता है, तो इसी कारण वेदान्तियों में उसे समष्टि शब्द से संबोधित करते हैं, किंतु हम जो उसी के अनुरूप अपने संक्षिप्त शरीर विशेष में सब कुछ करते हैं व्यष्टि शब्द से संबोधित किये जाते हैं।

(४९) हमारा शरीर व्यष्टि है, उसका शरीर समष्टि। हमारा सूक्ष्म शरीर व्यष्टि है उसका सूक्ष्म शरीर समष्टि। किंतु यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अपनी समष्टि से, खंड अपने समग्र (घर) से, और अंश अपने अंशी व अंग अपने अंगी से पृथक् नहीं हो जाते, वरन् वही होते हैं। इसी प्रकार हमारे नेत्र उसी के नेत्र

हमारे कर्ण उसी के कर्ण हमारे शिर उसी के शिर हैं।

(५०) यही कारण है कि वेद मंत्र आदेश करते हैं कि हज़ारों उसके शिर हैं, हजारों उसके नेत्र हैं, हजारों उसके पाद हैं। यद्यपि हमारे नेत्र और हमारे कर्ण भी उसीके शिर, नेत्र और कर्ण हैं, परन्तु सूर्य उसका मुख्य नेत्र है जो कल्प पर्यंत स्थिर रहता हैं। हमारे नेत्र ऐसे स्थिर नहीं हैं, इस लिये विशेषता के कारण शास्त्र में उसके विशेष अंग वर्णन किए जाते हैं, और उनमें जो करने की आत्मा अर्थात् प्रजापति की ज्ञान-इन्द्रियाँ और कर्म-इन्द्रियां हैं, उन्हे विचवानी या देवता कहते हैं।

(५१) यद्यपि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ और करने की आत्माएँ (पँच प्राण) भी उसी करने की आत्मा (प्रजापति) की शाखाएँ हैं, इस लिये वह भी देवता या विचवानी हैं, तो भी वह हम से, जो संक्षिप्त शरीर रखते हैं संबंध रखती हैं। इस लिये इन्हें अध्यात्म कहा करते हैं और उन्हें आधिदैविक।

(५२) अब यों समझो कि प्रत्येक वस्तु में कुछ २ बिचवानी सहायक हैं, इस लिये उस वस्तु से संसार का काम होता है, और साथ ही यह अध्यात्म प्राण, जो हमारे करने की अध्यात्म आत्मा (अर्थात् व्यष्टि सूक्ष्म शरीर) है, आधिदैविक की सहायता से कर्मों के अनुसार नियत काल तक शरीर से संबंध पाता है। जिस प्रकार वह संबंध पाता है हम उसे उदाहरण से वर्णन करते हैं। वेदों में इसे बछड़े के उदाहरण से निरूपण किया गया है, क्योंकि उस में जानने की आत्मा (वृत्ति) नो अपनी नहीं है, बरन् उस देखने की आत्मा की छाया से मान पहचान की आत्मा (वृत्ति) उठती है, जिसका भ्रांत संबंध उसी देखने की आत्मा के कारण से कल्पित होता है। इस लिये इसी अज्ञान-आत्मा के कारण प्रिय बछड़े का उदाहरण दिया गया।

(५३) जिस प्रकार बछड़े के लिये आवश्यक है कि उसके लिये घर, फिरने का कमरा, बांधने की खूँटी, रस्सी और घास हो, उसी तरह बछड़े का घर तो शरीर है जिसमें यह रहता है, विना शरीर के वह काम नहीं कर सकता।

(५४) मस्तिष्क और नेत्र वरन् समस्त अंग इसके फिरने के कमरे हैं, प्रत्येक अंग में वह फिरता अपना काम करता है, किंतु मस्तिष्क विशेष जो उसकी ज्ञान की आत्माएँ (वृत्तियां) हैं खेलने का कमरा है, क्योंकि वह जो उसकी स्वाभाविक काम की शाखाएँ हैं वह तो प्रत्येक अंग में केंद्रित हैं, और मुख्यतः यकृत् उसका मूल है, परन्तु ज्ञान को आत्माएँ (वृत्तियाँ) शाखाओं की भाँति उससे निकल कर जब हृदय और मस्तिष्क में फैलती हैं, तो सोच समझ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियां का काम करती हैं, इस लिये हाथ और मस्तिष्क ज्ञान के बर्ताव का मुख्य कमरा है।

(५५) प्राण उसकी खूँटी है क्योंकि जिस प्रकार बछड़ा खूँटी से बँधा हुआ घर से बाहर नहीं निकल जाता, इसी तरह जब तक प्राण शरीर में स्थिर रहता है यह शरीर भी रहता है, और जब प्राण अंग २ से पृथक होता है, तो फिर यह शरीर से निकल जाता है। इसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(५६) जो कुछ भोजन किया जाता है, पहला रासायनिक परिवर्तन उस का आमाशय में होता है, उस भोजन में जो स्थूलता और फोक होता है भिन्न होकर आँतों के मार्ग से मल होकर बाहर निकल जाता है। वह जो उस का सूक्ष्म रस होता है, यकृत् में जाता है, और वहाँ परिपाक पाता है, और उस की स्थूलता मूत्र के रूप में मूत्राशय में आ जाती है, और लिंग के मार्ग से निकल जाती है। और उस में से जो सूक्ष्मता यकृत् में पकती है उस से रक्त, पित्त, बात और कफ बनते हैं,

और ये रक्त, पित्त, वात, कफ शिराओं के मार्ग से प्रत्येक अंग में पहुँचते हैं।

(५७) किंतु शिराओं और अंगों में भी फिर यह पकतो हैं और उन से भाप (वाष्प) या धूएँ के रूप म निकलता हैं, जो प्राकृतिक प्राण कहलाती हैं। उन में बँधा हुआ यह प्राण अर्थात् बछड़ा स्वाभाविक काम करता है, और उन्हीं के संबंध से यह पँच प्राण कहलाता है, क्योंकि संघात रूप से उस के समस्त पाँच काम हैं जिस की व्याख्या हम कर्म-कांड के प्रकरण में कर चुके हैं।

(५८) फिर इस हेत कि यही रक्त, पित्त, वात् आदि जब हृदय कमल में आते हैं, तो वहाँ भी परिपाक पाते हैं, और उन से एक वाष्प उठती है जो धमनियों के द्वारा शरीर में फिरती और शरीर को शक्ति व बल प्रदान करती है। इसे चिकित्सक लोग प्राणात्मा कहते हैं। यही वाष्प जब सूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क में जाती और फैलती है, तो यहां उसे दूसरी दशा प्राप्त होती है, और करने की आत्मा (अंतःकरण) की द्योतक होती है, जो ज्ञान का काम करती है। इसी कारण चिकित्सक लोग इस उदान प्राण को जीवात्मा या सूक्ष्म शरीर बोलते हैं। इस तरह यह वाष्प भी जो रक्त, पित्त, वात आदि से उत्पन्न होती है चिकित्सक लोग इसे प्राण बोलते हैं, किन्तु वास्तव में यह प्राण नहीं बरन् रक्त, पित्त, वात, आदि की सूक्ष्म वाष्प है, तो भी करने की आत्मा (प्राण) का बंधनालय है (क्योंकि जब तक यह सूक्ष्म वाष्प रहती है, वह बछड़े की तरह इस में बँधा रहता है)। यह मानो शरीर के भीतर उस की खूँटी है।

(५९) किंतु खूँटी भी बछड़े को नहीं बाँध सकती जब तक कि रस्सी न हो। प्रत्येक प्रकार का भोजन उस की रस्सी है, क्योंकि वाष्प रूप प्राण प्रतिक्षण परिवर्तन पाता है। किया हुआ

भोजन उस का शरीर होता है। इसलिये भोजन रस्सी के समान है। इस प्रकार इस रज्जु से, उस खूंटी से बँधा हुआ यह प्राण शरीर में काम करता है। जब यह बाष्प रूप प्राण (अर्थात् उदान प्राण) सड़कता है, तो फिर यह नवयुवक बछड़े की तरह शरीर से निकल जाता है। यही इस का स्वभाव है।

(६०) यह हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं वरन् प्राणों की पहचान में शिशु* ब्राह्मण इसी तरह वर्णन करता है। क्योंकि हम आरण्यक भाग में सुनते हैं कि जो व्यक्ति बछड़े को, उस के घर को, उस के घर के कमरे को, उस की खूँटी को और उस के बाँधने की रस्सी को जानता है, अपने विरोधी भाइयों पर विजय पाता है।

(६१) विरोधी भाई अर्थात् यही इंद्रियाँ और मन हैं, क्योंकि यही इसे विषयों में लगाते, इस को देखने की आत्मा का पहचान से रोकते हैं जो इस का उच्चतम मनोरथ है। जब वह इस प्रकार इस बछड़े को उस के पूर्वोक्त कारणों सहित जान जाता है तो फिर उनको विषयों से सुगमता पूर्वक रोक लेता है। यही इस की पहचान का फल है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है।

(६२) दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुँह सब सात भाई हैं जो इसे विषयों में लगाते हैं, अन्तर्मुख नहीं होने देते। इन्हीं को वश में करने के लिये समस्त शास्त्र-विधानों का पालन और उपासना की जाती है, परंतु इस बछड़े की पहचान से फिर यह सुगमता पूर्वक वश में हो जाते हैं।

(६३) यह प्राण वास्तव में बछड़ा है, इस का यही शरीर घर है, और मस्तिष्क इसका फिरने और निकलने का कमरा है, वाष्प-आत्मा (उदान प्राण) उस की खूँटी है, भोजन उस की रस्सी है, नेत्र के कमरे में सात ग्वाले हैं जो उसे

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद अ० २ ब्रा० २

पालते हैं, यह जो नेत्र में लाल डोरे हैं उन में रुद्र देवता इसे पालता है, क्योंकि जब क्रोध करता है तो नेत्र लाल हो जाते हैं, और यह रुद्र देवता इस की सहायता में उठता है। यह जो आँखों में पानी है और अश्रु कहलाता है, इस में बादलों का देवता रहता है और उसे पालता है, क्योंकि जिस प्रकार बादलों से पानी बरसता है, उसी तरह शोक में नेत्रों से भी अश्रु निकलते हैं। इसी तरह वही देवता जो वर्षा के लिये बादलों में केन्द्रित है, मनुष्य के नेत्र में भी केन्द्रित है, और इस बछड़े का ग्वाला है।

(६४) वह जो आँखों में गवाक्ष (प्रकाश-ग्राही छिद्र) दृष्टि-स्थान है, उसमें सूर्य देवता बसता है, और उसे देखने के लिये सहायता देता है. क्योंकि बिना सूर्य की सहायता के दृश्य जगत् को वह नहीं देख सकता, इसलिये सूर्य देवता भी उसका ग्वाला है।

(६५) वह जो नेत्रों में श्याम चक्र (सियाही का हलका) है, उसमें सूर्य का सचिव अग्नि-देवता बसता है, क्योंकि सूर्य के अस्त होने पर अग्नि उसकी जगह दिखाने का काम करती है। वह जो नेत्र में श्वेतता है उसमें इंद्र देवता बसता है, और नेत्र के फिराने में उसे सहायता देता है, और इस बछड़े को पालता है। निचली पलक में पृथ्वी का देवता और ऊपर की पलक में आकाश का देवता बसता है और उसे मिट्टी धूल से बचाता दोनों पलकों को मिलाता है, और आँख की चमक में उसे साफ़ करता रहता है। इसलिये वह भी इस बछड़े का ग्वाला है। वह जो इस तरह इन ग्वालों को जानता है, उस की सेवाओं का भोग भी समाप्त नहीं होता, बरन् अपनी प्रत्येक सेवा के लिये सेवकों को मुफ्त पाता है।

(- वेद का मंत्र है कि एक औंधा चमस (बिल वा बेल) है उस में विश्व रूप यश रक्खा हुआ है, और उस के किनारों

पर सात ऋषि रहते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को बतलाता है। चमस नाम एक बरतन का है जो यज्ञ के काम में लाया जाता है, और वह गोल होता है। और बिल (बेल) भी एक प्रसिद्ध वृक्ष का फल है जिसमें भारतीय चिकित्सक लोग ओषधि रक्खा करते हैं। यदि बेल के ऊपर चमस को औंधा करके रक्खें, तो ठीक मनुष्य के शिर की आकृति हो जाती है। इस लिये मंत्र में अलंकार रूप में पढ़ा गया है कि एक औंधा चमस बेल है अर्थात् मनुष्य का शिर है।

(६७) और उसमें विश्व रूप यश रक्खा हुआ है, अर्थात् यही प्राण जो करने की आत्मा है एक यश है, जो उस में भरा हुआ है। और वह विश्व रूप है, क्योंकि समस्त जगत् इसी का बना हुआ है। इसके किनारे पर सात ऋषि हैं अर्थात् आँख कान नाक मुँह जो किनारे हैं सात ऋषि हैं, और वाक आठवां है जो ब्रह्म को बताता है।

(६८) दो कान दो नाक दो आँख एक मुँह सब सात ज्ञान-शक्तियां (इन्द्रियां) सात ऋषि हैं जो ब्रह्म को सुनते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को अपने भीतर वर्णन करता है। इस प्रकार इन ऋषियों की सभा में ब्रह्म की कथा होती है। और चमस बेल मस्तिष्क में, जो यज्ञ का पात्र है, यश मिलता है। यह इस मंत्र का तात्पर्य है।

(६९) ये दोनों कान तो मानो गौतम और भारद्वाज ऋषि हैं। दाहनी ओर गौतम, बाईं ओर भारद्वाज ऋषि हैं। ये दोनों आँख मानो विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं। दाहनी ओर विश्वामित्र और बाईं ओर जमदग्नि है। ये दोनों नासारंध्र (नाक के छिद्र) मानो वशिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं। दाहना नासा-रंध्र वशिष्ठ बायां नासा-रंध्र कश्यप ऋषि है। वाक् मानो अत्रि ऋषि है, जो ब्रह्म को कथा सुनाता है और खाता भी है। जिस

प्रकार कथा जिह्वा से होती है भोजन भी जिह्वा से होता। और संस्कृत में जो खाता है उसे भी अत्रि कहते हैं। इस प्रकार जो कोई विश्वास करता है, वह सब भोजनों के खाने का अधिकारी हो जाता है, और सब भोग उसे मुफ्त मिलते हैं। इस प्रकार शिशु ब्राह्मण में लिखा है।

(७०) अजातशत्रु की शिक्षा में यह लिखा था कि प्राण सत् हैं, अतएव शिशु ब्राह्मण के अनुवाद से प्राणों की उपनिषद् वर्णन कर दी गयी। अब पूछने योग्य यह है कि वह प्राण क्या है? और किस प्रकार वह सत् है? और किस प्रकार वह पँच भूतों से निकाले गए हैं? और पञ्च भूत किस प्रकार सत् हैं? जिनकी नास्ति से वह सत् का सत् निर्विवाद जाना जाता है।

(७१) यद्यपि सारा संसार पञ्च भूतों का कार्य है और स्वयं अगणित रूप हैं तो भी संक्षेप रूप से समस्त दो प्रकार से है, या मूर्त है या अमूर्त, या मरने वाला या अमर। इन की वासना रूप उपाधि से ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कहलाता है। इन्हीं उपाधियों के दूर करने से वह निर्विवाद सत् का भी सत् है। यह इस निश्चय से जाना जाता है, इसलिये मूर्त अमूर्त ब्राह्मण का भी अनुवाद करते हैं।

(७२) * हम इस ब्राह्मण में यों सुनते हैं कि निस्सन्देह ब्रह्म के सब दो रूप हैं—या मूर्त है या अमूर्त, या मरने वाला है या अमर, या परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न, या चल या अचल, इंद्रियग्राह्य है या बुद्धि-ग्राह्य। यद्यपि अपने स्वरूप में वह अरूप है, परंतु दूसरों के रूपों से वही रूपी होता है।

(७३) यह आश्चर्य न करना चाहिये कि "वह अरूप किस प्रकार दूसरों के रूपों से रूपी (रूपवाला) हो जाता है"। इस हेतु कि स्वयं रूप रूपवाला नहीं हो सकता है, या स्वयं शरीर

* यहां से बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय का तीसरा ब्राह्मण आरम्भ होता है।

शरीर वाला नहीं हो जाता, इसलिये जो अशरीरी है वही शरीर वाला और जो अरूप है वही रूपवाला हो सकता है। यदि अ-शरीरी शरीर वाला नहीं हो सकता, तो क्या शरीर शरीर वाला हो सकता है ? कदापि नहीं। वह तो स्वयं शरीर है। किस प्रकार शरीर वाला निश्चित हो सकता है ? इसलिये उनका खयाल जो ईश्वर को शरीर वाला होना नहीं मानते हैं, ठीक नहीं है।

(७४) यहाँ यह अवश्य है कि जब वह शरीर की उपाधियों से शरीर वाला होता है या नाम-रूप उपाधियों से नाम-रूप वाला होता है, तो उस में शरीर या नाम-रूप प्रवेश होने नहीं पाते, वरन् वह ज्यों का त्यों शुद्ध पवित्र, अशरीरी और अनाम-रूप रहता है। जिस प्रकार स्फटिक का ग्लास भी लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चित होता है, तो भी दूसरे की लालिमा से स्पर्श नहीं पाता है। इसीप्रकार शुद्ध ब्रह्म भी शरीर या नाम रूप उपाधियों से शरीर वाला और नाम रूप वाला होता है, तो भी उन से स्पर्श नहीं पाता।

(७५) वरन् क्या शरीर, क्या नाम, क्या रूप, सब उसी के प्रकाश हैं और वह अपने ही प्रकाशों से प्रकाशमान् होता शरीर वाला और रूप वाला कहलाता है। इस बात का विवरण हम पहले लिख आये हैं। जब वह इन प्रकाशों को दूर करता है, तो वही अशरीरी और अनामरूप, सत् का भी सत्, अपने आनंद में होता है जैसा कि सुषुप्ति में अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है। अब इस ब्राह्मण में यह सिद्ध करना है कि उन रूपों को जो सब में सत् दिखाई देते हैं, और जिन से वह रूप वाला प्रकट हुआ है बुद्धि से निषेध करके कि "यह रूप भी वह नहीं" इस निषेध के बाद यह जो शेष अरूप रहता है, वही सत् है और वही सत् का भी सत् है।

(७६) जब तक नाम रूप में उसे पहले न सिद्ध किया जाय और फिर नाम रूप का निषेध करके उसे नाम-रूप से रहित न सिद्ध किया जाय, वह किस प्रकार निर्विवाद सत्मात्र पहचाना जाय। इसलिये श्रुति भगवती संक्षेप में आदेश करती है कि उस निर्विवाद अरूपी के सारे दो रूप हैं, या मूर्त या अमूर्त।

(७७) मूर्त नाम आकृति का है, अमूर्त उस के विरुद्ध है, जो रूप नहीं रखता। वह जो मृत्यु पाता है, उसे मर, वह जो मृत्यु नहीं पाता उसे अमर बोलते हैं। जिस का अनुमान हो सकता है, वह परिमित वा परिच्छिन्न है, जिस का अनुमान नहीं हो सकता वह अपरमित वा अपरिच्छिन्न होता है। जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जा सकता है वह चल हो सकता है. जो दूसरी जगह नहीं पहुँचाया जा सकता, वह अचल होता है। जो इन्द्रियों से जाना जा सकता है, वह अनुभूत वा इन्द्रिय-ग्राह्य होता है. जो इन्द्रियों से नहीं वरन् बुद्धि से जाना जाता है, वह बुद्धिग्राह्य वा अतीन्द्रिय है।

(७८) अब यों समझो कि वास्तव में समस्त संभव पदार्थ दो प्रकार के हैं—मूर्त या अमूर्त। शेष चार प्रकार उन्हीं के गुण हैं, क्योंकि जो मूर्त है वह अंशों या अंगों से मिश्रित वा सम्मिलित है, और वही मरणशील है, वही परिच्छिन्न है, इसलिये वही चल है, और वही प्रत्यक्ष है। किंतु वह जो अमूर्त है, अंशों में संयोग नहीं पाता है, इसलिये वही अमर है, वही अपरच्छिन्न, वही अचल, और वही बुद्धिग्राह्य है।

(७९) इसलिये श्रुति भगवती कहती है कि ब्रह्म के दो ही रूप हैं-या तो मूर्त या अमूर्त। और मूर्त को मरने वाला, परिच्छिन्न, चल, परिज्ञात वा इंद्रिय-ग्राह्य भी कहते हैं. और अमूर्त को अमर, अपरिच्छिन्न, अचल, बुद्धिग्राह्य वा अतीन्द्रिय भी बोलते हैं। वास्त में समस्त पदार्थ दो प्रकार के मूर्त या अमूर्त

हैं, और दानों रूप उस निर्विवाद अरूपी सत्य के हैं।

(८०) यह मूर्त रूप जो ब्रह्म का है, आकाश और वायु के अतिरिक्त तीन भूत अग्नि जल पृथ्वी का है। यही मरनेवाला है, यही परिच्छिन्न है, यही चल है, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रिय-ग्राह्य है। और यही सत है। इस मूर्त अर्थात् मरने वाले, परिच्छिन्न, चल, प्रत्यक्ष और सत के जो तीन भूत अग्नि, जल और पृथ्वी हैं, उन का यह सूर्य मंडल सार है जो प्रत्यक्ष तपता और चढ़ता है। उन्हीं के सत का यह रस है।

(८१) अब अमूर्त क्या है? यही आकाश और वायु अमूर्त है। यही अमर है। यही अपरिच्छिन्न, यही अचल, यही बुद्धि-ग्राह्य वा अतीन्द्रिय और यही सत है। इस अमूर्त, अमर, अपरिमित, अचल, बुद्धिग्राह्य सत के जो दो भूत आकाश और वायु हैं, यह करने की आत्मा (प्राण) उन का सार है, जो इस सारे मंडल के भीतर स्थित है, और सूर्य पुरुष कहलाती है, और यही उन के सत का रस है। यह अधिदेव है, इसी को हम हिरण्यगर्भ और दूसरे इसी को ईश्वर बोलते हैं।

(८२) यह न मान लेना चाहिए कि पहले मूर्त में तीन तत्व अग्नि जल पृथ्वी वर्णन किए हैं, तो उस में आकाश या वायु का अंश नहीं, बरन् है, यद्यपि बहुत अल्प है, किंतु अधिकता से वह तीन तत्व हैं, यह श्रुति का तात्पर्य है। जैसे कि मनुष्य का शरीर मिट्टी के अंश की अधिकता के कारण पार्थिव बोला जाता है। इसी तरह सूर्य में जो करने की आत्मा (प्राण) है, यह नहीं कि अग्नि जल पृथ्वी का सार जो सतो-गुण है उस में नहीं है, बरन् है, किंतु बहुत थोड़ा है। आकाश और वायु का सतोगुण अधिकता से मिलाया गया है, इस-लिये यह अमूर्त है, यह अभिप्राय है।

(८३) अब अध्यात्म बर्णन करते हैं। यह जो मूर्त है, अर्थात्

इस वायु और आकाश के अतिरिक्त (जो भीतर में है) अग्नि, जल, मिट्टी मूर्त है। यही मरने वाला, यही परिमित, यही चल, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रिय-ग्राह्य, यही सत है, अतः मूर्त अर्थात् मरने वाले, परिमित, चल, प्रत्यक्ष सत का यह सार है। जो मनुष्य का नेत्र है। इसी सत का यह सार है और रस है, जो नेत्र का काला भाग है।

(८४ परन्तु अमूर्त आकाश और वायु है, और यही तत्व अपरिमित, अचल, बुद्धिग्राह्य, सत है। इसी अमूर्त आकाश और वायु का और इसी अमर, अपरिमित अचल बुद्धिग्राह्य सत का यह सार है, जो दाहिनी नेत्र की काली पुतली में करने की आत्मा (प्राण) है और मनुष्य का सूक्ष्म शरीर या अंतःकरण कहलाता है, उन्हीं का यह रस या परिणाम है। यह अध्यात्म है।

(८५) अब उस करने की आत्मा का रूप क्या है जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है? इसको आपही श्रुति कहती है कि इस अंतःपुरुष का रूप भी अब समझना चाहिये। जैसे हल्दी का रँगा हुआ कपड़ा होता है या स्वयं रंग का ऊनी कपड़ा होता है, या जैसे बीर बहूटी होती है, या जैसे अग्नि अर्ची (लपट) लाल होती है, या जैसे कमल होता है, या जैसे अकस्मात बिजली चमकती है, वैसा इसका रूप है। वह जो इसे तत्काल बिजली की तरह वासना वाला जानता है, उसको सब सिद्धि होती है। और यह सत है।

(८६) यहाँ श्रुति का तात्पर्य यह है कि अंतःकरण की असलियत ऐसी है जिसमें प्रत्येक वस्तु की समझ की वासना अङ्कित है, क्योंकि जो जो हम जानते पहचानते हैं, सबकी दरियाफ्त की वासना चित्र की तरह अंतःकरण में छपती है, और उन वासनाओं के कारण वह चीर वस्त्र की तरह रंगा रंग का होता है। इसी कारण विविध उदाहरण रंगों के श्रुति ने दिए हैं।

(८७) देखा, जब ये वासनाएँ हमारे भीतर प्रकाशमान् होती हैं, तो उन्हीं को मनुष्य अपने विचार या वृत्तियाँ कहता है, और जब ये प्रकाशमान नहीं होतीं, तो सबकी समझें चित्र की तरह शांत भीतर में रहती हैं। अतः वासना नाम उन्हीं समझों का है जो बिना प्रकाशमान के हमारे भीतर हैं, किंतु हम में वह बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् कुछ स्वाभाविक रीति से, कुछ शिक्षा के ढंग पर, कुछ जिज्ञासा व जाँच पड़ताल के ढंग पर प्रकाशमान होती हैं। और हिरण्य-गर्भ में जो सौर-मंडल के भीतर जतलाया गया है समष्टि सूक्ष्म शरीर है। उसमें सबकी समझें एक साथ सृष्टि के आदि से तत्क्षण प्रकाशमान हैं, और प्रलय पर्यंत अर्थात् महा प्रलय तक स्थित हैं। इस लिये वह सर्वज्ञ है, और हम अल्पज्ञ।

(८८) जब अंतरिक्ष (परलोक) से हिरण्यगर्भ निकलता है, तो समस्त वस्तुओं की समझें एक साथ बिजली की तरह यों प्रकाशमान होती हैं कि "यह वस्तु इस प्रकार बनती है, और उस समय बनती है, और उस नियत समय तक स्थित रहती है, या रहेगी, इत्यादि" और फिर उसके ये संकल्प महाप्रलय तक एक ही वृत्ति रूप से स्थिर रहते हैं। इसी कारण से श्रुति ने उसे बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान् होना वर्णन किया है, और उसकी जिज्ञासा का फल भी वर्णन किया है, कि वह जो इस पर विश्वास लाता है, उसे श्री अर्थात् लक्ष्मी मिलती है।

(८९) किंतु हमारी सब समझें भी यद्यपि समझरूप से हमारे भीतर केंद्रित हैं, तो भी एक साथ एकाएक प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् बालकपन में वही स्वाभाविक रूप से, जितनी आवश्यकता है, प्रकाशमान होती हैं, और युवावस्था में भी उतनी ही जो कि उचित है। और फिर कुछ शिक्षा से और कुछ अनुभव से प्रकाशमान होती हैं, इस लिये अध्यात्म वासना रूप

उपाधि में वह देखने की आत्मा आई हुई अल्पज्ञ कहलाती है, और अधिदैविक उपाधि में आई सर्वज्ञ कहलाती है। वास्तव में क्या सर्वज्ञता, क्या अल्पज्ञता, दूसरी करने की आत्मा के धर्म हैं, जो वासना रूप से अप्रकाशित हुए उस में अङ्कित किए गए हैं। चेतनदेव परमात्मा साक्षी उनसे निर्लिप्त है। यह श्रुति का तात्पर्य है।

(९०) अब आप ही श्रुति मूर्त-अमूर्त दोनों ब्रह्म के रूप वर्णन करके उनका निषेध करती और इस साक्षी चेतन निराकार और निर्गुण का उपदेश करती है कि इसके पश्चात् यह उपदेश है "नेति, नेति अर्थात् यह नहीं यह नहीं," बरन् मूर्त अमूर्त से परे सत्य है जो क्यों-क्या से रहित अर्थात् निर्विवाद है, और ये सब उसी के कल्पित नाम-रूप हैं, निजी नहीं। इस लिये वह सत का भी सत है। प्राण वास्तव में सत हैं, जो हिरण्य गर्भ अर्थात् ईश्वर है, और वह (आत्म तत्त्व) इसका भी सत है। यही उसकी उपनिषद् है।

(९१) श्रुति का अभिप्राय यही है कि सर्व-साधारण लोग मूर्त को मरने वाला देखते हैं, इसलिये उस का रूप नहीं मानते, परंतु अमूर्त करने की आत्मा (अर्थात् प्राण) को अमर जानते हैं, उसे ब्रह्म का रूप स्वाभाविक रीति से ख्याल करते हैं, इसी कारण सर्व साधारण मध्यं श्रेणी के बुद्धिमान् लोग श्रद्धा रखते हैं कि जो सब कुछ करता, सर्वज्ञ, अमूर्त है, वह सत है।

(९२) परंतु सिद्ध किया गया है कि वह जो करने की आत्मा सर्वज्ञ, सब कुछ करती है, हिरण्यगर्भ है, और वह इन्हीं पँच भूतों अर्थात् तत्वों का सार है, जैसे मूर्त भी इन्हीं पँच भूतों का सार है। जिस प्रकार वह भी नाम-रूप से कल्पित उस की उपाधि होती है, और उसी की उपाधि के कारण से वह अव्यक्त सब कुछ करता सब कुछ जानता सर्वज्ञ अमूर्त

निश्चित होता है, वैसे ही यह मूर्त उपाधि में परिच्छिन्न हुआ भी शरीर वाला अल्पज्ञ जीव या मनुष्य होता है।

(९३) किंतु वास्तव में क्या मूर्त क्या अमूर्त क्या मर क्या अमर होना दोनों भिन्न तत्त्वों के धर्म हैं, और क्या समझें क्या बुद्धियाँ उन्हीं की वासना उन्हीं की सार हैं, जो एकत्रित होकर अंतः करण या हिरण्यगर्भ कहलाती हैं। और सब संभव सत (अर्थात् सद् सत्) हैं, उचित सत (अर्थात् वास्तव में सत) नहीं। वह मूर्त उपाधियाँ तो नियत समय तक सत हैं, ये अमूर्त उपाधियाँ आत्म-साक्षात्कार तक सत हैं, क्योंकि साक्षात्कार के पश्चात् क्या मूर्त क्या अमूर्त सब मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। इस लिये वह सब वास्तव में सत नहीं, वरन् सत वही है जो इन सब के निषेध से शेष रहता है और कोई भी गुण नहीं रखता। उसे सृष्टा, या पालन कर्त्ता, या सर्व-शक्तिमान, या सर्वज्ञ, इन गुणों से भी बद्ध या नियत करना भूल है, क्योंकि ये सब गुण या रूप अपने से भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म हैं जो उसमें कल्पित हैं।

(९४) जब वह किसी गुण से भी गुणी नहीं और किसी नाम से भी नामी नहीं, इसलिये वाणी, बुद्धि और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)। अतः आवश्यक है कि उसे नाम-रूप, मूर्त अमूर्त में पहचानते हुए उन उपाधियों का ऐसे निषेध करें, कि न तो वह नाम है न रूप है, न मूर्त है न अमूर्त है, न सर्वज्ञ न अल्पज्ञ है, सब के निषेध का शेष है। यही सत्य है और यही हमारा आत्मा है और यही विधि उस के ठीक पहचानने की है। इसलिये मूर्त अमूर्त ब्राह्मण ने क्या मूर्त क्या अमूर्त सब उसी के रूप वर्णन करके फिर "यह नहीं, यह नहीं" (नेति नेति), वरन् इन सब से परे, मूर्त रहित, अमूर्त, सब का आत्मा सिद्ध किया है। यही

सिद्धांत है. और यही उपनिषद् है। वह जो इस तरह इसे अपना आत्मा, सब का निषेध करके शेष संग्रह वा अवशिष्ट जानता है. वही ज्ञानी और वही सच्चा है।

(६५) वह जो उसे मूर्त वाला जानता है, किसी हेतु से सच्चा है और किसी हेतु से झूठा है, वह भी जो उसे अमूर्त जानता है और सर्वज्ञ मानता है, उसी तरह किसी हेतु से सच्चा है और किसी हेतु से झूठा है, क्योंकि ये सब उपाधियों में फँसते भूलते भटकते हैं। कुछ बन्धन और उपाधियाँ उस की स्थूल मूर्तमात्र हैं, और कुछ बन्धन तथा उपाधियाँ उस की सूक्ष्म अमूर्तमात्र हैं। क्या मूर्त उपाधियों में क्या अमूर्त उपा॰धियों में सब में बद्ध का विश्वास आता है। उस के निर्गुण पद की समझ तो इसी तरह अध्यारोप अपवाद् न्याय वा अन्वय व्यतिरेक से होती है। इसलिए वह भी जो मूर्तवाला मानते हैं और वह भी जो अमूर्त वाला सर्वज्ञ सब का कर्त्ता-हर्ता मानते हैं, वास्तव में एक समान हैं।

(६६) यह पहली प्रकार के लोग तो उस के स्थूल प्रकाश (उपाधि) में भ्रांति रखते हैं, और ये दूसरी प्रकार के लोग उस के सूक्ष्म प्रकाश (उपाधि) में भरमते हैं, और अपनी-अपनी मति के अनुसार निश्चय करते संप्रदायियों के नियम से परस्पर झगड़ते हैं। वह जो उसे मूर्ति के तेज वा उपाधि में देखता और उपासना करता है, दूसरे उसे नास्तिक (काफर वा अनिश्वर वादी) वर्णन करते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। और ये दूसरे उसे अमूर्त उपाधि में सब का स्वामी हर्त्ता-कर्त्ता सर्वज्ञ मानते हैं, और बिना आलंबन के उपासना करते कहीं आकाशों पर दूर खयाल वा अनुमान करते हैं, और यों ही खयाली पलाओ पकाते अर्थात् कपोल कल्पना करते वायु को मुट्ठी में पकड़ना चाहते हैं, परंतु शोक, कि दोनों

उसे नहीं जानते।

(९७) प्रमाण और वेदों की दृष्टि से यही सत्य है कि क्या मूर्त क्या अमूर्त वह सब में सब कुछ है। और क्या मूर्त क्या अमूर्त सब से निर्लिप्त सब से परे है, या यों निश्चय करें कि "सब वही है" या यों निश्चय करें कि "मैं वही हूँ" यही उसकी पहचान और तत्त्व-ज्ञान है। इसी पहचान पर मुक्ति निर्भर है। भाषा जानने वालों को चाहिए कि पहले इसी निश्चय पर विश्वास लाएँ कि 'सब वही है' या 'मैं वही हूँ" फिर उस को अध्यारोप अपवाद न्याय से जैसा मूर्त अमूर्त ब्राह्मण में ढंग बतलाया गया है, उस का ज्ञान प्राप्त करे। और वह यही ढंग है कि सब नाम-रूप उस में कल्पित हैं, जो कुछ नाम या रूप या गुण या बुद्धि और चिन्तन में आवे, सब का निषेध वा अपवाद करता जाय। यह जो सब के निषेध या अपवाद के पश्चात् उन का अपवाद करने वाला आत्मा अपना आप है, वही शेष है, वही निर्विवाद निर्गुण रहेगा। क्योंकि जब सब गुण और 'क्यों क्या' का वह अपवाद कर लेगा, तो उस का अपना आप जिस ने सब का अपवाद किया है उस का निषेध नहीं हो सकता, वरन् वही शेष रह सकता है। उस समय "ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय प्राप्त हो सकता है।

(९८) किंतु जिस को यह "अहं ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय न प्राप्त हो, उस को चाहिए कि इस पर विश्वास अवश्य लाए, क्योंकि इसी विश्वास के कारण वह देवयान सड़क पर चलता ब्रह्मलोक जायगा, और स्वयं प्रजापति उसे शिक्षा देगा। और इसी विश्वास को साक्षात्कार का फल लगा देगा, और अपने साथ प्रसाद में प्रविष्ट कर लेगा। इस हेतु कि यही विश्वास वास्तव में आत्म-साक्षात्कार का बीज है, इसलिए जिस के पास बीज नहीं वह फल भी नहीं खा सकता।

इस प्रकार श्रद्धालू सविकल्प मुक्ति पा सकता है। किंतु वह जो विचार से और अध्यारोप-अपवाद न्याय से साक्षात्कार का फल पाता है, कैवल्य मुक्ति प्राप्त करता है और प्रसाद में प्रविष्ट होता है। उस के प्राण तो यहाँ ही मृत्यु के समय अपने आत्मा में लय हो जाते हैं, और समष्टि प्राण वायु की तरह भर जाते हैं। फिर तो पूर्ण शक्ति और पूर्ण बुद्धिमता देखता है। यही प्रसाद है।

(६३) वह जो ऐसा विश्वास नहीं पाते और साम्प्रदायिक पक्षपात से एक दूसरे को झुठलाते हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार काम करते और श्रुतियों के तात्पर्य को नहीं सोचते बरन् खींचातानी से उस के अर्थ कुछ के कुछ करते हैं, कदापि मुक्ति के अधिकारी नहीं, बरन् वह समस्त उपाधिवान् को जानते हैं और स्वयं उपाधिवान् अर्थात् बद्ध रहते हैं। क्योंकि "जैसी मति वैसी गति," यही वेदों का सिद्धांत है। यद्यपि मध्य श्रेणी के बुद्धिमान् सूक्ष्म उपाधियों (करने की आत्मा) को सत्य मानते हैं, और इस कारण कि वह उपाधियाँ अमूर्त हैं उन्हें निर्गुण बतलाते हैं, किंतु वह स्पष्ट भूल पर हैं, क्योंकि करने की आत्मा को भी जो व्याख्याएँ हैं उसी प्रकार की उपाधियाँ हैं जैसे मति की उपाधियाँ हैं। इसलिये भाषाविदों को उनकी संगति से बचना चाहिये, क्योंकि मूर्त के बंधनों वा उपाधियों का निषेध करना तो सहज होता है, पर अमूर्त उपाधियों का निषेध करना बहुत कठिन होता है। बरन् उस व्यक्ति को यदि कोई ज्ञानी जतलावे कि "वह तो कर्ता भी नहीं", तो वह इसे समझने और इस उपाधि के निषेध करने के स्थान पर लड़ने को उठता है और उसे नास्तिक कहता है। इसलिये सूक्ष्म उपाधियां स्थूल उपाधियों से कठिन तर हैं और साक्षात्कार का मार्ग रोकती हैं।

(१००) तो भी उसकी स्मृति, उसका भजन, उसकी पूजा उन्हीं उपाधियों में होती है, इसलिये भाषाविदों को चाहिये कि शास्त्र के अनुसार क्या मूर्त क्या अमूर्त सब में उसे स्मरण करता हुआ उन्हीं गुणों से जो सर्वज्ञ आदिक हैं प्रत्येक मूर्त अमूर्त में पूजा करे, और प्रर्थना करे कि "ऐ परमात्मदेव! अपने प्रसाद और अनुग्रह से हमारी अविद्या का परदा उठाओ और अपने प्रसाद में मिलाप दो, कि हम तेरी प्रतिष्ठा करें और तुम हमारी प्रतिष्ठा करो, जिस से मैं उसी तरह देखूं "जो तू है वही मैं हूँ"। और यही तेरा परमपद है और यही तेरी अभेदता है। और यही मेरी मुक्ति और यही मेरा प्रसाद में प्रविष्ट होना है।" वह जो कोई अपनी मन मानी पूजा या बंदगी का विधान ठहराता है, अपनी आयु नष्ट करता है, कुछ भी अंत में प्राप्त नहीं होता। इसलिये वेदों के अनुसार उसे कर्म और उपासना करनी चाहिए जिस में फल भी नियत है और भीतर (अन्तःकरण) की शुद्धि भी नियत है। पाश्चात्य विचारों पर उसे नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वह स्वयं देहाभिमानी विरेचन के शिष्य हैं, और उनका अंतिम परिणाम शुभ नहीं।

तीसरा अध्याय।

(१) हम इस पहचान को उदाहरण की रीति से सुगम करते हैं, क्योंकि भाषाविद् जब तक इस करने की आत्मा और देखने की आत्मा में अंतर नहीं करेगा, तब तक मोक्ष नहीं पावेगा। बरन् सब से कठिन यही है कि करने की आत्मा से देखने की आत्मा अलग करके अपना आत्मा साक्षी जाने और स्वयं पूर्ण ज्ञान के कारण असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता, द्रष्टा हो कर जगत् में रहे। यही जीवन मुक्ति है।

(२) जितने शरीर अर्थात् मूर्तियाँ हैं, ये तो पुतलियाँ हैं, और करने की आत्मा (प्राण) पतले धागे या तार के समान है जिस से वह बाँधी गई हैं। देखने की आत्मा अभिनय (तमाशा) करने वाले (पुतलीगर) के समान है, जो तार के द्वारा उन्हें नचाता-टपाता है। जिस प्रकार पुतलियों का तमाशा करने वाला आप परदे के भीतर होता है, उसी तरह यह साक्षी आत्मा भी, जो देखने की आत्मा है, परदे के भीतर वरन उन्हीं पुतलियों और तारों के भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित करता है, और शरीर तथा शरीरधारी उसी प्रेरणा से विचित्र तमाशा करते हैं, जिस में बुद्धिमानों की बुद्धि विस्मित (दंग) है।

(२) पुतलीगर की अपेक्षा यह आश्चर्य बढ़ कर है कि वह आप ही तमाशा देखता है और आप ही उन्हें प्रेरित करता है। वरन् पुतलीगर तो आप चेष्टा करता तारों को हिलाता और नचाता है, ये स्वयं तो निश्चेष्ट चुंबक के समान है और उन्हें उसी तरह प्रेरित करता है जिस तरह चुंबक भी लोहे को प्रेरित करता है। और चुंबक तो जड़ है, यह चेतन है, इसलिये कर्ता भी यही निश्चित होता है, वास्तव में कुछ नहीं करता।

(४) पुतली वाला जिस प्रकार सूक्ष्म तारों को पुतली के प्रत्येक अंग में बाँधता है और तमाशे के समय जिस २ अंग को हिलाना चाहता है, हिलाता है। उसी तरह मूर्तियों के एक २ नस नाड़ी और अंग में करने की अत्मा की गाँठ (गिरह) वा ग्रन्थी) बांधी गई है और उन्हें अपने शासन वा प्रबन्ध से चेष्टा-वान करता जिस २ अंग विशेष से जो २ काम लेना अपेक्षित है बराबर काम लेता है।

(५) देखो हम हाथ को चाहे ढोल के आकार में करें चाहे बिगुल के आकार में, चाहे तमाचा करें चाहे मुक्का, परंतु इसी करने की आत्मा की गिरहों (ग्रन्थियों) से कर सकते हैं। इसी

तरह पाँव चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, कभी नाचते हैं, कभी कूदते हैं, कभी लड़ते, कभी कुश्ती करते हैं, और फिर एक दूसरे अपने आपको बचाते दूसरों को पछाड़ते हैं, और विचित्र विचित्र तमाशा करते हैं, पर यह तमाशा इसी करने की आत्मा के प्रबंध (इन्तज़ाम) से होता है।

(६) [illegible] करने की आत्मा [illegible] पड़ता है, [illegible] और [illegible] को [illegible] शरीर [illegible] प्रति [illegible] इसी [illegible] भी पुत [illegible]

([illegible]) [illegible] शरीरों के [illegible] हैं उसी तरह करने की आत्मा के भीतर देखने की आत्मा रक्खी गई है, जो उसे व्यापार में प्रेरित करती और इन्द्रियों के द्वारा उसे देखती है। इस तार को जो करने की आत्मा है वेदविद् ब्राह्मण सूत्रात्मा बोलते हैं, और इस देखने की आत्मा को सूत्रधारी, क्योंकि संस्कृत में सूत्र के अर्थ तार के हैं और सूत्रधारी का अर्थ तार वाले के हैं। परंतु इस कारण कि यह सूत्रधारी मूर्तियों वरन् तारों के भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित वा चेष्टावान् करता है, इसलिये अंतर्यामी भी इसका नाम करते हैं, क्योंकि प्रत्येक के भीतर प्रविष्ट हो कर जो उन्हें व्यापार में अनुशासित करता हो, वही संस्कृत भाषा में अंतर्यामी कहलाता है।

(८) यह देखने की आत्मा जो करने की आत्मा के भीतर केवल ज्योति है न तो कोई रूप रखती है न चेष्टा। किंतु इस

हेतु कि करने की आत्मा की चेष्टाएँ और शरीरों की आकृतियाँ इसी की चेष्टाएँ और आकृतियाँ निश्चित होती हैं, इसलिये सर्व-साधारण लोग इस करने की आत्मा को विना क्यों क्या के (अर्थात् निर्विवाद) आत्मा निश्चित करते हैं, किंतु जब वह विवेक से शरीरों और करने की आत्माओं को पुतलियों और तारों के समान अपने आप से भिन्न जानते हैं और उसी तरह उन को अपने शासन में देखते हैं जिस तरह पुतलियाँ और तारें भी पुतली वाले के हाथ में तमाशे के समय होती हैं, और निश्चय करते हैं कि "मैं ज्योति हूँ", "मैं साक्षी हूँ", "मैं सत्य हूँ", "यह सब अभिनय मेरे अनुशासन में होता है", तो यही साक्षात्कार है और यही जीवन मुक्ति है। क्योंकि जब तक यह इस प्रकार अन्तर करके अपने आत्मा को नहीं जानता, बरन् अपने आप को शरीर अर्थात् मूर्त-मात्र जानता है, तो उन्हीं करने की आत्माओं की तारों में बंधा हुआ है, मुक्ति नहीं पाता। परंतु जब उस ने अपने सूत्रधारी आत्मा अंतर्यामी को विवेक से जान लिया कि "यह मैं हूँ", तो शरीर तो पूर्ववत् उन्हीं तारों के बंधन में बद्ध रहता है, किंतु यह तो सूत्रधारी पूर्ण मुक्त होता उन का द्रष्टा हो जाता है। यही जीवन मुक्ति है, जो ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार से मिलती है।

(६) मुक्ति का अर्थ बंधन से निकलना है। वह जो बंधन को नहीं जानते मुक्ति की आशाएँ व्यर्थ करते हैं। प्रायः विद्वानों को हम यह निश्चय करते देखते हैं कि हम को हमारे पेशवाओं (गुरुओं वा नेताओं) की शफ़ाअत (माध्यस्थ) से मुक्ति मिलेगी। किंतु जब हम प्रश्न करते हैं कि तुम्हें बंधन क्या हैं जिस से मुक्ति माँगते हो? तो यही कहते हैं कि हम बंदा आजिज़ (अधम पतित दास) हैं, हम बंधनों को भी नहीं जानते। तो हम आश्चर्य करते हैं कि वह स्वयं बंध को नहीं जानते, मोक्ष कैसे माँगते हैं!

(१०) बंध तो वहाँ यही है कि जो शरीर मूर्तिमात्र, इन तारों में जो करने की आत्मा है, बंधा हुआ है, और आत्मा का जब तक विवेक नहीं तब तक अहंता की स्वाभाविक प्रतीति शरीर में उसे हो रही है। जब इन उपाधियों वा बंधनों में शरीर नाचता है, तो यह भी भ्रमता है कि "मैं नाचता हूँ", उस के दुख-सुख भूख प्यास को अपने दुख-सुख भूख-प्यास निश्चित करता है। यही अविवेक इस के बंधन का कारण है। किंतु जब यह इस प्रकार सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी आत्मा का विवेक पाता है, तो जीवन मुक्ति पाता है।

(११) अधिकतर ख़राबी अविद्या की यह है कि अनजान मनुष्य इतना ही विचार नहीं करता कि "मैं शरीर हूँ", बरन् करने की आत्माओं को, जो तारों के समान जड़ हैं और संसार के भीतर सब में सब कुछ करती हैं, ईश्वर सर्व शक्तिमान् मानता है और अपने आप को जो शरीर मानता है, उस के हाथ में विवश देखना उस का बँधा हुआ होना है, यद्यपि ये करने की आत्माएँ भी तारों के समान जड़ हैं। बिना असली आत्मा के जो अंतर्यामी है वे गति नहीं कर सकतीं।

(१२) विचित्रतम बात यह भी हुई है कि इसी के अनुशासन से इसी के पहले जन्म के कर्म जो आरंभ संकल्प में इसी की भावना के अनुसार भोग देने के लिये उदय हुए थे, उन तारों के हिलाने में नियत हुए हैं। इसी के शासन और प्रेरणा से और इसी के कर्मों की जाँच परताल से वह सुख-दुख के भोग का अभिनय करते हैं, और यह इस क्षुद्र मानवी संकल्प से दुःखों को दूर करना चाहता है, पर वे दूर नहीं होते, इसलिये विवश देखता दीन बनता है। यही इस की माया है। परंतु जब यह अपने आत्मा को जो अन्तर्यामी है, दरियाफ़्त करता और पहचानता है, तो देह के अभिमान को छोड़ता अंतर्यामी के

अभिमान को पा लेता है, और भोग समाप्त होने तक यद्यपि नियत समय तक शरीर के बंधन के कारण अनात्म दुख सुख भी अपने अङ्गों में देखता है, किंतु अपने में नहीं देखता, इस लिये जीवन मुक्ति पाता है। परन्तु जब भोगों के कर्म समाप्त होते हैं, तो देह के दूर होते सब में सब कुछ होता पूरा-पूरा अंतर्यामी को अपना आप देखता है, और माया का स्वामी होता सत्य संकल्प होता है। यही इस पहचान से प्रसाद मिलता है।

(१३) जब तक यह इस सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी का विवेक नहीं करता तब तक मुक्ति नहीं पाता है, चाहे लाखों पूजा, उपासनाएं और पुण्यकर्म करे। क्योंकि कर्म तो मजदूरी है, जितनी ही मज़दूरी करता है, उतनी ही सुखों के भोगों की मजूरी (वृत्ति) पाता है, जो अन्त में समाप्त हो जाती है, और फिर इसी तरह संसार चक्र में चकराता है।

(१४) यह न मान लेना चाहिए कि यह हमारी कपोल कल्पना है। वरन् इस अंतर्यामी और सूत्र-आत्मा का विवेक अंतर्यामी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मुनि ने कर दिखाया है ; क्योंकि* हम मुनि कांड में सुनते हैं कि राजा जनक की सभा में उद्दालक आरुणी ऋषि ने याज्ञवल्क्य मुनि से कहा कि ऐ याज्ञवल्क्य ! हम मद्र देश पतंचल काप्य ऋषि के घर में यज्ञ शास्त्र की शिक्षा पाते थे, उस की एक ब्राह्मणी गंधर्व के वश में आई हुई थी। और यह हमने उस से एक बार पूछा—तू कौन है जो इस स्त्री में होकर बोलता है ?

(१५) उस ने उत्तर दिया कि मैं कबन्ध आथर्वण गंधर्व हूँ। वेद के सूक्ष्म तत्व की शिक्षा के लिये इस स्त्री में उतरता हूँ। मुझ से कुछ आध्यात्मिक विषयों में लाभ उठाया करो। फिर उसने अपने आप पतंचल काप्य से कहा कि तू सूत्रात्मा

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद तीसरा अध्याय सातवां ब्राह्मण।

को जानता है जिस सूत्र में यह लोक परलोक सब भूत बँधे हुए हैं। पतंचल काप्य ने कहा कि मैं तो केवल यज्ञ-शास्त्र को जानता हूँ, सूत्र-आत्मा को नहीं जानता।

(१६) फिर उसने पतंचल काप्य और हम सब से कहा कि तुम अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक परलोक और सब भूतों को उन के भीतर छिप कर प्रेरणा करता है? तब पतंचल काप्य ने कहा: मैं उस को भी नहीं जानता। फिर उसने कहा कि आचार्यो जो कोई इस सूत्रात्मा और इस अंतर्यामी को जानता है, वही ब्रह्म का जानने वाला होता है, वही लोक-परलोक के जानने वाला होता है, वही देवताओं के जानने वाला होता है, और वही आत्मा के जानने वाला होता है, वस्तु वही सब कुछ जानता है।

(१७) वह जो इस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को नहीं जानता, यद्यपि सन्ध्या विद्या रखता है, तो भी कुछ नहीं जानता। चाहे कोई ज्ञान का तो दावा करे परंतु इस करने की आत्मा व देखने की आत्मा को पृथक् करके न जाने जो सूत्र आत्मा और अंतर्यामी है, तो ज्ञान के क्षेत्र में झूठा ताल ठोंकने वाला गपोड़ा है। ज्ञानी की यही चिन्ह है कि शिष्य को इस करने की आत्मा व देखने की आत्मा का अन्वयव्यतिरेक करके दिखला दे। जब तक वह ऐसा न कर सके, तो गप मारता है, नहीं जानता।

(१८) फिर उसने हम को सूत्रात्मा जो करने की आत्मा है और अंतर्यामी जो देखने की आत्मा है भिन्न करके समझा दिया था। ऐ याज्ञवल्क्य! यदि तू उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता है तो निस्संदेह यज्ञ की सब गाएं ले जाना तुझे उचित है। यदि नहीं जानता, तो देख, तू यों ही ज्ञान का दावा करता और गाएँ ले जाता है, तेरा शिर गिर जाय गा, जो आकाशीय शिर है।

(१९) याज्ञवल्क्य ने कहा—ऐ गौतम! मैं निश्चय कर के

उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता हूँ। इसलिए यश की गाएँ ले जाता हूँ। मेरा शिर कदापि नहीं गिर सकता। तब उद्दालक बोला—यों ही जिह्वा से कहना कि "मैं सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता हूँ" ठीक नहीं हो सकता, जब तक कि तू हमको अपनी सुन्दर वाणी से न समझा दे। यदि तू जानता है, तो इस सभा में हम को स्पष्ट बतला।

(२०) तब याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि वायु का सार जो करने की आत्मा है, वही सूत्रात्मा है, जो पुतलियों के तार के समान है, और इसी तार में यह लोक परलोक सब भूत उसी तरह बँधे हुए हैं जिस तरह पुतलियाँ भी तार से बँधी हुई होती हैं। जब साँस (प्राण) चले जाते हैं, तो यह तार खुल जाती है। इसी कारण मृतक का अंग-अंग फूल जाता है और खंड-खंड हो जाता है। जब तक यह तार बँधी रहती है, तब तक खंड-खंड नहीं होता।

(२१) देखो, अग्नि स्वभावतः ऊपर को जाना चाहती है, वायु स्वभावतः इधर उधर चलना चाहती है, और पानी तथा मिट्टी नीचे को गिरना चाहते हैं, इनका एकत्रित होना कठिन है, तो भी इस सूत्रात्मा में सब बँधे हुए मनुष्य के शरीर में विवशतः इकट्ठे रहते हैं। जब यह सूत्र खुलता है, तो स्वभावत अपनी-अपनी असलियत में जाते और शव को छिन्न भिन्न करते हैं।

(२२) इस लिये यह सब इसी सूत्र में जो साँस है बँधे हुए एकत्रित रहते हैं। तब उद्दाल ने कहा, कि यह ही सत्य है। इसी तरह गंधर्व ने हमको सिखलाया था। अब अंतर्यामी को बतलाओ।

(२३) याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जो धरती के भीतर, धरती से शरीर वाला हुआ, धरती को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और धरती उसको नहीं जानती, यही तेरा आत्मा अंतर्यामी, अमृत है।

(२४) वह जो जलों के भीतर, जलों से शरीर वाला हुआ, जलों को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और जल उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२५) वह जो अग्नि के भीतर, अग्नि से शरीरी हुआ, अग्नि को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और अग्नि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२६) वह जो आकाश के भीतर, आकाश से शरीरी हुआ, अकाश को उस के बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और आकाश उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२७) वह जो वायु के भीतर, वायु से शरीरा हुआ, वायु को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वायु उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२८) वह जो देवलोक के भीतर, देवलोक से शरीरी हुआ, देवलोक को उसके वर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और देव-लोक उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(२९) वह जो सूर्य के भीतर, सूर्य से शरीर हुआ, सूर्य को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और सूर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३०) वह जो दिशाओं के भीतर, दिशाओं से शरीरी हुआ, दिशाओं को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और दिशाएँ उसके बर्ताव को नहीं जानतीं, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(३१) वह जो चन्द्र के भीतर, चन्द्र से शरीरी हुआ, चन्द्र को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और चन्द्र उसे नहीं, जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है

(३२) वह जो तारों के भीतर, तारों से शरीरी हुआ, तारों को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और तारे उसे नहीं

जानते वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(३३) वह जो अंतरिक्ष के भीतर, अन्तरिक्ष से शरीरी हुआ, अंतरिक्ष को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और अंतरिक्ष उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(३४) वह जो अंधेरों के [illegible] अंधेरों से शरीरी हुआ, अंधेरों को उनके बर्ताव के [illegible] प्रेरित करता है, [illegible] उसे नहीं जानते, [illegible] अमृत है ।

(३५) [illegible] शरीरी हुआ [illegible] उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता [illegible] जानता वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(३६) [illegible] प्रेरित [illegible] वही तेरा आत्मा [illegible] अमृत है [illegible] में अन्तर्यामिता) है [illegible] अन्तर्यामिता कहते हैं ।

(३७) [illegible] से शरीरी हुआ [illegible] को [illegible] प्रेरित करता है और [illegible] तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(३८) वह जो प्राणों के भीतर, प्राणों से शरीरी हुआ, प्राणों को उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और प्राण उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(३९) वह जो वाणी के भीतर, वाणी से शरीरी हुआ, वाणी को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वाणी उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

(४०) वह जो आँख के भीतर, आँख से शरीरी हुआ, आँख को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और आँख उसे नहीं

जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(५१) यह जो कानों के भीतर, कानों से शरीरी हुआ, कानों का उनके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और कान उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(५२) वह जो मन के भीतर, मन से शरीरी हुआ, मन को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और मन उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(५३) वह जो त्वचा के भीतर, त्वचा से शरीरी हुआ, त्वचा इन्द्रिय को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और त्वचा उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(५४) वह जो बुद्धि के भीतर, बुद्धि से शरीरी हुआ, बुद्धि को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और बुद्धि उसे नहीं जानती वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

(५५) वह जो वीर्य के भीतर, वीर्य से शरीरी हुआ, वीर्य को उसके बर्ताव के लिये प्रेरित करता है, और वीर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। वह आप दिखाई नहीं देता, वरन सब का देखने वाला है। वह आप सुनाई नहीं देता, वरन सब का सुनने वाला है। वह सोचा नहीं जाता, वरन सब का सोचने वाला है। वह आप पहचाना नहीं जाता, वरन सब का पहचानने वाला है। वह आप जाना नहीं जाता, वरन सबका जानने वाला है।

(५६) निदान, बिना उसके न कोई देखने वाला है, न कोई सुनने वाला है, न कोई सोचने वाला है, न कोई जानने वाला है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। बिना उसके सब मिथ्या हैं, और सब उसी के देखने मात्र आभास हैं। तब उद्दालक मौन हुआ और संतोष को प्राप्त हुआ। जो कुछ गंधर्व ने सिखलाया था, वही याज्ञवल्क्य ने विवेक कर दिखलाया॥ ॐ शम्॥

रजिस्टर्ड ग्राहक होने के नियम ।

१—रजिस्टर्ड ग्राहक होने का शुल्क १) रुपया है ।

२—जो सज्जन अपना नाम रजिस्टर्ड ग्राहक की श्रेणी में लिखा लेंगे उनको प्रति पुस्तक के छपने पर सूचना भेजी जायगी ।

३—यदि वे ऐसी नवीन छपी पुस्तक मँगाना स्वीकार करेंगे, तो उन्हें २५) सैकड़ा कमीशन पर मिलेगी ।

४—इन्हें स्वामी रामतीर्थ की ग्रन्थावली का प्रत्येक भाग भी खण्ड के रेट से मिलेगा, अर्थात् साधारण संस्करण केवल ॥) में और विशेष संस्करण ॥।) में ।

बिक्री के नियम ।

(१) ग्राहकों से सविनय निवेदन है कि आर्डर लिखने के समय यह ध्यान रक्खें कि लिखावट साफ़ साफ़ हो । अपना नाम, गाँव, पोस्ट और ज़िला साफ़-साफ़ हिन्दी या अँगरेज़ी में लिखना चाहिए जिससे माल भेजने में दुबारा पूछ-ताछ करने की ज़रूरत न पड़े ।

(२) जो ज़ियादा माल मँगाना चाहें, वे कृपा कर रेलवे-स्टेशन, जो नज़दीक हो वही लिख दें, जिससे माल रेल में भेज कर रेलवे-रसीद की वी० पी० कर दी जाय ।

(३) अधिक माल मँगाने वाले जो महाशय नया आर्डर भेजें वे कृपाकर ५) रु० पेशगी भेज दें जिस से माल भेजने में रुकावट न हो । बिना पेशगी पाए माल न भेजा जायगा ।

(४) एक एक पुस्तक के कई कई संस्करण रहते हैं, इस लिए आर्डर भेजते समय ग्राहकों को चाहिए कि जिस संस्करण की उनको आवश्यकता हो उसको साफ़ साफ़ लिखदें ।

१--श्रीराम तीर्थ ग्रन्थावली।

अर्थात्

परमहंस स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के

हिन्दी भाषा में समग्र उपदेश व लेख जो २८ भागों में विभक्त हैं, और जो चार २ भागों के खण्डों में भी मिल सकते हैं।

मूल्य समग्र भागों का।

साधारण संस्करण कागजी जिल्द मामूली कागज़ १३)

विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ २०)

चार भागों के एक खंड का मूल्य

साधारण संस्करण कागज़ी जिल्द मामूली कागज़ २)

विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द बढ़िया कागज़ ३)

मूल्य फुटकर भाग साधारण सं० ॥-) विशेष सं० ॥।=)

डाक इत्यादि सब खर्च ग्राहक के ज़िम्मे होगा।

(२) रामपत्र।

(अर्थात् ग्रंथावली भाग १७ वां १८ वां)

जो लोग ग्रन्थावली के सब खण्ड नहीं मँगवा सकते, वह इस पुस्तक को अवश्य मँगा कर देखें। इसके पढ़ने से पता चलेगा कि श्री स्वामी जी महाराज को बचपन से ही अपने पथदर्शक (गुरु जी) में कितनी असीम श्रद्धा और अगाध भक्ति थी। स्वामी जी की छात्र-अवस्था के पत्र वर्तमान छात्रों के लिये विशेष उपयोगी हैं। स्वामीजी ने जो पत्र संन्यासाश्रम में अपने अनेक प्रेमियों को लिखे थे वे भी इस पुस्तक में दर्ज हैं। छपाई उत्तम है और पुस्तक तीन चित्रों से सुसज्जित है।

मूल्य साधारण संस्करण बिना जिल्द १)

विशेष संस्करण सजिल्द १॥)

(३) राम वर्षा।

(अर्थात् ग्रन्थावली के भाग ७, ८, ९)

भजन के प्रेमियों के लिये राम भगवान् की नोटबुकों में पाये हुए जो भजन नौ अध्यायों में विभक्त और ग्रन्थावली के तीन भागों में छपे थे. उन्हें एक जिल्द में कर दिया गया है।

इन भजनों को गाने पढ़ने और श्रवण करने से निज स्वरूप का श्रवण मनन और निदिध्यासन भली प्रकार हो जाता है।

मूल्य सम्पूर्ण राम वर्षा सजिल्द केवल ४) रु०

(४) रामहृदय।

(अर्थात् ग्रन्थावली भाग २८ वां)

अनेक रामप्रेमियों के आग्रह पर अंग्रेज़ी में जो छोटी सी पुस्तक हार्ट ऑफ़ राम के नाम से श्रीमान आर० एस० नारायण स्वामी द्वारा रची गई थी. उसका शुद्ध अनुवाद हिन्दी में किया गया है। मूल्य साधारण सं० ॥) विशेष सं० १) रु०

(५) राम जीवनी।

श्री स्वामी रामतीर्थ जी महाराज की संक्षिप्त जीवनी लिखी गई है। उक्त स्वामी जी के विषय में आवश्यक सब हाल मौजूद है। जिन्होंने राम बादशाह के लेख इत्यादि नहीं पढ़े, वे इस पुस्तक को तो अवश्य पढ़ें। मूल्य केवल ।)

(६) श्रीमद्भगवद्गीता।

ब्रह्मलीन श्री स्वामी रामतीर्थ जी महाराज के पट्ट शिष्य श्रीमान् आर० एस० नारायण स्वामी जी द्वारा व्याख्या की हुई।

प्रथम भाग—अध्याय ६ पृष्ठ संख्या ८३२।

मूल्यः—साधारण संस्करण २) रु० विशेष संस्करण ३) रु०

इस अमूल्य व्याख्या पर "सरस्वती" का मत है कि,

"स्वामी जी ने इस गीता संस्करण को अनेक प्रकार से अलंकृत करने की चेष्टा की है। पहले मूल, उसके बाद अन्वयांकानुसार प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। उसके बाद अन्वयार्थ और व्याख्या है। इसके सिवा जगह २ पर टिप्पणियाँ दी गई हैं जो बड़े महत्व की हैं। बीच २ में जहाँ मूल का विषयान्तर होता दिखाई पड़ा है, वहाँ सम्बन्धिनी व्याख्या लिख कर विषय का मेल मिला दिया गया है। स्वामीजी ने एक बात और भी की है। आप ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस का संक्षिप्त सार भी लिख दिया है। इस से साधारण लिखे पढ़े लोगों का बहुत हित साधन हुआ है। मतलब यह है कि, क्या बहुत और क्या अल्पज्ञ दोनों के संतोष का साधन स्वामी जी के इस संस्करण में विद्यमान है। गीता का सरलार्थ व्यक्त करने में जो आपने कसर नहीं उठा रक्खी।"

स्वामी रामतीर्थ के चित्र व फ़ोटो।

राम तथा उनके गुरू और सहायक के छपे चित्र मूल्य प्रति कापी -) और दस कापी के दाम ॥)

स्वामी राम का बड़ा फ़ोटो आकार (१५×२० इञ्च) अनेक भेष व रूप में मूल्य प्रति फ़ोटो ५)

स्वामीजी का कैबिनेट साइज़ फ़ोटो भिन्न २ रूप व पृथक २ दशा में मूल्य प्रत्येक फ़ोटो १)

बटन फ़ोटो ॥)

अन्य प्रकाशकों के ग्रन्थ।

(१) अमृत की कुञ्जी अर्थात् "ज्ञान कहानी"

इस पुस्तक में पांचों शत्रु (काम क्रोधादि) से बचने का सुगम मार्ग दर्शाया है। अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल -)

(२) साधन संग्रह।

यह पुस्तक श्री पण्डित भवानीशंकर जी के उपदेश के आधार पर लिखी गई है। इसके प्रकरण ये हैं। १ धर्म, २ कर्म, ३ कर्मयोग ४ अभ्यासयोग ५ ज्ञानयोग और ६ भक्तियोग।

—:o:—

(३) शान्तिप्रकाश।

यह अनोखी पुस्तक हिन्दी पद्य में पुरुषार्थ, परोपकार, प्रेम व ज्ञान पर लिखी हुई है। लग भग २०० पृष्ठ हैं। मूल्य केवल ॥)

स्वामीसत्यदेव जी परिव्राजक की पुस्तकें।

१—श्री सत्यग्रन्थ माला।

(१) अमरीका पथ प्रदर्शक ॥), (२) अमरीका दिग्दर्शन १)
(३) अमरीका के विद्यार्थी।), (४) अमरीका भ्रमण ॥=)
(५) मनुष्य के अधिकार।≡), (६) सत्य निबंधावली।=)
(७) शिक्षा का आदर्श।-), (८) कैलाश यात्रा।॥)
(९) राजर्षि भीष्म।), (१०) आश्चर्य जनक घंटी।=)
(११) संजीवनी बूटी ॥), (१२) लेखन कला ॥)

२—श्रीबुद्धगीता ॥।)
३—हमारी सदियों की गुलामी के कारण =)
४—असहयोग ≡)
५—सङ्गठन का बिगुल ॥)

र ग्रन्थमाला की पुस्तकें।

ा के प्रसिद्ध योगी रामाचरक

की

बन्धी अत्युत्तम और उपयोगी अंग्रेज़ी पुस्तकों का अनुवाद (जो ठाकुर प्रसिद्ध नारायण द्वारा अनुवादित और प्रकाशित है)

(१)	श्वास विज्ञान (अर्थात् प्राणायाम)	मूल्य)
(२)	हठयोग अर्थात् शारीरिक कल्याण।	१॥(
(३)	योग शास्त्रान्तर्गत धर्म।	॥)
(४)	योगत्रयी (कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तिमार्ग)	॥)
(५)	राजयोग अर्थात् मानसिक विकास।	१॥)
(६)	योग की कुछ विभूतियाँ।	॥)
(७)	संसार रहस्य अथवा अधः पतन।	१॥)
(८)	सीधे पण्डित (एक दार्शनिक उपन्यास)	१॥)
(९)	जीवन मरण रहस्य	I=)
(१०)	कृषि सिद्धान्त	=)

उर्दू की पुस्तकें।

(जो लीग से मिल सकती हैं)

(१) कुल्लियाते—राम (अर्थात् स्वामी राम के उर्दू लेख) मूल्य सा० सं० १) वि० सं० १॥) रु०

(२) रामपत्र (स्वामी राम के पत्र) मूल्य ॥)

(३) राम जीवनी (संक्षिप्त) मू० सा० ।॥) वि० १)

(४) राम वर्षा सजिल्द ॥।)

(५) नूरे-ज़िन्दगी, पं० निर्मल चन्द्रकृत १)

(६) सभ्यता परिवर्तन ।)
(७) वेदानुबचन बाबा नगीनासिंह कृत म०

—:o:

अंग्रेज़ी पुस्तकें।

१—स्वामी रामतीर्थ जी के अंग्रेज़ी ग्रन्थ (In woods of God-realization) चार जिल्दों में । मूल्य प्रत्येक जिल्द २) रु०
२—राम हृदय (Heart of Rama) मूल्य साधारण संस्करण ॥) विं० संस्करण १)
३—रामपद्य (Poems of Rama) मूल्य सा० संस्करण ॥) वि० संस्करण १)
४—गणित पर लेख (Mathematics) श्री० श्रीपतराम शर्मा कृत मूल्य ।॥)
५—रामजीवनी (Biography of Rama) मूल्य ॥।)
६—रामकथा (Story of Rama) श्रीयुत सरदार पूर्णसिंह कृत मूल्य १)
७—व्यावहारिक गीता बा० नारायण-स्वरूप कृत मूल्य, सा० सं० ।) वि० सं० ॥)
८—धर्म और सिडीशन-मूल्य ।)

इनके अतिरिक्त अन्य उत्तम २ ग्रन्थ जो गणेश एंड कम्पनी मद्रास में छपते हैं यहाँ से मिलते हैं बड़ा सूचीपत्र मँगाकर देखिये ।

मैनेजर

श्री रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

लखनऊ ।